मुद्रक और प्रकाशक
जीवणजी डाह्याभाई देसाई
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद-१४

पहली आवृत्ति ३०००, १९५६
पुनर्मुद्रण ३०००

रु. २.५०

अगस्त, १९६४

प्रकाशकका निवेदन

गुजरातके और सारे भारतके एक श्रेष्ठ मौलिक विचारक, चिन्तक और लेखक स्व० श्री किशोरलाल मशरूवालाकी सर्वोत्तम रचना 'जीवन-शोधन' के बाद हमे अपने हिन्दी पाठकोके सामने उनकी यह दूसरी उतनी ही मौलिक और क्रान्तिकारी रचना 'ससार और धर्म' प्रस्तुत करते हुए बडा हर्ष होता है। श्री केदारनाथजी द्वारा 'जीवन-शोधन' के बारेमे कहे हुए ये शब्द इस पुस्तकके विषयमे भी सोलहो आने सत्य है· "इस पुस्तकमे विवेक, सत्त्व-सशुद्धि, प्रामाणिकता, सत्यज्ञानके लिए उत्कठा, समाजके हित-साधनकी भावना, कर्तव्य-पालन, सयम, निष्कामता, पवित्रता आदि दैवी गुणोके उत्कर्ष पर बहुत भार दिया गया है।"

पुस्तकमे स्व० किशोरलालभाईके समय-समय पर लिखे गये लेखो और कुछ भाषणोका सग्रह किया गया है। कुछ लेख तो लेखकने हिन्दीमे ही लिखे थे, जो 'सर्वोदय', 'हरिजनसेवक' वगैरा हिन्दी पत्रोसे ही लिये गये है।

पुस्तककी विशेषताके बारेमे प० सुखलालजीने अपनी 'विचार-कणिका' मे विस्तारसे चर्चा की है। उसमे एक स्थान पर वे लिखते है: "ये लेख इतने गभीर और सूक्ष्म चिन्तनसे ओतप्रोत है कि उन्हे जितनी बार पढा जाय उतनी ही बार (यदि पाठक जिज्ञासु और समझ-दार हो तो) उनमे नवीनताका अनुभव होता है। और आवरणके स्थूल स्तरोके दूर होते ही एक प्रकारकी चैतसिक जागृति अनुभव होती है।"

इस पुस्तकका गुजरातीसे हिन्दी अनुवाद श्री महेन्द्रकुमार जैनने किया है। सारा अनुवाद और मूल हिन्दी लेख श्री किशोरलालभाई स्वयं देख गये है और उनमें कुछ सशोधन और परिवर्धन भी उन्होने किये है।

विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे सारी पुस्तकके प्रूफ श्री रमणीकलाल-भाई मोदी भी देख गये है। उन्होंने यहा-वहा जो कीमती सुधार सुझाये, उनके लिए हम श्री रमणीकलालभाईके आभारी है।

१५–६–'५६

प्रस्तावना

इस पुस्तकका लेखक यदि मै अकेला ही माना जाऊ, तो केवल निमित्त-कारणके अर्थमे ही। गुरुदेव परम पूज्य नाथजीने इसका 'पूर्ति' नामक भाग लिखकर इसके अलग-अलग लेखोको न केवल एक सूत्रमे गूथ दिया है, परन्तु उनमे पूर्णता भी ला दी है। और आदरणीय पडित सुखलालजीने अपनी 'विचार-कणिका' द्वारा उन्हे विशद और स्पष्ट किया है। इन विचारोमे जो भी विशिष्टता होगी उसका अधिकाश श्रेय पूज्य नाथजीको ही है। जिस समय मै 'सत्य क्या है?' की शोधमे लगा हुआ था और 'किस मार्गकी ओर जाना' की उलझनमे फसा हुआ था, उस समय उन्होने मुझे विचारोके अटपटे गली-कूचोसे बाहर निकालकर विचारोके सीधे मार्ग पर लगा दिया था। उससे जो परिणाम उत्पन्न होते गये, उन्हे मै समय-समय पर जनताके सामने रखता रहा हू।

जैसा कि पडितजीने अपनी 'विचार-कणिका' मे बताया है इस पुस्तकके बहुतसे लेख पहले (गुजराती और हिन्दी पत्र-पत्रिकाओमे) प्रकाशित हो चुके है। परन्तु पुस्तकके रूपमे प्रकाशित करते समय अपने विचारो और भाषाको फिरसे जाचनेकी और आवश्यक लगे तो उनमे सुधार करनेकी मेरी साधारण आदत रही है। इस प्रकार कुछ पुराने लेखोमे भी कही-कही छोटे-मोटे परिवर्तन मैने किये है।

इस पुस्तककी पाडुलिपि तैयार करने तथा प्रूफ सुधारनेका भार श्री रमणीकलाल मोदीने अपने सिर लेकर मेरा काम बहुत हलका कर दिया है। नवजीवन कार्यालयके प्रूफ पढनेवालोकी सहायता तो सदा ही मिलती रही है। इस तरह अनेक लोगोके सहयोगसे इस 'ससार और धर्म' पुस्तककी उत्पत्ति हुई है। और इसमे 'ईश्वर' तो अदृश्य रूपसे बीचमे रहा ही है। यही जीवनका नियम अथवा सत्य भी है। इन सबका मै ऋणी हू।*

वर्धा, ८–४–'४८ कि० घ० मशरूवाला

* मूल गुजराती पुस्तककी प्रस्तावना।

विचार-कणिका

प्रस्तुत पुस्तकमे अनेक लेखोका सग्रह है। इसमें श्रद्धेय मशरूवालाके तीस और पूज्य नाथजीके तीन — इस तरह कुल तैंतीस लेख है। तीन खण्डोमे बटे हुए तीस लेखोमे से तेईस लेख तो अलग अलग समयमे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमे प्रकाशित हो चुके है, जब कि सात लेख इसमे पहली ही बार प्रकाशित हो रहे है। चौथे खडमे श्री नाथजीकी पूर्तिके रूपमें दिये हुए अतिम तीन लेख भी पहली बार ही प्रकाशित हो रहे है। यद्यपि इस सग्रहके तेईस लेख दूसरी बार प्रकाशित हो रहे है, फिर भी जिन्होने ये लेख पढे होगे उनके लिए भी इनकी नवीनता बिलकुल कम नही होगी, ऐसा मै अपने अनुभवसे कह सकता हूं। लेख इतने गभीर तथा सूक्ष्म चिन्तनसे परिपूर्ण है कि उन्हे जितनी बार पढा जाय उतनी ही बार (यदि पढनेवाला जिज्ञासु और समझदार हो तो) उनमे नवीनताका अनुभव होता है, और आवरणके स्थूल स्तरोके दूर होते ही एक तरहकी चैतसिक जागृतिका अनुभव होता है। इसलिए वस्तुत सारा सग्रह नया ही है। कई लोग एक बार प्रकाशित हुए और पढे हुए लेखोको पुराने और बासी मानकर उनकी उपेक्षा करते है। उनकी यह मनोवृत्ति बिलकुल गलत तो नही है। परतु ये सब लेख ऐसे है, जो प्रात कालीन सूर्यकी तरह नित-नये लगनेवाले है।

गुजरातमे कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा नही होगा, जो श्री किशोरलालभाईको न जानता हो। गुजरातके बाहर भी सब प्रान्तोमें उनका नाम थोडे-बहुत अशमे प्रसिद्ध है। इसका मूल कारण उनके अनेक भाषाओमें लिखे हुए और अनुवादित लेखोका पठन-पाठन है और कुछ व्यक्तियो द्वारा साधा हुआ उनका प्रत्यक्ष समागम भी है। पू० नाथजीको जाननेवाला वर्ग अपेक्षाकृत छोटा है, क्योकि उन्होने बहुत कम लिखा है। और जो कुछ लिखा है वह भी पूरा प्रकाशित

नही हुआ है।* फिर भी जो वर्ग उन्हे जानता है, वह बिलकुल छोटा या साधारण कोटिका नही है। जो व्यक्ति पू० नाथजीके प्रत्यक्ष परिचयमे नही आया है, वह उनके सूक्ष्म, स्पष्ट, सयुक्तिक और मानवतापूर्ण विचारोकी कल्पना ही नही कर सकता।

तत्त्वके तलस्पर्शी चिंतन, जीवनके स्व-पर-लक्षी शोधन और मानवताकी सेवाके एक ही रगसे रगे हुए गुरु-शिष्यकी यह जोडी जो कुछ लिखती या बोलती है, वह अनुभवसिद्ध होनेके कारण प्रत्यक्ष कोटिका होता है। इसकी प्रतीति इस सग्रहके लेख पढनेवाले व्यक्तिको हुए बिना नही रहेगी। मैंने प्रस्तुत लेखोको एकाग्रतापूर्वक एकसे अधिक बार सुना है और कुछ अन्य सुप्रसिद्ध भारतीय तत्त्वचिंतकोके लेख भी सुने है। जब मै तटस्थ भावसे ऐसे चिंतन-प्रधान लेखोकी तुलना करता हू, तब मुझे नि शक रूपसे ऐसा लगता है कि इतना और ऐसा क्रान्तिकारी, सचोट और मौलिक विचार करनेवाले लोग भारतवर्षमे बिरले ही है।

सारे सग्रहको सुनने पर और उसके ऊपर अलग-अलग दृष्टिसे विचार करने पर मुझे इसकी अनेक प्रकारकी उपयोगिता मालूम हुई है। जहा देखो वहां साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक मानसवाले सभी समझदार लोगोकी यह माग है कि नयी पीढीको तत्त्व और धर्मके सच्चे और अच्छे सस्कार देनेवाली ऐसी कोई पुस्तक शिक्षण-क्रममे होनी चाहिये, जो नवयुगके निर्माणका स्पर्श करनेके साथ ही प्राचीन प्रणालिकाओका रहस्य भी समझाती हो। जहा तक मै जानता हू, केवल गुजरातमें ही नही बल्कि गुजरातके बाहर भी इस मागको भलीभाति पूरा करनेवाली इसके जैसी दूसरी कोई पुस्तक नही है। किसी सप्रदायका विद्यालय या छात्रालय हो, असाम्प्रदायिक कहे जा सकनेवाले आश्रम हो या सरकारी अथवा गैरसरकारी शिक्षण-सस्थाए हो — सर्वत्र उच्च कक्षाके विद्यार्थियोको, उनकी योग्यताको ध्यानमे रखकर,

---

* श्री नाथजी (केदारनाथजी) की 'विवेक और साधना', 'विचार-दर्शन : भाग १' तथा 'विचार-दर्शन भाग २' पुस्तके हिन्दीमे नवजीवनसे प्रकाशित हो चुकी है।

इस सग्रहमें से अमुक लेख समझाये जाय, तो मैं मानता हू कि उन्हें अपनी मातृभाषामें तत्त्व और धर्मका सच्चा व्यापक ज्ञान मिलेगा और सदियो पुरानी परम्परागत ग्रथियोका भेद भी खुल जायगा। विद्यार्थियोंके अलावा शिक्षको और प्राध्यापकोके लिए भी इस संग्रहमें इतनी अधिक विचारप्रेरक और जीवनप्रद सामग्री है कि वे यह पुस्तक पढकर अपने साक्षर जीवनकी केवल कृतार्थता ही अनुभव नही करेंगे, बल्कि अनेक व्यावहारिक, धार्मिक और तात्त्विक प्रश्नोके सबधमें नये दृष्टिकोणसे विचार करना शुरू करेंगे तथा साक्षर जीवनके उस पार भी कुछ प्रज्ञागम्य विश्व है ऐसी प्रतीति होनेसे अधिक विनम्र और अधिक शोधक बननेका प्रयत्न करेंगे। विद्यार्थियो और प्राध्यापकोके सिवा भी ऐसा बहुत बड़ा वर्ग है, जो तत्त्व और धर्मके प्रश्न समझनेमें हमेशा गहरा रस लेता है। ये लोग तत्त्व और धर्मके नामसे मिलनेवाले कैसे भी रूढिगत शिक्षण और प्रवाहमे बहते रहते हैं और केवल उतनेसे ही सतोष मान लेते है। अत. वे यह नही समझ पाते कि हमारी समझमें कहा भूल है, कहा कहा उलझने हैं और कहा कहा अन्धविश्वासका राज्य है। उनके लिए तो यह सग्रह नेत्रांजन-शलाकाका काम करेगा, ऐसा मैं निश्चित रूपसे मानता हू। विभिन्न भाषाओमे एक या अनेक धर्मोका अथवा एक सम्प्रदाय या अनेक सप्रदायोंके तत्त्वज्ञानका शिक्षण देनेमे मदद पहुंचानेवाली अनेक पुस्तके है। परतु ज्यादातर वे सब प्रणालिकाओ या मान्यताओका ही वर्णन करती हैं। शायद ही ऐसी कोई पुस्तक देखनेमे आयेगी, जिसमें इतनी गभीरता और इतनी निर्भयता तथा सत्यनिष्ठासे तत्त्व और धर्मके प्रश्नोके विषयमें ऐसा परीक्षण और सशोधन हुआ हो। एक ओर जिसमे किसी भी पथ, किसी भी परपरा या किसी भी शास्त्र-विशेषके विषयमें अविचारी आग्रह न रखा गया हो और दूसरी ओर पुराने या नये आचार-विचारके प्रवाहोंमे से जीवनस्पर्शी सत्य खोज निकाला गया हो, ऐसी मेरी जानकारीमें यह पहली ही पुस्तक है। इसलिए किसी भी क्षेत्रके योग्य अधिकारीसे मैं यह पुस्तक बार बार पढ़नेकी सिफारिश करता हूं तथा शिक्षण-कार्यमें रस लेनेवालोंसे कहता हू कि वे चाहे जिस सप्रदाय

या पंथके हो, तो भी इसमे वताई हुई विचारसरणीको समझकर वे अपनी मान्यताओ और सस्कारोकी परीक्षा करे।

वैसे तो इस सग्रहका प्रत्येक लेख गहन है। परन्तु कुछ लेख तो ऐसे है जो बडेसे बडे विद्वान या विचारककी भी बुद्धि और समझकी पूरी कसौटी करते है। लेखोके विषय विविध है। दृष्टिविंदु भी अनेक प्रकारके है। समालोचना मूलगामी है। इसलिए सारी पुस्तकका रहस्य तो उन उन लेखोको पढ कर या उन पर विचार करके ही जाना जा सकता है। फिर भी दोनो लेखकोके प्रत्यक्ष परिचयसे और इस पुस्तकके वाचनसे उनकी जिस विचारसरणीको मै समझा हू और जिसने मेरे मन पर गहरी छाप डाली है, उससे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ मुद्दोकी मै अपनी समझके अनुसार यहा चर्चा करता हू। इन मुद्दोकी दोनोके लेखोमे भी एक या दूसरी तरहसे चर्चा की गई है। वे मुद्दे ये है .

१., धर्म और तत्त्व-चिन्तनकी दिशा एक हो, तभी दोनो सार्थक वनते है।

२ कर्म और उसके फलका नियम केवल वैयक्तिक ही नही बल्कि सामूहिक भी है।

३ मुक्ति कर्मके विच्छेदमे या चित्तके विलयमे नही, परतु दोनोकी उत्तरोत्तर शुद्धिमे है।

४ मानवताके सद्‌गुणोकी रक्षा, पुष्टि और वृद्धि ही जीवनका परम ध्येय है।

(१) तत्त्वज्ञानका अर्थ है सत्य-शोधनके प्रयत्नसे फलित हुए तथा फलित होनेवाले सिद्धात। धर्मका अर्थ है ऐसे सिद्धातोके अनुसार ही बना हुआ वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन-व्यवहार। यह सत्य है कि एक ही व्यक्ति या समूहकी योग्यता तथा शक्ति हमेशा एकसी नही रहती, इसलिए भूमिका तथा अधिकार-भेदके अनुसार धर्ममे अन्तर रहनेवाला है। इतना ही नही, धर्माचरण अधिक पुरुषार्थकी अपेक्षा रखता है, इसलिए वह गतिमे तत्त्वज्ञानके पीछे भी रहेगा। किन्तु यदि इन दोनोकी दिशा ही मूलमे अलग हो, तो तत्त्वज्ञान चाहे जितना गहरा और चाहे जितना सच्चा हो, फिर भी धर्म उसके प्रकाशसे वचित ही

रहेगा और परिणाम-स्वरूप मानवताका विकास रुकेगा। धर्मको जीवनमे उतारे विना तत्त्वज्ञानकी शुद्धि, वृद्धि और परिपाक असभव है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानके आलवनसे रहित धर्म जडता तथा अधविश्वाससे मुक्त नही हो सकता। इसलिए दोनोमे दिशाभेद होना घातक है। इस वस्तुको एक ऐतिहासिक दृष्टान्तसे समझना सरल होगा। भारतीय तत्त्वज्ञानके तीन युग स्पष्ट है। पहला युग आत्म-वैपम्यके सिद्धातका, दूसरा आत्म-समानताके सिद्धातका और तीसरा आत्माद्वैतके सिद्धातका। पहले सिद्धातके अनुसार ऐसा माना जाता था कि हरएक जीव मूलमें समान नही है। हरएक जीव अपने कर्मके अधीन है। और हरएक जीवके कर्म विपम तथा वहुत वार एक-दूसरेके विरुद्ध होते है, इसलिए उनके अनुसार ही जीवकी स्थिति और उसका विकास हो सकता है। ऐसी मान्यताके कारण ब्राह्मण-कालके जन्मसिद्ध धर्म और सस्कार निश्चित हुए है। इसमे किसी एक वर्गका अधिकारी अपनी कक्षामे रह-कर ही विकास कर सकता है, परन्तु इस कक्षाके वाहर जाकर वर्णाश्रम-धर्मका आचरण नही कर सकता। इन्द्रपद या राज्यपद प्राप्त करनेके लिए अमुक धर्मका आचरण करना चाहिये, परन्तु हर मनुष्य उस धर्मका आचरण नही कर सकता तथा हर मनुष्य उसका आचरण करा भी नही सकता। इसका अर्थ यही हुआ कि कर्मकृत वैषम्य स्वाभाविक है और जीवगत समानता हो तो भी, वह व्यवहार्य नही है। आत्म-समानताके दूसरे सिद्धातके अनुसार वना हुआ आचार इससे विलकुल उलटा है। उसमें चाहे जिस अधिकारी और जिज्ञासुको चाहे जैसे कर्म-सस्कारके द्वारा विकास करनेकी छूट है। उसमे आत्मौपम्य-मूलक अहिसा-प्रधान यम-नियमोके आचरण पर ही भार दिया जाता है। कर्मकृत वैपम्यकी उसमें अवगणना नही है, परन्तु समानता-सिद्धिके प्रयत्नसे उसे दूर करने पर ही भार दिया जाता है। आत्माद्वैतका सिद्धात तो समानताके सिद्धातसे भी आगे जाता है। उसमे व्यक्ति-व्यक्तिके वीच किसी भी तरहका कोई वास्तविक भेद नही माना जाता। उस अद्वैतमें तो समानताका व्यक्तिभेद भी मिट जाता है। इसलिए इस सिद्धातमें कर्म-सस्कार-जन्य वैपम्य न सिर्फ दूर करने योग्य

ही माना जाता है, वल्कि सर्वथा काल्पनिक माना जाता है। परन्तु हम देखते हैं कि आत्म-समानता और आत्माद्वैतके सिद्धातको कट्टरतासे माननेवाले भी जीवनमे कर्म-वैषम्यको ही स्वाभाविक और अनिवार्य मानकर व्यवहार करते है। इसलिए आत्म-समानताके अनन्य समर्थक जैन तथा ऐसे दूसरे पथ जातिगत ऊच-नीच भावको मानो शाश्वत मानकर ही व्यवहार करते दिखाई देते है। उसके कारण समाजमे स्पर्शास्पर्शका घातक विप फैल जाने पर भी वे इस भ्रमसे मुक्त नही होते। उनका सिद्धात एक दिशामे जाता है और धर्म — जीवन-व्यवहार — की गाडी दूसरी दिशामे जाती है। यही स्थिति अद्वैत सिद्धातको माननेवालोकी है। वे द्वैतका कट्टर विरोध करते हुए बाते तो अद्वैतकी करते है, लेकिन आचरण सन्यासी तकका द्वैत तथा कर्म-वैषम्यके अनुसार ही होता है। परिणाममे हम देखते है कि तत्त्वज्ञानका अद्वैत तक विकास होने पर भी उससे भारतीय जीवनको कोई लाभ नही हुआ। उलटे, वह आचरणकी दुनियामे फसकर छिन्न-भिन्न हो गया है। यह एक ही दृष्टान्त तत्त्वज्ञान और धर्मकी दिशा एक होनेकी आवश्यकता सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है।

(२) अच्छी-बुरी स्थिति, चढती-उतरती कला और सुख-दु खकी सार्वत्रिक विषमताका पूरा स्पष्टीकरण केवल ईश्वरवाद या ब्रह्मवादमे मिल ही नही सकता था। इसलिए कैसा भी प्रगतिशील वाद स्वीकार करनेके वावजूद स्वाभाविक रूपमे ही परपरासे चला आनेवाला वैयक्तिक कर्मफलका सिद्धात अधिकाधिक दृढ होता गया। 'जो करता है वही भोगता है', 'हरएकका नसीब अलग है', 'जो वोता है वह काटता है', 'काटनेवाला और फल चखनेवाला एक हो और बोनेवाला दूसरा हो यह बात असभव है' — ऐसे ऐसे खयाल केवल वैयक्तिक कर्मफलके सिद्धात पर ही रूढ हुए है। और सामान्यत: उन्होने प्रजा-जीवनके हर क्षेत्रमे इतनी गहरी जडें जमा ली है कि अगर कोई यह कहे कि किसी व्यक्तिका कर्म केवल उसीमे फल या परिणाम उत्पन्न नही करता, परन्तु उसका असर उस कर्म करनेवाले व्यक्तिके सिवा सामूहिक जीवनमे भी ज्ञात-अज्ञात रूपसे फैलता है, तो वह कथन समझदार माने जानेवाले वर्गको भी चौका देता है। और हरएक सम्प्र-

दायके विद्वान या विचारक इसके विरुद्ध शास्त्रीय प्रमाणोका ढेर लगा देते है। इस कारणसे कर्मफलका नियम वैयक्तिक होनेके साथ ही सामूहिक भी है या नही, यदि न हो तो किस किस तरहकी असगतिया और अनुपपत्तिया खडी होती है और यदि हो तो उसी दृष्टिसे समग्र मानव-जीवनका व्यवहार व्यवस्थित होना चाहिये या नही, इस विषयमे कोई गहरा विचार करनेके लिए रुकता नही है। सामूहिक कर्मफलके नियमकी दृष्टिसे रहित कर्मफलके नियमने मानव-जीवनके इतिहासमे आज तक कौन कौनसी कठिनाइया खडी की है और किस दृष्टिसे कर्मफलका नियम स्वीकार करके तथा उसके अनुसार जीवन-व्यवहार बनाकर वे कठिनाइया दूर की जा सकती है, इस बात पर इन दो लेखकोको छोडकर किसी दूसरेने इतना गहरा विचार किया हो तो मै नही जानता। कोई एक भी प्राणी दु खी हो, तो मेरा सुखी होना असभव है, जब तक जगत् दु.खमुक्त नही होता, तब तक अरसिक मोक्षसे क्या लाभ ?——इस विचारकी महायान भावना बौद्ध परपरामे उदय हुई थी। इसी तरह हरएक सम्प्रदाय समग्र जगत्के क्षेम—कल्याणकी प्रार्थना करता है और सारे जगत्के साथ मैत्री करनेकी ब्रह्मवार्ता भी करता है। परन्तु यह महायान भावना या ब्रह्मवार्ता अतमे वैयक्तिक कर्मफल-वादके दृढ सस्कारके साथ टकराकर जीवन जीनेमें ज्यादा उपयोगी सिद्ध नही हुई है। पू० नाथजी और श्री मशरूवाला दोनो कर्मफलके नियमके बारेमे सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे विचार करते है। मेरे जन्मगत और शास्त्रीय सस्कार वैयक्तिक कर्मफल-वादके होनेसे मै भी इसी तरह सोचता था। परन्तु जैसे जैसे मै इस पर गहरा विचार करता गया, वैसे वैसे मुझे लगने लगा कि कर्मफलका नियम सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे ही विचारा जाना चाहिये और सामूहिक जीवनकी जिम्मेदारीके खयालसे ही जीवनका हरएक व्यवहार व्यवस्थित किया जाना तथा चलाया जाना चाहिये। जिस समय वैयक्तिक दृष्टिकी प्रधानता हो उस समयके चिन्तक उसी दृष्टिसे अमुक नियमोकी रचना करे, यह स्वाभाविक है। परन्तु उन नियमोमे अर्थ-विस्तारकी सभावना ही नही है, ऐसा मानना देश-कालकी मर्यादामे सर्वथा जकड जाने जैसा है। जब हम

सामूहिक दृष्टिसे कर्मफलका नियम विचारते या घटाते है, तब भी वैयक्तिक दृष्टिका लोप तो होता ही नही, उलटे सामूहिक जीवनमे वैयक्तिक जीवनके पूर्ण रूपसे समा जानेके कारण वैयक्तिक दृष्टि सामूहिक दृष्टि तक फैलती है और अधिक शुद्ध बनती है। कर्मफलके नियमकी सच्ची आत्मा तो यही है कि कोई भी कर्म निष्फल नही जाता और कोई भी परिणाम कारणके विना उत्पन्न नही होता। जैसा परिणाम होगा वैसा ही उसका कारण भी होना चाहिये। यदि अच्छे परिणामकी इच्छा करनेवाला मनुष्य अच्छे कर्म नही करता, तो वह अच्छा परिणाम नही पा सकता। कर्मफल-नियमकी यह आत्मा सामूहिक दृष्टिसे कर्मफलका विचार करने पर बिलकुल लोप नही होती। केवल वैयक्तिक सीमाके बन्धनसे मुक्त होकर वह जीवन-व्यवहार गढनेमे सहायक बनती है। हम आत्मसमानताके सिद्धातके अनुसार विचार करे या आत्माद्वैतके सिद्धातके अनुसार विचार करे, एक बात तो सुनिश्चित है कि कोई भी व्यक्ति समूहसे बिलकुल अलग न तो है और न उससे अलग रह सकता है। एक व्यक्तिके जीवन-इतिहासके लम्बे पट पर नजर दौडाकर विचार करे, तो हमे तुरन्त दिखाई देगा कि उसके ऊपर पडे हुए और पड़नेवाले सस्कारोमे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे दूसरे असख्य व्यक्तियोके सस्कारोका हाथ है। और वह व्यक्ति जिन सस्कारोका निर्माण करता है, वे भी केवल उसमे ही मर्यादित न रहकर समूहके अन्य व्यक्तियोमे प्रत्यक्ष या परम्परासे सचरित होते रहते है। वस्तुत समूह या समष्टिका अर्थ है व्यक्ति या व्यष्टिका सपूर्ण जोड।

यदि हरएक व्यक्ति अपने कर्म और फलके लिए पूरी तरहसे जिम्मेदार हो और अन्य व्यक्तियोसे बिलकुल स्वतत्र होनेसे उसके श्रेय-अश्रेयका विचार केवल उसीके साथ जुडा हो, तो सामूहिक जीवनका क्या अर्थ है? क्योकि बिलकुल अलग, स्वतत्र और एक-दूसरेके असरसे मुक्त व्यक्तियोका सामूहिक जीवनमे प्रवेश केवल आकस्मिक ही हो सकता है। यदि ऐसा अनुभव होता हो कि सामूहिक जीवनमे वैयक्तिक जीवन बिलकुल स्वतत्र रूपसे जिया नही जाता, तो तत्त्वज्ञान भी इसी अनुभवके आधार पर कहता है कि व्यक्ति-व्यक्तिके बीच चाहे जितना भेद दिखाई

दे, फिर भी हरएक व्यक्ति किसी ऐसे एक जीवन-सूत्रसे ओतप्रोत है कि उसके द्वारा वे सब व्यक्ति आसपास एक-दूसरेसे जुडे हुए रहते हैं। यदि ऐसा है तो कर्मफलका नियम भी इसी दृष्टिसे विचारा और लागू किया जाना चाहिये। अभी तक आध्यात्मिक श्रेयका विचार भी हरएक सम्प्रदायने वैयक्तिक दृष्टिसे ही किया है। व्यावहारिक लाभालाभका विचार भी इस दृष्टिके अनुसार ही हुआ है। इस कारणसे जिस सामूहिक जीवनको जिये विना काम चल नही सकता, उसे लक्ष्यमे रखकर श्रेय या प्रेयका मूलगत विचार या आचार हो ही नही पाया है। कदम कदम पर सामूहिक कल्याणको लक्ष्यमें रखकर वनाई हुई योजनाएं इसी कारणसे या तो नष्ट हो जाती है या कमजोर होकर निराशामे वदल जाती हैं। विश्वशातिका सिद्धात निश्चित तो होता है, परन्तु वादमें उसकी हिमायत करनेवाला हरएक राष्ट्र वैयक्तिक दृष्टिसे ही उस पर विचार करता है। इससे न तो विश्वशाति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय समृद्धि स्थिर होती हैं। यही न्याय हरएक समाज पर भी लागू होता है। अव यदि सामूहिक जीवनकी विशाल और अखण्ड दृष्टिका विकास किया जाय और उसी दृष्टिके अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारीकी मर्यादा वढ़ाये, तो उसके हिताहित दूसरोंके हिताहितोंके साथ टकराने न पायेंगे। और जहा वैयक्तिक नुकसान दिखाई देता हो वहा भी सामूहिक जीवनके लाभकी दृष्टि उसे सतुष्ट रखेगी। उसका कर्तव्य-क्षेत्र विस्तृत वनेगा और उसके सम्वन्ध अधिक व्यापक वनने पर वह अपनेमे एक **भूमा*** के दर्शन करेगा।

(३) दुःखसे मुक्त होनेके विचारमे से ही उसका कारण माने गये कर्मसे मुक्त होनेका विचार पैदा हुआ। ऐसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहारकी जिम्मेदारी स्वय ही वधनरूप है। जव तक उसका अस्तित्व है तव तक पूर्ण मुक्ति सर्वथा असंभव है। इसी धारणामें से पैदा हुए कर्ममात्रकी निवृत्तिके विचारसे श्रमण-परंपराका अनगार-मार्ग और सन्यास-परपराका वर्ण-कर्म-धर्म-सन्यास-मार्ग अस्तित्वमें आया। परन्तु इस विचारमें जो दोप था वह धीरे धीरे ही सामूहिक

---

* अनन्तता तथा विशालता।

जीवनकी निर्बलता और लापरवाहीके रास्तेसे प्रकट हुआ। जो अनगार (गृह-रहित) होते है या वर्ण-कर्म-धर्म छोडते है, उन्हे भी जीना तो होता ही है। इसका फल यह हुआ कि ऐसोका जीवन अधिक मात्रामे पराव-लम्बी और कृत्रिम बना। सामूहिक जीवनकी कडिया टूटने और अस्त-व्यस्त होने लगी। इस अनुभवने यह सुझाया कि केवल कर्म ही बधन नही है, परन्तु उसके पीछे रही हुई तृष्णावृत्ति या दृष्टिकी सकुचितता और चित्तकी अशुद्धि ही बधनरूप है। केवल वही दु ख देती है। यही अनुभव अनासक्त कर्मवादके द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इस पुस्तकके लेखकोने इसमे सशोधन करके कर्मशुद्धिका उत्तरोत्तर प्रकर्ष साधने पर ही भार दिया है, और उसीमे मुक्तिका अनुभव करनेका प्रतिपादन किया है। पावमे सूई चुभ जाने पर कोई उसे निकाल कर फेक दे, तो आम तौर पर कोई उसे गलत नही कहता। परन्तु जब सूई फेकनेवाला आदमी बादमे सीने और दूसरे कामके लिए नई सूई ढूढे और उसके न मिलने पर अधीर होकर दु.खका अनुभव करे, तो समझदार आदमी उससे जरूर कहेगा कि तूने भूल की। पावमे से सूई निकालना ठीक था, क्योकि वह उसकी ठीक जगह नही थी। परन्तु यदि उसके बिना जीवन चलता ही न हो, तो उसे फेक देनेमे जरूर तेरी भूल हुई। ठीक तरहसे उपयोग करनेके लिए योग्य रीतिसे उसका सग्रह करना ही पावमे से सूई निकालनेका सच्चा अर्थ है। जो न्याय सूईके लिए है वही न्याय सामूहिक कर्मके लिए भी है। केवल वैयक्तिक दृष्टिसे जीवन जीना सामूहिक जीवनकी दृष्टिमे सूई भोकनेके बराबर है। इस सूईको निकालकर उसका ठीक तरहसे उपयोग करनेका मतलब है सामूहिक जीवनकी जिम्मेदारीको बुद्धिपूर्वक स्वीकार करके जीवन बिताना। ऐसा जीवन ही व्यक्तिकी जीवन्मुक्ति है। जैसे जैसे हर व्यक्ति अपनी वासना-शुद्धि द्वारा सामूहिक जीवनका मैल कम करता जाता है, वैसे वैसे सामूहिक जीवन दु ख-मुक्तिका विशेष अनुभव करता है। इस प्रकार विचार करने पर कर्म ही धर्म बन जाता है। किसी फलका अर्थ है रसके साथ उसका छिलका भी। यदि छिलका नही हो तो फलका रस कैसे टिक सकता है? और रस-रहित

छिलका भी फल नही है। उसी तरह धर्म तो कर्मका रस है। और कर्म केवल धर्मका छिलका है। दोनोका ठीक तरहसे समिश्रण हो, तभी वे जीवन-फल प्रकट करते हैं। कर्मके आलवनके विना वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवनकी शुद्धिरूप धर्म रहेगा ही कहा? और ऐसी शुद्धि न हो तो क्या उस कर्मकी छिलकेसे ज्यादा कीमत मानी जायगी? इस तरहका कर्म-धर्म-विचार इन लेखकोके लेखोमे ओतप्रोत है। उसके साथ विशेषता यह है कि मुक्तिकी भावनाका भी उन्होने सामुदायिक जीवनकी दृष्टिसे ही विचार किया है और उसी दृष्टिसे उसे मनुष्य-जीवन पर लागू किया है।

कर्म-प्रवृत्तिया अनेक तरहकी होती हैं। परन्तु उनका मूल चित्तमे है। किसी समय योगियोने विचार किया कि जब तक चित्त है तब तक विकल्प उठते ही रहेगे, और विकल्पोके उठने पर शातिका अनुभव नही हो सकता। इसलिए 'मूले कुठार' के न्यायको मानकर वे चित्तका विलय करनेकी ओर ही झुके। और अनेकोने यह मान लिया कि चित्त-विलय ही मुक्ति है, और वही परम साध्य है। इससे मानवताके विकासका विचार ही एक ओर रह गया। यह भी बधनरूप माने जानेवाले कर्मको छोडनेके विचारकी तरह भूल ही थी। इस विचारमे दूसरे अनुभवियोने सुधार किया कि चित्त-विलय मुक्ति नही है, परन्तु चित्तशुद्धि ही मुक्ति है। दोनो लेखकोका कहना यह है कि चित्तशुद्धि ही शातिका एकमात्र मार्ग होनेसे वह मुक्ति अवश्य है, परन्तु सिर्फ वैयक्तिक चित्तकी शुद्धिमे पूर्ण मुक्ति मान लेनेका विचार अधूरा है। सामूहिक चित्तकी शुद्धिको बढाते जाना ही वैयक्तिक चित्तशुद्धिका आदर्श होना चाहिये, और यह हो तो किसी दूसरे स्थान या लोकमें मुक्तिधाम माननेकी या उसकी कल्पना करनेकी बिलकुल जरूरत नही है। ऐसा धाम तो सामूहिक चित्तशुद्धिमे अपनी शुद्धिका योगदान करना ही है।

(४) हरएक सम्प्रदायमे सर्वभूत-हित पर भार दिया गया है। परन्तु व्यवहारमें मानव-समाजके हितका भी शायद ही पूरी तरहसे अमल देखनेमें आता है। इसलिए प्रश्न यह है कि पहले मुख्य लक्ष्य किस

दिशामे और किस ध्येयकी तरफ दिया जाय। दोनो लेखकोकी विचार-सरणी स्पष्ट रूपसे कहती है कि पहले मानवताके विकासकी ओर लक्ष्य दिया जाय और उसके अनुसार जीवन बिताया जाय। मानवताके विकासका अर्थ है—आज तक उसने जो जो सद्‌गुण जितनी मात्रामे साधे है उनकी पूर्ण रूपसे रक्षा करना और उनकी मददसे उन्ही सद्‌गुणोमे ज्यादा शुद्धि करके नवीन सद्‌गुणोका विकास करना, जिससे मानव-मानवके बीच द्वद्व और शत्रुताके तामस बल प्रकट न होने पावे। इस तरह जितनी मात्रामे मानवता-विकासका ध्येय सिद्ध होता जायगा, उतनी मात्रामे समाज-जीवन सुसवादी और सुरीला बनता जायगा। उसका प्रासगिक फल सर्वभूत-हितमे ही आनेवाला है। इसलिए हरएक साधकके प्रयत्नकी मुख्य दिशा तो मानवताके सद्‌गुणोके विकासकी ही रहनी चाहिये। यह सिद्धात भी सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे कर्म-फलका नियम लागू करनेके विचारमें से ही फलित होता है।

ऊपरकी विचारसरणी गृहस्थाश्रमको केन्द्रमे रखकर ही सामु-दायिक जीवनके साथ वैयक्तिक जीवनका सुमेल साधनेकी बात कहती है। यह ऐसी सूचना है जिसका अमल करनेसे गृहस्थाश्रममे ही बाकीके सब आश्रमोके सद्‌गुण साधनेका मौका मिल सकता है। क्योकि उसमे गृहस्थाश्रमका आदर्श ही इस तरह बदल जाता है कि वह केवल भोगका धाम न रहकर भोग और योगके सुमेलका धाम बन जाता है। इस-लिए गृहस्थाश्रमसे अलग अन्य आश्रमोका विचार करनेकी गुजाइश ही नही रहती। गृहस्थाश्रम ही चारो आश्रमोके समग्र जीवनका प्रतीक बन जाता है। और वही नैसर्गिक भी है।

श्री मगरूवालाका एक निराला व्यक्तित्व उनके इन लेखोसे प्रकट होता है। इन लेखोके पठन और मननसे मुझे यह विश्वास हो गया है कि उनमे किसी अन्त प्रज्ञाकी अखण्ड धारा बहती रहती है। यह चित्त-शुद्धिकी साधनाकी विशिष्ट भूमिकामे प्रकट होनेवाला सत्यमुखी प्रज्ञोदय है। उनकी कुछ लाक्षणिकताये तो सर्वथा चकित कर देनेवाली होती है। जब वे तत्त्व-चिन्तनके गहरे प्रदेशमें उतर कर अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिए किसी उपमाका प्रयोग करते है, तब वह पूर्णोपमाकी

कोटिकी होती है और उस स्थानका लेखन गभीर तत्त्व-चितन-प्रधान होने पर भी सुन्दर और सरल साहित्यिक उदाहरण बन जाता है। इसके दो-एक उदाहरण लीजिये। पुस्तकके पृष्ठ ३९-४० पर गगा-प्रवाहको अखड रखनेके लिए अपने जीवनका बलिदान देनेवाले जलकणका दृष्टात। और चित्तकी स्थितिका चित्रण करते समय प्रयुक्त जगलमे उगे हुए झाड-झाखरोका दृष्टात (पृष्ठ १३०)। ऐसे तो पाठकोको अनेक दृष्टात मिलेगे और वे चिन्तनका भार हलका करके चित्तको प्रसन्न भी करेगे। जब वे किसी पद्यकी रचना करते है तब ऐसा लगता है, मानो वे कोई मार्मिक कवि है। इसका दृष्टात पृष्ठ ४९ पर है। 'जगमे जीना दो दिनका' ब्रह्मानदकी इस कडीका कटाक्षपूर्वक रहस्य खोलकर उन्होने जिस नवीन भजनकी रचना की है, उसका भाव और भाषा जो कोई देखेगा वह मेरे इस कथनकी यथार्थता समझ सकेगा। प्राचीन भक्तो या प्राचीन शास्त्रोके उद्गारोका गहरा रहस्य वे किस तरह प्रकट करते है, इसका नमूना पृष्ठ ३७ पर मिलेगा। उसमें 'हसलो नानो ने देवळ जूनु तो थयु' मीराकी इस उक्तिका उन्होने इतना गभीर रहस्य प्रकट किया है और उसे गीताके 'आपूर्यमाणमचल-प्रतिष्ठ' श्लोकके रहस्यके साथ ऐसा सवादी बनाया है कि उसके पठन और मननसे कभी तृप्ति होती ही नही। बार बार उसके सवादकी गूज चित्तके ऊपर उठती ही रहती है।

श्री मशरूवालाके सारे लेखोमे ध्यान खीचनेवाली नीर-क्षीर-विवेकी लाक्षणिकता यह है कि वे विरासतमे मिली हुई या दूसरी किसी भी परपरामें से सार-असारको बडी खूबीसे निकाल लेते है; और सार भागको जितनी सरलतासे अपना लेते है उतनी ही कठोरतासे असार भागके मूल पर कुठाराघात भी करते है।

ऐसी कितनी ही बाते यहा दिखाई जा सकती हैं, परन्तु अतमे तो विराम लेना ही होगा।

अहमदाबाद, २८ मार्च १९४८ सुखलाल

अनुक्रमणिका

प्रकाशकका निवेदन ३
प्रस्तावना ५
विचार-कणिका पं० सुखलालजी ६

पहला भाग : संसार

१. तत्त्वज्ञानके मूल प्रश्न ३
२. जीवनका अर्थ १६
३. ससारमे रस २५
४. जीवनमे मृत्युका स्थान ३१
५. मृत्यु पर जीत ३५
६ जीवन सुखमय है या दु खमय? ४२
परिशिष्ट : 'जगमे जीना दो दिनका'? ४९

दूसरा भाग : ईश्वर

१. अवतार-भक्ति ५३
२. दो दृष्टिया ५७
३. उपासना-शुद्धि ६८
४. ईश्वर-निष्ठाका बल ७७
५. परोक्ष पूजा ८०
६. गलत भावुकता ८३
७. ईश्वर-विषयक कुछ भ्रम ८७

तीसरा भाग : धर्म

१. धर्मका नवनिर्माण ९५
२. नयी दृष्टि ९७
३. शास्त्रदृष्टिकी मर्यादा १०२
४. शास्त्र-विवेक १०६

५.	धर्म-सम्मेलनकी मर्यादा	१०९
६	सकल्प-सिद्धि	१२३
७.	जप	१२९
८.	यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्	१३८
९	ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह	१४३
१०	गलत तितिक्षा	१४७
११.	सात्त्विक तितिक्षा	१५४
१२.	त्यागका आदर्श	१५८
१३.	लाचारी और आदर्श	१७१
१४.	कार्यकर्ता, सावधान !	१७४
१५	कमजोर सात्त्विकता	१७८
१६.	कर्मक्षय और प्रवृत्ति	१८७
१७.	धर्म और तत्त्वज्ञान	१९१
	परिशिष्ट स्वकर्मयोग	२२६

चौथा भाग : पूज्य नाथजीकी पूर्ति

१	तत्त्वज्ञानका साध्य	२३३
२	ईश्वर-भावना	२४५
३.	ध्येय-निर्णय	२५४

संसार और धर्म

पहला भाग

संसार

१

तत्त्वज्ञानके मूल प्रश्न[१]

माघ सुदी १३, शुक्रवार
(ता० ६-२-१९२५)

भाई श्री नगीनदास,[२]

आपका लेख और पत्र मै पढ गया। आपके प्रश्नोका मै उत्तर दू उसके बजाय यह ज्यादा ठीक होगा कि तत्त्वज्ञानके विषयमे मै अपनी दृष्टि स्पष्ट करू और उस परसे आपके प्रश्नोके उत्तर आप ढूढ ले। मेरा खयाल है कि इसीमे से आपके प्रश्नोके उत्तर मिल जायेंगे।

आपके दोनो प्रश्नोके मूलमे एक वस्तु समान रूपसे मान ली गई मालूम होती है। वह यह है कि तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति जीवनकी निष्फलतामे से हुई है, फिर चाहे यह तत्त्वज्ञान आश्वासन प्राप्त करनेके लिए मनुष्य द्वारा की हुई कल्पना हो या ढूढा हुआ सत्य हो।

यह पूर्वाग्रह मुझे गलत मालूम होता है। जिसे हम सासारिक दृष्टिसे पूर्णत सफल मनुष्य कह सकते हैं, वही यदि गहरा अवलोकन और तुलना करनेवाला तथा विवेकशील भी हो, तो वह तत्त्वज्ञानकी शोध करनेवाला या उसकी वृद्धि करनेवाला हो सकता है। जिस तरह भौतिक प्रकृतिगत नियमोकी शोधके लिए अलग-अलग दृष्टिसे किये गये प्रयोगोमे से ही पदार्थविज्ञान, रसायनशास्त्र इत्यादि शास्त्रोकी उत्पत्ति हुई है, जिस प्रकार चित्त-प्रकृतिके नियमोकी शोधमे से योगशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है, उसी प्रकार अलग-अलग दृष्टिसे प्रकृति-मात्रका अत

---

१ विद्यार्थियोकी ओरसे पूछे गये सवालोके लेखक द्वारा दिये गये जवाब।

२. श्री नगीनदास पारेख, उस समय 'साबरमती' मासिकके सम्पादक।

ढूढ़नेके प्रयासोमे से तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार पदार्थ-विज्ञान इत्यादि भौतिक शास्त्रोका तथा योगशास्त्रका क्रमश अधिक विकास हुआ है और होता जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानका भी विकास हुआ है, होता जाता है और होता रहना चाहिये। क्या पदार्थ-विज्ञानको न समझ सकनेवाला मनुष्य भौतिक विद्याका या चित्तको न समझ सकनेवाला मनुष्य योगशास्त्रका अधिक विकास कर सकता है? उसी प्रकार जीवनको न समझ सकनेवाला और जीवनको अपनी इच्छानुसार न मोड़ सकनेवाला मनुष्य तत्त्वज्ञानका अधिक विकास कैसे कर सकता है? शकराचार्य, बुद्ध, सॉक्रेटीस, जनक, याज्ञवल्क्य, श्रीकृष्ण, व्यास इत्यादिका तत्त्वज्ञानके निर्माण और विकासमें महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता है। इनमे से किसका जीवन सासारिक दृष्टिसे निष्फल था? इसलिए मै तो कहूंगा कि जिसमे सासारिक दृष्टिसे सफल होनेकी योग्यता है, वही — गभीर विचारक हो तो — तत्त्वज्ञानका अधिकारी हो सकता है, क्योकि ऐसा व्यक्ति ही अतिशय पुरुषार्थी और आत्म-विश्वासी होता है। जैसा कि महाराष्ट्रके सत स्वामी रामदासने कहा है, जिसे सीधा-सादा अपना व्यवहार भी ठीकसे चलाना नही आता, वह परमार्थ कैसे साध सकता है? (यद्यपि दूसरी जगह उन्होने ऐसा भी कहा है कि जो मनुष्य ससारके दु खसे अत्यत तप्त हो गया है, वही परमार्थका अधिकारी हो सकता है।)

परन्तु यह बात सच है कि हमारे देशमें तत्त्वज्ञान जीवनमे असफल रहनेवाले ऐसे ही बहुतसे व्यक्तियोका आधार बना है। स्त्री बुरी निकली, पैसा बरबाद हो गया, मित्रोने धोखा दिया, आप्तजन मर गये, कामकाजमे सफलता नही मिली, तो चलो अब प्रभुकी शरण-मे — इस वृत्तिसे बहुतसे व्यक्ति ईश्वरके अथवा तत्त्वज्ञानके मार्गकी ओर मुडे है यह सच है। इस निमित्तसे भी उन्होने जीवनके विषयमें कुछ सोचा-विचारा है और समझा है। यह भी सच है कि इससे वे सत्यकी कुछ शोध कर सके और आश्वासन प्राप्त कर सके। परन्तु ये वे लोग नही है, जिन्होने तत्त्वज्ञानका विकास किया है, उसमे शुद्धि-वृद्धि की है। रसायनशास्त्र या योगका सामान्य अभ्यास करनेवाले

व्यक्तिमे और उसके शोधकमे जितना भेद है, उतना ही भेद इन दो प्रकारके तत्त्वज्ञानियोमे है। एकका प्रयत्न अभी तक हुई शोधोको समझ लेनेका है, दूसरेका उन्हे समझकर उसे आगे बढानेका है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञान जीवनके मूल और अन्तकी खोजका अनुभवोके आधार पर रचा गया शास्त्र है। जिस प्रकार भौतिक विद्याके सिद्धान्तोकी अतिम कसौटी प्रत्यक्ष प्रयोगसे होनेवाले अनुभवोमे खरे उतरनेसे होती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोकी कसौटी भी प्रत्यक्ष अनुभवसे करनी चाहिये। जिस प्रकार भौतिक विद्याके सिद्धान्तोकी सत्यताका प्रमाण प्रत्येक व्यक्ति माग या प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका प्रमाण भी प्रत्येक व्यक्ति माग या प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार भौतिक शास्त्रोमे प्रयोग सिद्ध करनेके लिए अध्यापकका आश्रय लेना होता है और उसके ऊपर श्रद्धा—अर्थात् प्रयोग सिद्ध करनेके लिए लेने योग्य उपायोकी योजनाके लिए उसके वचनो पर विश्वास—रखना होता है, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञानके सिद्धान्तोका अनुभव लेनेके लिए गुरुका आश्रय और उस पर श्रद्धा आवश्यक होती है।

अब इस प्रश्नका विचार करे कि तत्त्वज्ञान काल्पनिक आश्वा-सन है या सत्य सिद्धान्त है। प्रत्येक शास्त्रको दो प्रकारकी क्रियाओका विचार करना पडता है। इन्द्रियगोचर क्रिया और इन्द्रियातीत क्रिया। क्षारके कणमे से बिजली गुजरती नही है, परन्तु उसे पानीमे घोलनेसे उसमे से बिजली गुजरती है। तेजकी किरणे सूर्यसे पृथ्वी तक आती है, अमुक वस्तुओमे से पार हो जाती है, अमुकमे से नही होती है, अमुकमे से पीछे लौटती है, तो अमुकमे तिरछी होती हुई मालूम पडती है, तथा अमुक वस्तुमे से एक प्रकारकी व्यवस्था करनेसे पार होती है और दूसरी प्रकारकी व्यवस्थासे पार नही होती। शब्दकी आवाज दूरसे आकर कानों पर टकराती है। ये सभी क्रियाए इन्द्रियगोचर है। यह इन सब क्रियाओका अवलोकन हुआ। कितने पानीमे किस प्रकारका कितना क्षार गलानेसे बिजलीका प्रवेश बहुत अच्छी तरहसे हो सकता है, कितने वेगसे किरणे आती है, किसमे से वे पार होती है, किस परसे लौट आती

है, कहा कितनी तिरछी बनती है, किस प्रकारकी व्यवस्थामे किरणोका प्रतिबध (polarisation) होता है, ध्वनिकी गतिया किस प्रकारकी है—इन सबके नियम भी इन्द्रियगोचर प्रयोगोसे खोजे और सिद्ध किये जा सकते है। परन्तु क्षारके द्रवमे से बिजली किसलिए गुजरती है, और क्षारके पानीमे गलनेसे उसमे क्यो और कैसा परिवर्तन होता है, बिजली किस प्रकारकी शक्ति है, तेजकी किरणोका स्वरूप कैसा है, ध्वनिका स्वरूप कैसा है—ये सब क्रियाए और शक्तिया इन्द्रियातीत है, इसलिए साधनोके बिना अथवा साधनोकी सहायतासे भी हम इन क्रियाओ या शक्तियोको प्रत्यक्ष नही कर सकते। (कमसे कम आज तक तो वे प्रत्यक्ष नही की जा सकी है।)

मानव-बुद्धिको एक वस्तुका निश्चय हो गया है। जो कुछ क्रिया होती है, शक्तिका जो कुछ दर्शन होता है, उसके पीछे कार्य-कारण-भाव होना ही चाहिये। इसलिए जो इन्द्रियातीत क्रियाए होती है, उनमे भी कार्य-कारण-भावकी कल्पना किये बिना बुद्धिकी भूख तृप्त नही होती। जो कुछ गोचर हुआ है उसके अवलोकनके आधार पर हमारी बुद्धि उसके अगोचर कारणोकी कल्पना करनेका प्रयत्न करती है। ऐसा प्रयत्न किये बिना मानव-बुद्धिकी भूख तृप्त नही होती। फिर वह इस बातकी जाच करती है कि ऐसी युक्तिसगत कल्पना द्वारा वह प्रत्येक इन्द्रियगोचर क्रियाको किस हद तक समझा सकती है। कार्य-कारण-भावको समझानेवाली अथवा विविध शक्तियोके स्वरूपका वर्णन करनेवाली ऐसी कल्पना वाद (hypothesis, theory) कहलाती है। इस प्रकार रसायन-शास्त्रका अणुवाद (atomic theory), विद्युदणुवाद (ionic theory), विद्युत्कणवाद (electron theory), सूर्यमण्डलवाद (solar system theory), तेज तथा बिजलीका तरगवाद (vibration theory), शब्दका लोलवाद (undulation theory) इत्यादि वाद है। अमुक इन्द्रियगोचर क्रियाओके पीछे रही अगोचर क्रियाओको समझानेके लिए रचे गये ये बुद्धिवाद है, कल्पनाए है। ये ऐसी ही है, इसका कोई प्रमाण नही दिया जा सकता। जहा तक इन कल्पनाओसे सारी प्रत्यक्ष क्रियाओका बुद्धिको संतोष देनेवाला खुलासा मिल सकता है, वहा तक

उस उस विज्ञानके शास्त्री उनका उपयोग करते है। जब ऐसी किसी क्रियाका खुलासा उस कल्पना द्वारा नही होता है, तब वह उस कल्पनाको छोडकर विशेष युक्तिसगत कल्पना करनेके लिए प्रयत्नशील होता है। परतु ऐसे चाहे जिस वादका आधार विज्ञानशास्त्री ले, तो भी वह किसी वादको सिद्ध नियम माननेकी भूल कभी नही करता। वह किसी एक वादको कभी ऐसे दुराग्रहसे पकड कर नही रखता कि आवश्यकता पडने पर उसका त्याग न कर सके।

जो बात भौतिक शास्त्रोके विषयमे सत्य है, वह तत्त्वज्ञानके विषयमे भी सत्य है। जीवनकी कुछ घटनाए और उनके कारण हम प्रत्यक्ष अनुभवके द्वारा जानते है, कुछ घटनाओको हम जानते है, परतु उनके कारण अप्रकट रहते है। इन अप्रकट कारणोके स्वरूपको ढूढनेका प्रयत्न करनेवाली बुद्धिमे से विविध प्रकारके वाद पैदा होते है। इस प्रकार मायावाद, लीलावाद, विवर्तवाद, पुनर्जन्मवाद, आनुवशवाद, विकासवाद, बंधन-मोक्षवाद — इत्यादि सब वाद जीवनमे दिखनेवाली प्रत्यक्ष घटनाओके अप्रत्यक्ष कारणोको समझानेवाली कल्पनाए है। जो वाद जितने अश तक अधिकसे अधिक घटनाओको युक्तिसगत रीतिसे और सरलतासे समझाता है, उतने ही अश तक वह वाद अधिक ग्राह्य माना जाता है। परतु चाहे जितने समय तक वह वाद ग्राह्य रहे, तो भी यह न भूलना चाहिये कि वह एक **वाद** ही है। और जिस प्रकार रसायनशास्त्रका वाद जब तक वह प्रत्येक रसायन क्रियाका खुलासा दे सकता है तभी तक ग्राह्य रहता है और उसका स्वीकार प्रत्यक्ष क्रियाओको समझने तथा उन पर लागू करनेके लिए ही रसायनशास्त्री करता है तथा उसकी दृष्टि उस वादके प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त करके उन्हे सिद्धान्तके रूपमे स्थापित करनेकी ओर रहती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानके वाद भी जिस हद तक प्रत्यक्ष जीवनकी घटनाओको समझानेमे उपयोगी हो और प्रत्यक्ष जीवन पर सतोषपूर्वक लागू किये जा सके, उसी हद तक और उसी हेतुके लिए वे स्वीकार करने लायक है।

यहां तक मैंने भौतिक विज्ञान और तत्त्वज्ञानके बीचकी समानता बतलाई। परंतु तत्त्वज्ञानके विकासमे कितनी ही दूसरी कठिनाइया

आती है, जो कि भौतिक विज्ञानके विकासमे नही आती। इसका कारण यह है कि भौतिक विज्ञानका सीधा सबध बाह्य पदार्थोंके साथ होता है। सुवर्णको एक स्वतत्र तत्त्व मानिये या किसी एक तत्त्व और विद्युत्कण (electron) का सूर्य-मण्डल मानिये, इससे हमारे और सुवर्णके बीचके व्यवहारमे कोई अतर नही पडता। परतु तत्त्वज्ञानका जीवनके साथ सीधा सबध है। यदि आप चार्वाकवादको मानते है तो जीवनकी रचना अमुक प्रकारसे होगी, मायावादको मानते है तो दूसरी तरहसे; लीलावादको मानते है तो तीसरी तरहसे, समवादको मानते है तो एक प्रकारसे, विषमवादको मानते है तो दूसरे प्रकारसे; कर्मवादको मानते है तो एक तरहसे, निष्कर्मवादको मानते है तो दूसरी तरहसे। इस प्रकार आप जो वाद स्वीकार करते है, उसके अनुसार आपके जीवनकी रचना जल्दी या देरीसे होने ही वाली है। उसके ऊपर आपके सुख, भोग, ऐहिक उन्नति इत्यादिका ही आधार नही, परतु आपके चित्तकी समता और शातिका भी आधार रहेगा।

सुवर्णकी तरह जीवनको एक बाह्य पदार्थ मानकर उसका अवलोकन और अध्ययन नही किया जा सकता। इसलिए जीवनके तत्त्वकी शोध अतिशय कठिन होती है। जीवन कठिनाईसे छोडी जा सकनेवाली अनेक वृत्तियो, वासनाओ, सस्कारो, लालसाओ, भयो इत्यादिसे इतना रगा हुआ होता है कि भौतिक शास्त्रीकी तरह केवल तटस्थ रूपसे जीवन-सम्बन्धी सत्यकी खोज नही हो सकती। जीवनके विषयमे सत्य तत्त्वज्ञान क्या है, यह जाननेके बदले मनुष्यकी बुद्धिका झुकाव निरतर ऐसा तत्त्वज्ञान खोजनेकी तरफ होता है, जो छोडी न जा सकनेवाली वृत्तियो, वासनाओ आदिको युक्तिसगत और उचित ठहराये। इसके परिणामस्वरूप ऊपर गिनाई हुई कार्य-कारण-भावोको समझानेका प्रयत्न करनेवाली वादोकी कल्पनाओके अतिरिक्त अनेक प्रकारकी चित्ताकर्षक कल्पनाए उत्पन्न होती है और वे तत्त्वज्ञानका रूप ले लेती है। स्वर्गलोक, तपोलोक, गोलोक, वैकुण्ठ, अक्षरधाम जैसे एकसे एक बढकर स्वर्गो, प्रलयके समय होनेवाले न्याय वगैराकी विविध प्रकारकी कल्पनाए चित्तके रगसे रगी हुई इसी प्रकारकी कल्पनाए है। ये कल्पनाए रम्य

है, परन्तु तत्त्वज्ञान नही है। और न सिर्फ वे सत्य नही है, बल्कि सत्यको जाननेमे विघ्नरूप है। परन्तु इस प्रकारकी कल्पनाए एक प्रकारसे निर्दोष है, क्योकि उनका सीधा सम्बन्ध आजके प्रत्यक्ष और व्यक्त जीवनके साथ नही होता, बल्कि बहुधा मृत्युके पीछेकी स्थितिके साथ होता है; और इस कारणसे इन कल्पनाओमे श्रद्धा रखनेवालोमे कुछ आशाका सचार होता है तथा श्रद्धालुओमे जितनी निर्मलता होती है उतनी वे उन्हे उन्नत करनेवाली भी होती है। इसके सिवा इन कल्पनाओका तत्त्वज्ञानके साथ दूरका सबध भी है, क्योकि इनमे मृत्युके बादकी स्थितिका तत्त्वदृष्टिसे अनुमान करनेका प्रयत्न है। ऐसे कल्पना-युक्त तत्त्वज्ञानके विषयमे यह कहा जा सकता है कि वह एक मनोरम स्वप्न है। परन्तु चित्तके रगसे रगी हुई और तत्त्वज्ञानके नामसे पहचानी जानेवाली ऐसी भी कल्पनाए है, जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष और व्यक्त जीवनके साथ होनेके कारण वे इतनी निर्दोष नही कही जा सकती। उदाहरणार्थ, सुख, ऐश्वर्य, ऋद्धि-सिद्धि, सौदर्य, आनन्द इत्यादिकी लालसा। ये भी चित्तकी ऐसी वृत्तिया है जो छोडी नही जा सकती, और बुद्धिका झुकाव इन सबको न्याय्य और योग्य ठहरानेवाले तत्त्व-ज्ञानको ढूढनेकी ओर होता है। सत्यको खोज कर उसमे जितना शिवत्व, सौदर्य और आनन्द होता है उतनेसे बुद्धिको सतोष नही होता। परन्तु चित्तको जो शिव, सुन्दर और आनन्दरूप लगता है वह सत्य भी है, ऐसा निश्चित करनेके लिए वह प्रयत्नशील रहती है। उसके सिद्धान्त भी तत्त्वज्ञानके नामसे पहचाने जाते है, परन्तु वे अक्षरधामकी कल्पनाकी अपेक्षा भी सत्यसे अधिक वचित रखनेवाले है, क्योकि उनमे सत्यकी जिज्ञासा या शोध नही, बल्कि पूर्वाग्रहोको न छोडनेका आग्रह है।

इसके अलावा, तत्त्वज्ञानकी शुद्धि-वृद्धिमे एक दूसरा भी पूर्वाग्रह बाधक होता है। भौतिक विद्याका सशोधक अपने-आपको इस प्रकार सीमामे बाध नही लेता कि मै इसका सशोधन अग्रेजी पुस्तको द्वारा ही करूगा या सस्कृत शास्त्रोके द्वारा ही करूगा; अथवा इसमे डॉल्टनके मतको या केल्विनके मतको मै ऐसा प्रमाणभूत मानूगा कि उनके कहे हुए एक भी शब्दकी सत्यासत्यताको जाचनेका साहस या पाप मै नही

करूगा, अथवा अमुक एक पुस्तकने इस विद्याका सपूर्ण सशोधन कर डाला है, इसलिए अब इस पुस्तकका अध्ययन करना, इसके अर्थ लगाना और उन्हे समझानेके लिए उन पर भाष्योकी रचना करना ही मेरा कर्तव्य रह जाता है। परन्तु भौतिकशास्त्री ऐसा कहता है कि मै भाषा या नीतिका अभिमान करने नही बैठा हू, बल्कि पदार्थोकी खोज करने बैठा हू, मै मतोकी पूजा करने नही बैठा हू, बल्कि सत्यकी शोध करने बैठा हू; और मै शास्त्रोका विकास करने नही बैठा हू, बल्कि विद्याका विकास करने बैठा हू । इसलिए मै प्रत्येक पुस्तकका प्रत्येक वाक्य पढूगा, उस पर विचार करूगा, परन्तु प्रमाणके बिना उसे नही मानूगा । तत्त्वज्ञानके विषयमे हमारी वृत्ति इससे उलटी होती है। प्रत्येक प्रजाने अपने तत्त्वज्ञानके विषयमे ऐसा मान लिया है कि उसमे पहलेके ऋषि-मुनियो या पैगम्बरोने सब-कुछ पूर्ण कर रखा है, उसमे अब सशोधन या परिवर्धनका अवकाश ही नही है, उनके वचनो पर शका उठानी ही नही चाहिये। अब तो उनके वाक्योका जहां असम्बद्ध अर्थ लगे वहा उनका सुसबद्ध अर्थ निकालनेका, उन्हे विस्तारसे समझानेका, हो सके तो सबका मत एक ही है ऐसा सिद्ध करनेका और नही तो किसी एकको स्वीकार करके उसका दर्शन स्वीकार करनेका काम बाकी रहता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान एक फलती-फूलती विद्या न रहकर केवल शास्त्रार्थ करनेका विषय बन जाता है। मै डॉल्टन मतका रसायनशास्त्री हू और मै केल्विन मतका रसायनशास्त्री हूं, ऐसा कोई विज्ञानशास्त्री नही कहता; परन्तु तत्त्वज्ञानी अपनेको शाकर, रामानुजी, इस्लामी, ईसाई इत्यादि मतोका ही कहलानेमे गर्व मानता है। यदि इन सबका मत एक हो तो अमुक मतका कहलानेमें कुछ अर्थ नही है; और यदि सबका मत एक न हो तो साफ है कि इनमे से प्रत्येकका मत सत्य नही हो सकता और कदाचित् सबके मतमे कुछ भूल और कुछ सत्य दृष्टि होनी चाहिये। तो सत्यके शोधकके नाते तत्त्वज्ञानीका यही धर्म हो सकता है कि वह प्रत्येक मतको कसौटी पर चढाये। पूर्वके शास्त्रो और उनके प्रणेताओके विषयमें सम्पूर्ण आदर रखते हुए भी वह यह आग्रह नही रख सकता कि किसीके वाक्यको कसौटी पर चढाया

ही नही जा सकता। फिर भी तत्त्वज्ञानके विषयमें ऐसा हुआ है। हमारे देशमें उपनिषत्-कालके बाद मानो इस विद्याकी समाप्ति हो गई है। बादमे वेद और उपनिषद्-विद्या पर केवल सूत्र रचने, टीकाये करने, उनका स्पष्टीकरण करनेके लिए पुराण रचने, कथाएं जोड़ने और उनका अध्ययन करके अलग-अलग अर्थोंकी समालोचना करनेमे ही तत्त्वज्ञानियो या पडितोने अपनी कृत-कर्तव्यता समझ ली है। विद्याकी शुद्धि-वृद्धि लगभग रुक गई है। क्योकि शोधनकी वृत्तिमे ही नास्तिकता समझी जाती है। और यदि किसीने कुछ जोडा भी है तो वह पीछेके द्वारसे, अर्थात् प्राचीनमे से ही मेरे अनुकूल ध्वनि निकलती है ऐसा बतलानेका प्रयास करके। जैसा हमारे देशमे है वैसा ही मुसलमान या ईसाई धर्मोमे भी है। जिस प्रकार भौतिक विद्याये किसी देश या धर्मकी खास बपौती नही है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान भी एक सार्वजनिक विद्या है, यह हमारे यहा स्वीकार नही किया गया। इससे न सिर्फ तत्त्वज्ञानकी शुद्धि-वृद्धि रुक गई है, बल्कि जीव सदैव भ्रमयुक्त ही बना रहता है।

भौतिक विद्याए दिनोदिन आगे बढती जाती है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि पुरातन कालकी भौतिक विद्याए बिलकुल असत्य ठहरती है। प्रकृतिके कुछ नियमोके ज्ञानकी शोध अवश्य अत्यत प्राचीन कालमे हुई थी। पर सदियोंकी प्रगतिके बाद भी यह कहनेका प्रसग नही आता कि वह ज्ञान भ्रमात्मक है। इसके विपरीत, जैसे जैसे काल बीतता जाता है वैसे वैसे उसकी सत्यताके विषयमे अधिक विश्वास होता जाता है। जितना सत्य इस श्रेणीका होता है, उसमें किसी भी प्रकारके सशोधन-परिवर्धनकी आवश्यकता नही रहती, परन्तु उस विद्याकी शुद्धि-वृद्धिका अर्थ है पहलेकी शोधोमे रही हुई भूलकी शुद्धि और अविकसित क्षेत्रका विकास। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानमे भी कुछ सनातन सत्योकी शोध इतने लम्बे कालसे हुई है कि जैसे जैसे काल व्यतीत होता जाता है वैसे वैसे उनकी प्रतीति दृढ होती जाती है। उस शोधमे सशोधन-परिवर्धनके लिए अवकाश नही है। परन्तु उसके क्षेत्रमे आनेवाले कुछ विषयोमे भूल और अज्ञानके होनेकी सभावना अवश्य है। इस भूलकी शुद्धि और अज्ञात विषयोकी शोध—यह तत्त्वज्ञानकी शुद्धि-वृद्धि है।

तत्त्वज्ञानके विषयमें एक दूसरा भी वहम फैला हुआ है, जिसके कारण सामान्य मनुष्य तत्त्वज्ञानीके विषयमे विचित्र भ्रान्त धारणाये रखते है और स्वय तत्त्वज्ञानमे भी विचित्र कल्पनाए घुस जाती है। रसायन-शास्त्री जब हीरे और कोयलेको एक तत्त्व कहता है, तब किसीको ऐसा नही लगता कि उसकी दृष्टिमे हीरा काला अथवा कोयला सफेद दिखाई देता होगा, अथवा वह हीरेको कोयलेके मूल्यमे खरीदने या बेचनेके लिए तैयार होगा। परन्तु जब तत्त्वज्ञानी कहता है कि जगत्का तत्त्व एक ही है अथवा जब यह कहता है कि दृश्य जगत्का स्वरूप माया या कल्पना है, तब सामान्य मनुष्य ऐसा मान लेते है कि उसे हीरा या कोयला एकसा ही दिखाई देता होगा अथवा उसे आखोके सामनेकी दीवाल दिखाई ही नही देती होगी। अलबत्ता, ऐसा खयाल पैदा करानेके लिए तत्त्वज्ञानकी निरूपण-पद्धति ही जिम्मेदार है, और ऐसा गलत खयाल पैदा हो सकता है, इसीलिए मै कहता हू कि उसमे शुद्धि-वृद्धिकी गुजाइश है। वस्तुत. रसायनशास्त्री अपने गहरे अवलोकन, प्रयोग और विचारसे ऊपरसे अत्यत भिन्न दिखाई देनेवाले हीरे और कोयलेके बीचकी वह एकरूपता देखता है, जो कि छिछली दृष्टिवाले साधारण मनुष्यको नही दिखाई देती। यही बात तत्त्वज्ञानके विषयमे भी है। रसायनशास्त्रीको मालूम होनेवाली हीरे और कोयलेकी एक-तत्त्वता काल्पनिक नही है, अथवा उसके शब्दो पर आप श्रद्धा रखे तभी उसे देख सकते है ऐसा भी नही है, वह आपको प्रयोगोंके द्वारा यह एकरूपता सिद्ध कर दिखाता है। यही पद्धति तत्त्वज्ञानके विषयमे भी है और होनी चाहिये। ऊपरी दृष्टिसे जिन धर्मोंकी शोध नही हो सकती उनकी शोध गहरे अवलोकनके द्वारा करना और इस अवलोकनके परिणामोको पद्धतिपूर्वक बतलाना, इसीका नाम शास्त्र है। तत्त्वज्ञानके विषयमे यह नही समझा गया, इसीलिए श्रद्धाका विचित्र अर्थ किया गया है, और सबके अनुभवमे न आनेवाली और न आ सकनेवाली कितनी ही कल्पनाओको श्रद्धाके विचित्र प्रयोगसे सिद्ध करनेका प्रयत्न हुआ है। ऐसी ऐसी जितनी बाते तत्त्वज्ञानमें मिल गई है, वे सब शास्त्र नही बल्कि (अधिकतर चित्ताकर्षक) कल्पनायें है।

हमारे यहा यह कहनेकी प्रथा है कि भौतिकशास्त्रो और तत्त्वज्ञानके बीच उत्तर-दक्षिणके जैसा विरोध है। इसे मैं गलत मानता हू। दोनोमें इतना ही भेद है कि भौतिकशास्त्र प्रकृतिके किसी एक वीचके स्थानसे विस्तारकी ओर अपना अन्वेषण करते है, जब कि तत्त्वज्ञान इस स्थानसे पीछे जाकर मूल तकका अन्वेषण करनेके लिए प्रयत्नशील रहता है। साख्य, वेदात, जैन चाहे जो दर्शन लीजिये; उनका विचार करने पर हमे मालूम होगा कि उन सबमे $\frac{९}{१०}$ भाग भौतिकशास्त्र (और आजकी वैज्ञानिक दृष्टिसे वहुत बार भ्रमात्मक भौतिकशास्त्र) है। तत्त्वज्ञानके साधकके एक हजार दिवसोमे से ९९९ दिवस प्रकृतिको समझनेमे ही व्यतीत होते होगे। यह अनिवार्य है। क्योकि प्रकृतिको समझे बिना तत्त्वज्ञान समझमे नही आता, और प्रकृतिको समझनेमे जितनी भूल रहती है उतनी भूल तत्त्वज्ञानमे भी प्रविष्ट हुए बिना नही रहती। तत्त्वज्ञान एक काल्पनिक शास्त्र है, ऐसी मान्यता इन भूलोके कारण ही पैदा हुई है।

अब आपका एक प्रश्न रहता है। भोगोका — वासनाओंका — नियमन करना चाहिये या उनका उच्छेद करना चाहिये? यदि आप हीरेके विषयमे रासायनिक सत्य जानना चाहते है, तो क्या यह हो सकता है कि आप हीरेको रखनेका लोभ भी करे और सत्यकी शोध भी करे? आप हिमालयके शिखर पर भी पहुचना चाहे और शीतसे वचना भी चाहे, यह भला कैसे हो सकता है? बीजका उपयोग न होने देना और फसलकी आशा करना, इन दोनोका मेल कैसे बैठ सकता है? उसी प्रकार जीवन-संवधी सत्यकी शोध तो करनी है, लेकिन उसके लिए जीवनको कसौटी पर नही चढाना है — भला यह कैसे वन सकता है? आपके भोग-विलास कायम रहे, कामनाए वढती रहे और आपको जीवन-विषयक सत्य प्राप्त हो जाय — यह तो जीवनको प्रयोगशालामे रखनेका इनकार करके जीवनको समझनेका प्रयत्न करनेके वरावर है। किसी सामान्य भावनाको सिद्ध करना हो, तो भी जीवनके भोगकी तृष्णाको अकुशमे रखना पडता है। पैसा कमानेकी वृत्तिका पोषण करनेके लिए भी मनुष्य दूर दूरके प्रदेशोकी यात्रा करता है, कुटुम्बसे

अलग होता है, धूप-छाह तथा भूख-प्यास सहन करता है, किफायत-शारी करता है और सयमका पालन करता है। स्वातंत्र्यके लिए मनुष्य जान-मालकी कुरबानी करता है; पातिव्रत्यकी भावनाको शिखर पर पहुचानेके लिए स्त्री चितामे जलकर मर जाती है। तब सारी विद्याओंसे अतिशय गहन विद्या, जिस पर अविचल शान्तिका आधार है, सरलतासे कैसे प्राप्त हो सकती है? भौतिक विद्याओका सशोधक सारा जीवन उनके लिए समर्पित कर देता है, तब कही जीवनके अन्तमे मुश्किलसे एक-दो अविचल नियमोकी शोध वह कर पाता है। यदि तत्त्वज्ञानी जीवनको समझना चाहता हो, तो उसे कमसे कम इतना समर्पण तो करना ही चाहिये या नही? और जीवन कोई बाह्य पदार्थ नही है। उसमें हम जितने पूर्वाग्रहसे चिपके रहते है उतने ही तत्त्वज्ञानसे दूर रहते है। तत्त्वज्ञान जीवनके विकासके प्रश्नके साथ मजबूतीसे जुड़ा हुआ है। इन सब बातोको हम खयालमे रखे, तो वासनाओका अन्त लानेके निर्णय पर आये सिवा कोई चारा नही है। जीवन-विषयक सत्यकी प्राप्ति उत्तर ध्रुवकी शोध है। उत्तर ध्रुव ही एक ध्येय है, वहा जाते हुए सुख मिलेगा, दु ख मिलेगा, जीवित लौटेंगे या बीचमे ही खप जाना होगा, यह विचार अप्रस्तुत है। इसी प्रकार जो मनुष्य सत्यकी प्राप्तिको ही अपना ध्येय बनाता है, उसके लिए सत्यकी प्राप्तिके मार्गमे सुखानुभव होता है या दु.खानुभव होता है, आयुष्य बढता है या घटता है, आनन्द होता है या शोक, ये विचार ही अप्रस्तुत है।

परन्तु वासनाओका अन्त करनेका एक खास तरीका है। हाथ पर लगी हुई मिट्टीको जिस प्रकार हम झटक देते या धो डालते है, उसी प्रकार वासनाए झटकी या धोई नही जा सकती, अथवा जैसे पौधेको मूलमे से उखाडा जा सकता है, वैसे वासनाओका उच्छेद नही हो सकता। परन्तु (जब साबुनका उपयोग नही होता था तब) जिस प्रकार मिट्टीके तेलकी दुर्गन्ध निकालनेके लिए नागरवेलके पानको हाथ पर मलते थे, उसी प्रकार मलिन तथा स्वसुखकी ही वासनाओको शुभ और परोपकारकी वासनाओंमे बदल देना चाहिये और ऐसी शुभ वासनाओंकी विवेकसे शुद्धि करनी चाहिये, तथा उनका इतना पोषण

करना चाहिये कि वे वासनाके रूपमे रहे ही नही, परन्तु केवल सात्त्विक प्रकृतिके रूपमे सहज गुण बन जाय। यही वासनाओका अन्त करनेका मार्ग हो सकता है।

इसलिए 'वासनाओका उच्छेद किया जाय' इन शब्दोका प्रयोग मै नही करता, परन्तु यह कहता हू कि वासनाओंकी उत्तरोत्तर शुद्धि की जाय। अशुभ वासनाओका शुभ वासनाओ द्वारा त्याग करना चाहिये और शुभ वासनाओको निर्मल करते जाना चाहिये। जिस प्रकार अत्यत महीन अजन आखमे खटकता नही है, जिस प्रकार फूलका सूक्ष्म पराग वातावरणको बिगाडता नही है, उसी प्रकार वासनाओका अत्यत निर्मल स्वरूप चित्त या जगत्के लिए अशातिकर नही होता। निर्वासनिकता और इस स्थितिके बीचमे कोई भेद नही है।

जीवन और जगत् दु.खरूप और मिथ्या है, ऐसा भी आपका पूर्वाग्रह बधा हुआ मालूम होता है। आपने यह बताया है कि बुद्धके चार आर्यसत्योमे यह पहला आर्यसत्य है। मै यह नही जानता। श्री कोसवीजीकी पुस्तको परसे मैने इसे दूसरी तरहसे समझा है, और उसका जैसा अर्थ मै करता हू वैसा ही 'बुद्ध और महावीर' पुस्तकमे समझाया गया है। वस्तुत जीवन और जगत् दु खरूप है या सुखरूप है, ऐसा एकान्तिक सिद्धान्त बनाना शक्य नही है। बौद्ध परिभाषामे कहू तो व्यक्त जीवनमे अनुकूल वेदनाए भी होती है और प्रतिकूल वेदनाए भी होती है। प्रतिकूल वेदनाए हो ही नही ऐसी स्थिति पर पहुचना असभव है। ऐसी वेदनाओमे से कुछ नैसर्गिक कारणोसे अनुकूल-प्रतिकूल लगती है, कुछ आग्रहपूर्वक पोषित रसवृत्तिकी कल्पनाओके कारण ऐसी लगती है। अग्निके साथ चमडीका स्पर्श होता है तब जो प्रतिकूल वेदना होती है, वह नैसर्गिक कारणसे होती है। अपने माने हुए फैशनके अनुसार न सिया हुआ कुरता पहननेसे होनेवाली प्रतिकूल वेदना कल्पना-बलके कारण होती है। ये अतिम दृष्टान्त है, परन्तु सब वेदनाओंके ऐसे दो विभाग किये जा सकते है। जहा तक भान है वहा तक नैसर्गिक वेदनाओकी अनुकूलता-प्रतिकूलता मालूम हुए बिना नही रहती। उन्हे धैर्यसे सहन करना चाहिये और वे प्रतिकूल

हो तो उन्हे दूर करनेके उपाय करने चाहिये। कल्पनापोपित वेदनाओंसे होनेवाले सुख-दु ख केवल विवेक-विचारसे दूर हो जाते हैं।

यह मेरी विचारसरणी है। मै नही कह सकता कि इससे आपका कितना समाधान होगा। जितना उपयोगी मालूम हो उतना आप इसमे से ले लीजिये।

२

जीवनका अर्थ*

स्वामी आनन्द एक आदमीका किस्सा कहते है:

एक गोरक्षा-प्रचारक थे। उन्हे जब कभी मौका मिलता, वे गायकी महिमा पर भापण देते और अनोखी दलीले करते थे। उदाहरणके तौर पर, चूना सफेद क्यो है? क्योकि गायका दूध सफेद है। बगुला सफेद क्यो है? क्योकि गायका दूध सफेद है। खादी सफेद क्यो है? क्योकि गायका दूध सफेद है। वगैरा वगैरा।

---

* प्रख्यात अमेरिकन विद्वान विल डयूरेण्टने जगत्के कुछ समर्थ पुरुपोसे नीचेके प्रश्न पूछे थे·

"इस मानव-जीवनका अर्थ क्या है? इस सारे ससारका फैलाव क्या निरर्थक नही मालूम होता?

"ज्ञान-विज्ञानकी इतनी खोजे होनेके बाद भी मानव-सुखकी कही झाकी दिखाई नही देती है। तो ज्ञानके पीछे बेतहाशा क्यो दौडा जाय?

"इस मानव-जीवनका अतिम तत्त्व क्या है? आपको काम करनेकी प्रेरणा किस बातसे मिलती है? किस चीजमे आपकी श्रद्धा है? क्या आपको धर्मका आधार मिलता है? आपकी शाति, सतोप और विश्राम किस पर निर्भर है? आप किसके आधार पर जीवनका यह महान आरम्भ-समारम्भ करते है?"

बम्बईके गुजराती साप्ताहिक 'युगान्तर' की प्रार्थनासे लेखक द्वारा इन प्रश्नोका दिया गया उत्तर।

ये दलीले हमें कुछ फिरे हुए दिमागकी निशानी जैसी मालूम होंगी।

जीवनका क्या अर्थ है? इस सवालका जवाब देते समय ऐसी ही दलीले दी जानेका डर है। इसके सम्बन्धमे नीचे दी हुई एक प्रश्नोत्तरीकी कल्पना की जा सकती है।

प्र०—मानव-जीवनके विस्तारका क्या अर्थ है?

उ०—वही जो दूसरे सूक्ष्म कीटाणुओसे लेकर सिंह और हाथी तकके जीवनका है।

प्र०—उनके जीवनका क्या अर्थ है?

उ०—वही जो पृथ्वीकी उत्पत्तिका है।

प्र०—परन्तु उसका भी क्या अर्थ है?

उ०—समग्र ब्रह्माण्डका जो अर्थ है वही।

प्र०—परन्तु इस ब्रह्माण्डका सारा विस्तार किसलिए है?

उ०—कोई ऐसा मानता है कि यह सब भगवानकी लीला है; कोई ऐसा मानता है कि यह सब जो दिखाई देता है, वह केवल माया है, अज्ञानके कारण दिखाई देनेवाला भास है। कोई कहता है कि यह भगवानका विविध रूपोमे आविष्कार है।

प्र०—परन्तु इन सबमे सत्य क्या है? आप क्या मानते है? और यह लीला, माया, आविष्कार वगैरा जो भी हो किसलिए है?

उ०—यह विश्वकी आत्माका स्वभाव ही है।

प्र०—परन्तु उसकी आत्माका स्वभाव ऐसा क्यो है? इस स्वभावका प्रयोजन क्या है?

इस प्रकार अखूट प्रश्नमाला चलाते रहने पर भी सभव है कि हम जहा थे वही रहे।

क्योकि इस प्रश्नका सच्चा उत्तर यह है कि हम "जानते नही।"

परन्तु "जानते नही" इतना कहनेसे मनको तृप्ति नही होती। हम जिसे अनुभवसे नही जानते, उसके सम्बन्धमे कल्पना करनेको मन उतावला बनता है। "कुछ खुलासा नही दे सकते" ऐसा कहनेमे हमारे

स्वाभिमानको धक्का लगता है। फिर चतुर व्यक्ति विविध कल्पनाएं करके उनका उत्तर ढूढते हैं। ऊपरकी प्रश्नोत्तरीमे अन्तिम उत्तर था, "यह आत्माका स्वभाव ही है।" वस्तुत यह "जानते नही" का ही अनुवाद है। क्योकि अतिम प्रश्नका उत्तर इतना ही दिया जा सकता है कि "स्वभावका अर्थ ही ऐसा गुण है, जो पदार्थके साथ अविच्छिन्न रूपसे जुड़ा हुआ हो।" गायके गलेमे झालर क्यो है? क्योकि वह गाय है, झालर नही होती तो वह गाय नही कहलाती। उसी प्रकार पैदा होना और पैदा करना, फैलना-फैलाना, समेटना-सिमटना इत्यादि विश्वके मूलमें रहे हुए तत्त्वका स्वभाव ही है। ऐसा उसका स्वभाव नही होता, तो उस तत्त्वका अस्तित्व ही क्या रह जाता?

मतलव यह है कि व्यक्तिका जीवन, मानव-जीवन, इतर जीवन या जड़ सृष्टि—सव कुछ विश्व-जीवनका एक अश ही है, और वह उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके चक्रमे चलता रहता है, यह हमारा उसके विषयमें अनुभव है। यह चक्र यदि किसी हेतुसे चलता हो, तो उस हेतुके विषयमें हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नही जानते। और हेतुको नहीं जाननेके कारण, उसके विषयमें कोई कल्पना करनेके वदले ऐसा कहना ज्यादा ठीक है कि वह उसका स्वभाव ही है।

मनुष्य उत्पन्न होते हैं, जीते हैं और मरते हैं। अपने जीवनकालमे वे समाजो और सभ्यताओको जन्म देते है, उनका विस्तार करते हैं और उन्हे समेट लेते है, अथवा उनकी उत्पत्ति, विस्तार और सको-चनके निमित्त वनते हैं। अतमें वे स्वयं ही विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक वार हो चुका है, ऐसा हमने इतिहास द्वारा सुना है। इस परसे "घानीका वैल सौ कोस चले फिर भी जहाका तहा" ऐसा अनेक वार लगता है। इस कारणसे यह प्रश्न उठा करता है कि आखिर इस सारे निर्माण और नाशका मतलव क्या है? इसके उत्तरके रूपमें निश्चित ज्ञान तो मिलता नही है, केवल कोई कल्पना उत्पन्न होती है। उससे कुछ व्यक्तियोका चाहे तात्कालिक समाधान हो जाय, परन्तु अतिम समाधान नही होता। क्योकि अतिम समाधान कल्पनासे नही वल्कि अनुभवसिद्ध ज्ञानसे होता है। और उसकी

शक्यता न हो तो वस्तुका स्वभाव तथा उस स्वभावके नियमोको जानकर उनके आधार पर जीवन-निर्माणके नियमोकी शोध करनेसे अतिम समाधान होता है।

*

व्यक्ति स्वय जीवनको निमत्रित नही करता। कमसे कम उसे ऐसा करनेका स्मरण नही है। वह हमे बिना मागे मिलता है। और फिर भी, शायद ही कोई मृत्युको न्योता देना चाहता है। कुछ व्यक्ति क्षणिक आवेशमे भले ऐसा करे, परन्तु अधिकतर मनुष्य अनिच्छासे ही मरते है।

पुराणोमे लिखा है कि एक जमानेमे हजार या दो हजार या इससे भी अधिक वर्षोकी सामान्य आयु थी। ये बाते सच्ची होगी ऐसा मान ले, तो भी उस आयुका अत तो आखिर आया ही। पांच हजार वर्ष तक जीवित रहनवाले व्यक्ति भी अधिक जीवित रहनेकी इच्छा न रखते हो ऐसा निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। कुछ व्यक्तियोकी धनसे कदापि तृप्ति नही होती, परन्तु अमुक सीमाके बाद उससे संतुष्ट होनेवाले वहुतसे व्यक्ति मिलेगे। परन्तु अधिक वर्षोका जीवन न चाहनेवाले मनुष्य थोडे ही होते है।

विना मागे मिली हुई चीजको छोडनेकी यदि इच्छा न हो, तो कहना चाहिये कि वह हमे मनपसद वरदान ही लगती है। तव जीवन किसलिए है यह प्रश्न ही अप्रस्तुत हो जाता है। वह आपको अच्छा लगता है, इतना ही कहना पर्याप्त है। अच्छा न लगता हो तो उसे छोड देनेका मार्ग सबके लिए खुला है।

परन्तु जीवन हमे अच्छा लगता है, इसलिए वह सदैव टिका रहे ऐसा भी सभव नही है। कुछ मानव चिरजीव है, ऐसा कथाएं कहती है। परन्तु हम उनसे कभी मिले नही, या वे हमारे परिचितोमे से किसीको मिले हो, ऐसा विश्वसनीय प्रमाण नही है। यह लेख पढनेवालोमे से कोई चिरजीव रहनेकी आशा रखता होगा या नही, इसमे भी शका ही है। इसलिए यह विना मागी भेट आखिर छोड़नी

ही पडेगी, ऐसा मानकर चलना चाहिये। रोग, घिसाई* या हिंसासे नही, तो किसी दिन दुर्घटनासे ही उसे छोडना पडेगा। जिस जमीन पर हम खडे है वही नष्ट हो जायगी, तो फिर हमारी तो वात ही क्या?

अधिकसे अधिक मनुष्य इतनी ही खोज कर सकता है कि रोग, घिसाई या हिंसासे उसकी मृत्यु न हो। यह सिद्धि अभी सबके लिए सुलभ नही है। इसके विपरीत मनुष्य जिस प्रकारका जीवन जीता है वह ऐसा है, मानो रोग, घिसाई तथा मृत्यु दूसरो तक पहुचानेका ही उसका उद्देश्य हो।

वस्तुत जीवनका अर्थ क्या है, इस प्रश्नका काल्पनिक उत्तर पानेका व्यर्थ प्रयत्न करनेकी अपेक्षा जो एक मार्ग हमारे सामने खुला है उसीको अपनाना अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। वह यह कि हम बिना मागे मिली हुई भेटके स्वरूपकी जाच करे, उसके अचल और चल नियम जाने और उसका अधिकसे अधिक तथा अच्छेसे अच्छा उपयोग करनेका तथा उस भेटको अतिम क्षण तक यथासभव ताजी और नवीन रखनेका प्रयत्न करे।

नयी बुनी हुई चादरके साथ जीवनकी तुलना करके कबीर कहते है.

सो चादर सुर-नर-मुनि ओढी,
ओढिके मैली कीनी चदरिया,
दास कबीर जतनसे ओढी,
ज्यौ की त्यौ धरि दीनी चदरिया।

---

* यहा बुढापेके बजाय घिसाई शब्द जान-बूझकर काममे लिया गया है। अधिक उमर हो जानेके फलस्वरूप होनेवाली घिसाई सृष्टिके नियमके अनुसार शायद अनिवार्य भी हो सकती है। वह बुढापेकी जरा या जर्जरता है। परन्तु भुखमरी, अत्यन्त परिश्रम, स्वच्छन्द या नियमहीन जीवन वगैराके कारण किसी भी उमरमे पैदा होनेवाली जर्जरता घिसाई कही जायगी।

मनुष्य बुद्धिमान होनेका घमण्ड करता है। परन्तु यह घमण्ड तो वैसा ही है जैसा दो वर्षका बालक माचिसकी पेटी जेबमे रखने और उसे सुलगानेका ज्ञान रखनेका घमण्ड करे। माचिसकी पेटी उसके पास है और वह माचिस जलाना जानता है, इसकी अपेक्षा ज्यादा महत्त्व इस बातका है कि माचिसका सही उपयोग करनेका विवेक उसमे है या नही। उसी तरह मनुष्य बुद्धि रखता है अर्थात् तरह तरहका वैज्ञानिक ज्ञान और युक्तिया जानता है और खोज सकता है, इसकी अपेक्षा उनका सही उपयोग करते आना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

आज हम अपनी प्रगतिके लिए फूले नही समाते। देखते देखते विज्ञानका कितना विकास हो गया है और शीघ्रतासे होता जा रहा है! यहा तक कहा जाने लगा है कि पंद्रह मिनटमे सारी सृष्टिमें भयकर उथल-पुथल मचायी जा सके इस हद तक विज्ञानका विकास होगा। पुराणोंने भगवानकी महिमा गाते हुए कहा है कि "उसकी भ्रकुटिके विलासमात्रसे ब्रह्माण्डोका प्रलय होता है।" यह सिद्धि आज मनुष्योके हाथमे आने लगी है। चंद्र और मगल, गुरु और शनिके साथ सपर्क साधनेकी कला वैज्ञानिक शोध सकेगा, ऐसी उसे आशा होने लगी है। भोगसिद्धि और रोगके भी अनेक इलाज खोजे जा रहे है। हिंसा करने और उससे बचनेके भी नवीन नवीन मार्ग खोजे जा रहे है।

परन्तु रोग, घिसाई और हिंसाका जीवनमे स्थान ही न रहे, न खुदको इनकी छूत लगे और न दूसरोको — इस प्रकारके जीवनके नियमोको ढूढने और उनके अनुकूल सस्कृतिको विकसित करनेकी बुद्धि अभी तक खोजी नही जा सकी है।

जीवन किसलिए मिला है, यह हम जानते नही। परन्तु जीवनके साथ जीवित रहनेकी वासना भी मिली है, इतना ही अनुभवपूर्वक हम जानते है। यह भी कहा जा सकता है कि जीवनकी अभिलाषाके साथ कमसे कम पाच दूसरी भेटोका भी मनुष्यको अनुभव होता है। वे है जिज्ञासा, कल्पनाशीलता, सर्जकता, सकल्प और श्रद्धामय आशा।

प्राणीमात्रको विना मागे जीवनकी भेंट मिली है, मनुष्यको जीवनके साथ ये अतिरिक्त भेंटे मिली हैं। ये भेंटे भी विना मागी मिली है, और ये किसलिए मिली है यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता। अत इतना ही कहा जा सकता हैं कि ये भेटें मनुष्यत्वके स्वभावभूत अग हैं।

जीवनकी तरह यह विना मागी पूजी भी स्थूल रूपमे अनन्त नही है। उसका भी नाश होता है। इसलिए उसका अर्थ और प्रयोजन ढूढनेकी अपेक्षा नाश होनेके पहले ही उसका अच्छेसे अच्छा उपयोग कर लेनेकी और उससे अधिकसे अधिक सतोप देनेवाला लाभ प्राप्त कर लेनेकी वुद्धिमत्ताका विकास करना, उसके अनुकूल परिस्थिति निर्माण करना और हो सके तो दूसरोको भी उसका मार्ग दिखाना ज्यादा महत्त्वकी वात है।

इतना तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि इन पाच प्रकारकी शक्तियोको अनियंत्रित रूपसे वहनेके लिए खुली छोड देना मानवकी सुख-शाति या उसके सतोपका सही उपाय नही है। इसलिए सयमकी तो आवश्यकता होगी ही। जिज्ञासा, कल्पनाशीलता, सर्जकता, सकल्प और आशा तथा उनके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाले भोगो और प्रवृत्तियो पर सयम रखना आवश्यक होगा।

सयम आवश्यक है, इसलिए विवेक आवश्यक है। किसी निश्चित नापसे क्या योग्य है और क्या अयोग्य है, इसकी परीक्षा और पसदगी करनेकी शक्ति होना जरूरी है।

और, सयम तथा विवेककी जरूरत है, इसलिए हमारी की हुई परीक्षा और पसदगीके मुताविक व्यवहार करनेकी आदतें डालना जरूरी है। केवल वुद्धिसे समझ लेनेसे काम नही चलेगा।

आदते डालने-डलवानेमे मेहनत करनी होगी, सव कुछ सरलतासे नही हो सकेगा। जैसे जैसे आयु वढेगी वैसे वैसे यह करना अधिक कठिन होता जायगा। समझके अनुसार आचरण न कर सकनेकी दुर्वलता पद-पद पर खटकती रहेगी और वह कभी भी शाति तथा सतोपका अनुभव नही होने देगी।

इसलिए सयम और विवेकपूर्वक जीवन जीनेकी आदत डालनेकी मेहनत शुरूसे ही करनी और करानी चाहिये; इसे जीवनका आधारभूत नियम कहा जा सकता है। यह परिश्रम कठोर न मालूम हो ऐसे तरीके खोजनेका प्रयास भले ही किया जाय, परन्तु कठोर मालूम होने पर भी उसे करना तो होगा ही, दूसरा कोई उपाय नही।

*

हमने ऊपर देखा कि साधारण तौर पर मनुष्य जीना ही चाहता है, मरना नही चाहता। फिर भी मनुष्य इस प्रकार आचरण करता दिखाई देता है, मानो रोग, घिसाई और हिंसाको अपने लिए न्योतना और दूसरो तक पहुचाना ही मानव-जीवनका उद्देश्य हो।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु'—ऐसा आचरणका नियम बताया जाता है, परन्तु कभी कभी यह नियम बहुत मार्गदर्शक नही होता।

व्यसनका सेवन करनेवाला दूसरोको भी व्यसनकी छूत लगानेका प्रयत्न करता है, और प्रेमसे करता है। वह दूसरोको अपने जैसा बनाना जाननेवाला तो जरूर कहा जा सकता है। परन्तु उसका यह काम रोग और घिसाईको दूर रखनेवाला नही है।

इसलिए 'समाजके हितके लिए' अर्थात् दूसरोको रोग, घिसाई और चोट न पहुचे इस दृष्टिसे आचरण करनेका नियम होना चाहिये।

रोग और घिसाई होनेके बाद उन्हे सुधारनेके इलाज ढूढना आवश्यक हो सकता है, परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि उनका निर्माण ही न होने दिया जाय। यही बात हिंसाके सम्बन्धमे है।

परन्तु हम तो उनका निर्माण करनेके पीछे ही रात-दिन लगे रहते है। उसे ही हम विज्ञान और सभ्यता मान बैठे है। एक ओर हम अधिकसे अधिक आनन्दके उपभोगके लिए व्यर्थ प्रयत्न करते है, उसके लिए चाहे जितनी मारकाट मचाते है, और दूसरी ओर कालके मुखमे दौडते जाते है और दूसरोको भी वेगसे उसी ओर घकेलते है। ऐसी हालतमे किसी दिन जीवनमे निराशा ही निराशा दिखाई दे और जीवन निरर्थक लगे तो आश्चर्य क्या?

*

जीवन किसलिए है, इसका निःशक उत्तर तो जब मिलना होगा तब मिलेगा। पर उसे सतोषकारक बनानेका नियम है "सामनेवाले जीवके हितके लिए जीना"। अर्थात् भोगमे सयम रखना, भोगप्राप्तिके साधन प्राप्त करनेमें सामनेवाले जीवके हितको हानि न पहुचे ऐसा सदाचार पालना, रोग, घिसाई और हिंसाके कारण दूर करनेवाले विज्ञानका विकास करना, इत्यादि।

और, सतोषके लिए मनमें यह बात भी दृढतासे बैठा लेना आवश्यक है कि इस बिन-मागे जीवनका अत आवेगा ही। वह भी अनसोचा और कदाचित् बिन-मागा होगा। उसके लिए सदैव तैयार रहना और सामनेवाले प्राणीके हितके लिए हसते हसते मृत्युके सामने जाकर भी उसका आलिंगन करना सीखना चाहिये।

यदि हम यह सब समझ सके और उसे जीवनमे उतार सके, तो जीवन किसलिए मिलता है, टिकता है और नष्ट होता है तथा वह किस दिशामें जा रहा है, इसकी कल्पना करनेका बहुत कुतूहल भी नही रह जायगा। पृथ्वी यह नही पूछती कि मै किसलिए सूर्यके चारो ओर फिरती ही रहती हू। गुलाब और पारिजात पूछते नही कि किसलिए हमे प्रातःकाल होने पर खिलना, सुगध फैलाना और सध्या होते समय कुम्हला जाना पडता है। चिडिया पूछती नही कि किसलिए हमे घोसले बाधना, अण्डे रखना और उन्हे सेना तथा बच्चोंके पख आने पर उन्हे छोड देना होता है। इसी प्रकार हमें भी यह पूछनेकी आवश्यकता नही है कि किसलिए हमें जीवित रहना चाहिये, समाज-रचना करनी चाहिये, सस्कृतिया विकसित करनी चाहिये, बलिदान देने चाहिये और नीति-नियमोकी रक्षा करनी चाहिये। अपना अपना कर्म निरन्तर करनेमे ही प्राणीमात्र सतोषका अनुभव करता है।

३१-१-'४६

३

संसारमें रस*

"अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिण:।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य . . . . ॥"[१] (गीता २–१८)

"नाऽहं जातो जन्ममृत्यू कुतो मे?
नाऽह चित्त शोकमोहौ कुतो मे?"[२]
(शकराचार्य, आत्मपञ्चक–६)

अर्थात् आत्मा अजर-अमर है, तथा एक ही अमर आत्माके ये सब शरीर है, और मेरा स्वरूप वह आत्मा है, शरीर नही। ऐसा उपदेश देने पर भी ये ही ग्रन्थ या इनके जैसे दूसरे ग्रन्थ यह भी कहते है

---

* गुजराती 'जीवन-शोधन' की पहली आवृत्ति ई० स० १९२९ में प्रकाशित हुई, उसके पहले उसका 'मरणोत्तर स्थिति' नामक प्रकरण लिखा गया था। प्रकरण ३, ४ और ५ मे आये हुए विचार सर्वप्रथम १९४२ मे मुझे सूझे थे और उन्हे मैंने दो लेखोमे विकसित किया था। इन प्रकरणोमे उन दो लेखोका बहुतसा भाग आया है, साथ ही इस विचारका अधिक विकास भी हुआ है। 'जीवन-शोधन' मे और इन लेखोमे मृत्युके विषयमें ही विचार किया जाने पर भी दोनोमे भिन्न-भिन्न दृष्टिसे विचार किया गया है। यह वाचकको पढ़ते ही मालूम हो जायगा।

१. नित्य, अविनाशी और अप्रमेय आत्माके ये सब देह नाशवत बताये गये हैं।

२ मैंने कभी जन्म ही नही पाया, तो मुझे जन्म-मृत्यु कैसे हो? मै चित्त नही हू, तो मुझे शोक-मोह कैसे हो?

"जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दु:ख-दोषानुदर्शनम् । . .
"एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञान यदतोऽन्यथा ॥"*
(गीता १३-८, ११)

"पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम् ।"
(शंकराचार्य, चर्पटपञ्जरिका, स्तोत्र-८)

(पुन. पुनः जन्म, पुनः पुनः मृत्यु और पुन पुन माताके उदरमे गर्भवास ।)

ये विचार केवल हिन्दू धर्ममें ही नही है। सभी धर्मोके संतोने ससारके प्रति वैराग्य पैदा करनेके लिए मृत्युरूपी अवश्य होनेवाली घटनाका उपयोग कर लिया है।

"जावु जरूर मरी, मेलीने सर्वे जावु जरूर मरी।"[1]
(निष्कुलानन्द)

"कर प्रभु सगाथे दृढ प्रीतडी रे, मरी जावु मेली धनमाल,
अतकाळे सगु नही कोईनु रे।"[2] (देवानन्द)

"आ तनरग पतग सरीखो जाता वार न लागे जी।"[3]
(ब्रह्मानन्द)

"इस तन-धनकी कौन बडाई, देखत नैनोमे मिट्टी मिलायी,
अपने खातर महल बनाया,

---

* जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दु खादि दोषोका ठीक अवलोकन —यह ज्ञान है। इससे विपरीत अज्ञान है।

१ मरना तो अवश्य होगा, सब कुछ यही रखकर मरना अवश्य होगा।

२ हे मनुष्य, तू प्रभुके साथ दृढ प्रीति कर। सब धन-माल छोडकर तुझे मरना ही होगा। अन्तकाल आयेगा तब सगे-सम्बन्धी कोई काम नही आयेंगे।

३ इस शरीरका रग पतिंगे जैसा क्षणभरमें नाश हो जानेवाला है।

आप ही जाकर जगल सोया;
कहत 'कबीरा' सुनो मेरे गुनिया,
आप मुए पीछे डूब गई दुनिया।"

"ऐ मुसाफिर कूचका सामान कर,
इस जहामे है बसेरा चन्द रोज,
याद कर तू ऐ 'नजीर' कबरोके रोज
जिन्दगीका है भरोसा चन्द रोज।"

"मिट्टी ओढावन, मिट्टी बिछावन,
मिट्टीमे मिल जाना होगा।" (कमाल)

इस तरह सैकडो सन्तोके ऐसे सैकडो उद्गार यहा दिये जा सकते है। मेरी अपनी मनोवृत्ति भी इससे भिन्न प्रकारकी नही थी। मनुष्य मृत्यु-पर्यंत ससारके कामोमे दिलचस्पी लेता रहे, यह मुझे ठीक नही लगता था। ऐसा लगा करता था कि इसमे अज्ञान तो है ही। हमेगा ऐसा खयाल बना रहता था कि जिस तरह होशियार मुसाफिर रेलगाडीके आनेसे पहले ही अपना सारा सामान तैयार रखता है, उसी तरह मृत्यु अभी आनेवाली है ऐसा मानकर मनुष्यको अपना कामकाज समेट कर रखना चाहिये। मेरी ऐसी कुछ मनोवृत्ति बन गई थी कि जीवनके आखिरी दिनोमे ससारके कामोसे हट जाना चाहिये, नई जवावदारिया नही लेनी चाहिये और निवृत्ति लेकर शात बैठ जाना चाहिये।

दूसरी तरफ, बहुतसे मनुष्योके जीवनको ध्यानसे देखने पर ऐसा भी अनुभव हुआ है कि जैसे जैसे मनुष्यकी उमर बढती जाती है, वैसे वैसे उसकी ज्यादा जीनेकी अभिलाषा और ससार-विषयक चिन्ता घटनेके बजाय बढती जाती है। पच्चीस वर्षकी उमरमे निश्चयपूर्वक यह कहनेवाले कि पचास या पचपन वर्षकी उमरमे निवृत्त हो जाना चाहिये अथवा ज्यादा वर्षो तक जीना ठीक नही है और पचास-पचपन वर्षके मनुष्यको 'बूढा' या 'बुढिया' कहनेवाले लोग जब खुद इस उमरमे पहुच जाते है, तब कुछ वर्ष और जीनेकी इच्छा रखते है और कोई उन्हे वृद्ध कहता है तो नाराज होते है। और यह इच्छा उमरके साथ बढती ही जाती है। यह वृत्ति केवल अज्ञानी व्यक्तिकी ही होती है

ऐसा भी नही। ससारको अच्छी तरह 'माया', 'स्वप्न', 'मिथ्या' समझनेवालोकी भी होती है। शरीरकी अशक्तिके कारण भले ससारसे निवृत्त होना पडे या मरना पडे, परन्तु वह अच्छा नही लगता। सौ वर्ष तक जीवित रहनेकी इच्छा चालीसवे वर्षमे जितनी तीव्र होती है, उसकी अपेक्षा ८० वे वर्षमे ज्यादा तीव्र होती है। मरनेके वाद अपनी प्रवृत्तियोकी और अपनी रची हुई 'माया'की व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिये, इस विषयमे भी उनके आग्रह और अभिलाषाए होती है। अत्यन्त पिछडे हुए आदिवासीसे लेकर अतिशय विद्वान् तत्त्वज्ञानी तक किसीका भी जीवन देखिये, हरएकके मनमे अपने शरीरके नाशके वाद रहनेवाले इस जगतके लिए कुछ न कुछ रस दिखाई देता है। एक व्यक्ति सततिके द्वारा अपनी जीवन-परम्परा चालू रखना चाहता है। (सततिका अर्थ ही विस्तार होता है।) दूसरा अपनी खुदकी सतानके अभावमे किसीको दत्तक लेकर सतानका सतोष प्राप्त करनेकी कोशिश करता है। तीसरा दान-धर्मादिसे अपनेको अमर करना चाहता है। चौथा अपने ग्रथो और कला द्वारा, पाचवा अपने वीर कर्मो द्वारा तथा छठा ऐसी सस्थाए स्थापित करके अपनेको अमर वनाना चाहता है, जो मृत्युके वाद ससारमे प्रकाश और आश्वासन फैलानेका काम करे। सातवा अपने उपदेशो द्वारा ऐसी सभी प्रवृत्तियोको अज्ञान-युक्त और जगत्को मृगजलके समान झूठा समझाता तो है, परन्तु वह भी इसी ससारमे इन्ही सिद्धान्तोका पीढी दर पीढी वरावर प्रचार होता रहे इसके लिए सम्प्रदाय स्थापित कर जाता है। इस वारेमे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, आस्तिक, नास्तिक, गोरा, काला, पीला, लाल, कोई भी अपवाद नही है। ज्ञानियोने साधना और कामना कर करके इस रसका नाश करनेकी कोशिश की है। परन्तु जिन्होने वहुत प्रखर साधना की है, वे ही अपने पीछे अधिक कीर्ति या सम्प्रदाय या शिष्य छोड गये है।

ऐसा विरोध क्यो है? धर्म और तत्त्वज्ञानकी सामान्य मान्यताए इसका सतोषकारक उत्तर नही दे सकती। जिस तरह हम साधारण तौर पर जगत्के धर्मों और तत्त्वज्ञानको समझते है, उस परसे हमने ऐसा माना है कि शरीर तो मरता है और मरने ही वाला है, परन्तु

हरएकका जीवात्मा अर्थात् व्यक्तित्व अमर है। हिन्दू धर्मके अनुसार वह अमर जीवात्मा पुन जन्म और पुन मृत्युके चक्रमे पडता है। उसकी मोक्षरूपी एक अवधि है जरूर; परन्तु वह तो 'किसी सिद्ध यति' के लिए ही है। अहिन्दू धर्मोंके अनुसार उस अमर जीवात्माको शरीरके नाशके बाद कयामतकी राह देखते हुए कब्रमे वास करना पडता है। परन्तु दोनोमे से एक भी मान्यता ऐसी कोई आशा नही दिलाती कि वह जीवात्मा जिस ससारमे शरीर धारण करके रहता था, उस ससारके साथ वह अवश्य किसी तरह जुडा रहेगा। पुनर्जन्मकी मान्यताके अनुसार तो मरनेवालेका पहला निवास प्रेतलोक या स्वर्गलोक या नरकमे होता है, और बादमें अपने कर्मानुसार वह किस अच्छी या बुरी योनिमे जन्म लेगा यह कहा नही जा सकता। वह कीटाणुसे लेकर ब्रह्मा तक चाहे जिस योनिमे पैदा हो सकता है। परन्तु अपने परिचित संसारके साथ उसका सम्बन्ध बना रहेगा, इसका उसे बिलकुल विश्वास नही होता।

इस तरह जीवात्माका व्यक्तित्व अमर है, इस सिद्धान्तसे जीवात्माका मृत्युके बाद इस ससारके लिए जो रस रहता है उसका खुलासा नहीं मिलता। और यह रस तो सबमे किसी न किसी रूपमे दिखता ही है।

इसके लिए हमे मनुष्यकी चित्त-शक्तिका अधिक गहरा अभ्यास करना होगा। हम आत्मा या परमात्माका स्वरूप बराबर समझने-समझानेके काबिल हो या न हो, मनुष्यका चित्त (मन और बुद्धि) तो सबके परिचयकी वस्तु है। जैसे जैसे उसका विकास होता है वैसे वैसे उसके रसो और कामोमे कैसा फर्क पडता जाता है, यह हम देख सकते हैं। मनुष्य विकसित होकर बाल्यावस्थासे तारुण्यमें आता है तब कैसा फर्क पड़ता है और सकुचिततामे से विशालताकी तरफ जाता है तब कैसा फर्क पडता है, उसे हम समझ सकते हैं। उस परसे हम देख सकते है कि मनुष्यको अपने शरीर पर चाहे जितना मोह हो, उसे बलवान, सुखी और दीर्घायु बनानेके लिए वह चाहे जितना प्रयत्न करे, तो भी जैसे जैसे उसकी दृष्टि (बुद्धि) और रस (मन) खिलते जाते है और विशाल होते जाते हैं, वैसे वैसे उसे मानो

यह लगता जाता है कि उसका यह प्राणवान शरीर ही उसका जीवन नही है, परन्तु समग्र सृष्टिका जितना अंश वह अपना बना सकता है वह सब मानो उसका अपना ही जीवन है, शरीर पैदा होते है और मरते है, उसी तरह उसका शरीर भी कभी मरेगा, परन्तु जगत् तो चलता ही रहेगा और उसके जिस अंशमे उसका ममत्व है वह अंश भी कायम रहेगा। उसके मन तथा बुद्धिके विकास और शुद्धिके अनुसार यह अंश देश, काल तथा गुणके अधिक भागमे व्याप्त होता है; अर्थात् अपने शरीरसे ज्यादा बड़े भागके साथ उसकी आत्मीयता होती है, वह ज्यादा लम्बी निगाहसे देखता है और अधिक ऊचे तथा विविध गुणोका खयाल करता है। और इस विकासके प्रमाणमे ही वह अपने शरीर या सुखके लिए जो कुछ करता है, उसकी अपेक्षा अपने पीछे रहनेवाले जगत्के सुखके लिए अधिक मोह रखता है। और उसका यह मोह इतना बलवान हो जाता है कि मौका आने पर वह उसे अपने व्यक्तिगत सुखोका और शरीरका भी बलिदान करनेकी शक्ति देता है।

कभी कभी मनुष्य अपने जीवनकी मर्यादा अपनी शारीरिक आयु तक ही बाधता जरूर है। परन्तु बुद्धिका विकास होनेके बाद कोई भी मनुष्य जीवनको हमेशा उतनी ही मर्यादामे बधा हुआ नही समझता। शास्त्रोके आधार पर वह स्वर्ग, नरक, मोक्ष इत्यादि पर-लोकोमें श्रद्धा रखता है तथा वहा अपने अलग अस्तित्वको टिका हुआ देखनेकी श्रद्धा भी रखता है। उसी तरह स्वप्न, निद्रा, मूर्छा इत्यादि शारीरिक अवस्थाओके भेदके कारण ससारको मिथ्या, माया, इन्द्रजाल, भासमात्र आदि माननेका प्रयत्न करता है। कभी योगाभ्यास करके समाधिमें भी लीन होता है। परन्तु जाग्रत जीवनमे अनुभव किये जाने-वाले विश्वव्यापी जीवनको अपने जीवनकालमे — और चित्तभ्रम न हुआ हो तो सदाके लिए — भूल जानेमे वह कभी सफल नही होता। यह व्यापक जीवन-सम्बन्धी उसकी दृष्टि अल्प हो सकती है; परन्तु शरीरसे परे और शरीरके पीछे रहनेवाले ससारमे वह फैले बिना नही रहती। भले ससार क्षण-क्षणमे बदलता रहता हो, फिर भी जिस तरह नदीके पानी, किनारों, बहावके वेग और मार्गके सदैव बदलते रहने पर भी

उस प्रवाहकी अखडितताकी प्रतीति और रस बना रहता है, उसी तरह सदैव बदलते रहनेवाले ससारमे भी वह प्रवाहकी अखण्डता देखता है और उस कारणसे ससारमे उसका रस मिट नही सकता । ऐसा हो सकता है कि अपने ससारकी मर्यादा और उसके हिताहितका विचार करनेकी उसकी शक्ति अल्प हो और उसके रस अशुद्ध हो, और इससे वह एक छोटेसे क्षेत्रको ही सारी दुनिया तथा अल्प हितको ही समग्र हित मान ले । अल्पता और अशुद्धिके ये दोष ज्ञान और योग्य शिक्षा द्वारा तथा अनुकूल परिस्थिति पैदा करनेसे कम होते हैं। परन्तु मनुष्यत्वका विकास इस रसका नाश करनेके प्रयत्नमे नही, बल्कि उसका उचित पोषण करनेमे है।

४

जीवनमें मृत्युका स्थान

"अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।"

—जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्ययका नाश करनेमे कोई समर्थ नही है।

"न जायते म्रियते वा कदाचित्
नाय भूत्वा भविता वा न भूय ।
अजो नित्य. शाश्वतोऽय पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।"

—यह कभी जन्मता नही है, कभी मरता नही है । यह था और भविष्यमे नही होगा ऐसा भी नही है। इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है। शरीरका नाश होनेसे इसका नाश नही होता।

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।"

—हे भारत, भूतमात्रकी जन्मसे पहलेकी और मृत्युके वादकी अवस्था देखी नहीं जा सकती; वह अव्यक्त है, वीचकी ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमे चिन्ताका क्या कारण है?

"देही नित्यमवव्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्व शोचितुमर्हसि ॥"

—हे भारत, सवकी देहमे विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवघ्य है, इसलिए मूतमात्रके विषयमें तुझे शोक करना उचित नही है।

(गीता २–१७, २०, २८, ३०)

विश्वके विस्तार और क्षण-क्षणके सर्जन-विनाशमे दिखायी देने-वाला व्यापक जीवन शारीरिक जीवनके जितना ही जीवनका महत्त्वपूर्ण रूप है। यह व्यापक जीवन जिस तरह किसी शरीरके धारण, पोषण तथा चित्तके विकास द्वारा प्रभावित होता है, उसी तरह वह नाशके द्वारा भी प्रभावित होता है। उदाहरणके लिए, असाध्य रोग वुढापा या पागलपनसे निकम्मा वना हुआ शरीर केवल उसके धारण करने-वालेको ही भाररूप नही होता है; परन्तु उसके आसपास फैले हुए जीवनके रास्तेको भी रोकता है। उसकी मौतसे थोडी देरके लिए खेद होता है या वनाई हुई कुछ योजनाए विगड जाती है परन्तु परिणाममे मृत्यु खुद मरनेवालेके लिए तथा आसपासके जीवनके लिए सहायक और आगेके विकासके लिए एक आवश्यक घटनाके समान ही होती है। जव अनिच्छासे अथवा तथाकथित 'कुदरती कारणोंसे' मौत होती है तव भी ऐसा ही होता है। वलात्कारसे होनेवाली मौतके नतीजे इससे भी ज्यादा स्पष्ट दिखायी देनेवाले होते है। ऐसा न होता तो कभी खून या लडाई करनेकी वृत्ति ही मानवमे पैदा न होती। जीवित प्राणियोको मारा जाता है, क्योकि मारनेवालोका यह सही या गलत खयाल होता है कि मरनेवालेके देह-धारणकी अपेक्षा उसके देहनाशसे पीछे रहनेवालोका जीवन—अर्थात् व्यापक जीवन—अधिक अच्छी तरहसे विकसित होगा। यह सहज ही समझमे आनेवाली वात है। उदाहरणके लिए, मौत खुद एक रोज घटनेवाली घटना है, फिर भी यदि किसी सयोगसे एकाव महायुद्धके किसी मुख्य पात्रकी मौत

हो जाय, तो उस युद्धमे हुई सभी मौतोका विशाल जीवन पर जो एकत्रित असर होता है उसकी अपेक्षा भी इस मौतका असर बढ जाता है। इसी तरहसे अपनी इच्छासे की गई या स्वीकारी हुई मौत भी जीवन-कालमे उन प्राणियोके द्वारा की हुई प्रवृत्तियोकी तरह ही व्यापक जीवनको विकसित करनेमे या उसे ऊपर उठानेमे वलवान साधन वन सकती है। कुछ ऐसे प्रसगोकी भी कल्पना की जा सकती है, जव जीवित प्राणियोकी अत्यन्त बुद्धिपूर्ण और तीव्र प्रवृत्तिकी अपेक्षा उनकी मौतका बल ज्यादा प्रभावशाली होता है। यदि ऐसा अनुभव न होता हो तो शहीद बननेका किसीमे उत्साह या श्रद्धा ही पैदा न हो। ऐसा लगता है कि ऐसे प्रसग पर होनेवाली मौत जीवनकी किसी प्रकारकी गुप्त अथवा रुकी हुई शक्तिको प्रगट या मुक्त करती है। वह शक्ति देह-धारणकी अवधिमे सारे प्रयत्न करने पर भी सफल नही हो सकती थी। परन्तु देह छूट जानेके वाद थोडे ही समयमे वह जीवनकी प्रगतिको रोकनेवाली बाधाको दूर कर देती है।

प्राणी मृत्युको जीवनका शत्रु ही समझता है। परतु जीवनका अनुभव हरएकको धीरे धीरे समझाता है कि मृत्यु जीवनका मित्र भी है। योग्य समयमे मृत्यु न हो तो वह प्राणी अपने-आपको तथा दूसरोको अप्रिय लगने लगता है और भाररूप हो जाता हैं तथा दूसरोके विकासमे वाधक भी होता है। वहुत थोडे आदमी ऐसे भाग्यशाली होते है, जो अपनी उपयोगिता पूरी होते ही तुरन्त चले जाते है। परन्तु मृत्युकी यह सेवा उसकी घटनाके समय ध्यानमे नही आती। इसलिए प्रियजनो पर उस समय तो शोककी छाया फैल जाती है। परन्तु धीरे धीरे यह अनुभव होता जाता है कि मौतने जो काम किया, वह दस वर्षके अधिक जीवनसे भी शायद नही हो पाता। विशाल जीवनको उन्नत करनेके लिए मौत कितनी जवरदस्त शक्ति निर्माण कर सकती है, इसके दृष्टान्तके तौर पर हजरत ईसा और उनके पहले शिष्योके, कुछ सिक्ख गुरुओके तथा साधु टेलेमैक्सके आत्म-वलिदान प्रस्तुत किये जा सकते है। इन सवने मानव-जीवनका प्रवाह वहुत ज्यादा वदल डाला है।

इस तरह तटस्थतासे विचार करने पर मृत्यु जीवित दशाकी तरह ही जीवनको विकसित करनेवाली मालूम होती है। जब किसीको ऐसा साफ मालूम हो जाय कि किसी कारणसे मेरी प्राणशक्ति प्रभावशाली ढगसे काम नही कर सकती अथवा आसपासके जीवनमे योग्य शक्तिका निर्माण करनेमे निष्फल रहती है और जीवनकी उन्नतिके लिए वैसी शक्तिका निर्माण होना जरूरी है, तब स्वेच्छासे मृत्युको निमत्रण देना उसका कर्तव्य हो सकता है। मोक्ष अथवा स्वर्गप्राप्ति जैसे किसी व्यक्तिगत लाभकी दृष्टिसे यह कदम उठानेकी जरूरत नही है, अथवा नही होनी चाहिये। फोडे पर नश्तर लगानेकी शारीरिक शस्त्र-क्रियाकी तरह ही इसका निश्चय होना चाहिये। व्यापक जीवनके साथ अत्यत आत्मीयताका अनुभव हो तभी ऐसा निश्चय हो सकता है।

यह निश्चय हो जाय तभी ऐसी स्थिति आ सकती है कि—

"गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पडिता.॥"[१]

(गीता २–११)

और

"एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥"[२]

(गीता २–७२)

---

१. पडितजन मृत और जीवितोका शोक नही करते।

२. हे पार्थ, ब्रह्मको पहचाननेवालेकी स्थिति ऐसी होती है। उसे पाने पर फिर वह मोहके वश नही होता और यदि मृत्युकालमे भी ऐसी ही स्थिति बनी रहे तो वह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

५

मृत्यु पर जीत

अब सोचने योग्य प्रश्न यह है कि यदि मृत्यु भी जीवनका ही एक रचनात्मक बल और जीवनको विकसित करनेवाला साधन हो और किसी प्राणीने अपनी मृत्यु कभी देखी ही नही यह बात सत्य हो, तो प्राणीमात्रको मृत्युसे इतनी ज्यादा नफरत और डर क्यो होता है? प्राण-धारणसे सच्चा वैराग्य मुश्किलसे ही क्यो हो सकता है? ससार दु खरूप ही है ऐसा कहनेवाला और ससारमे दु खका ही ज्यादा अनुभव करनेसे बार बार मृत्युकी इच्छा प्रकट करनेवाला मनुष्य भी आत्महत्याका प्रयत्न करनेके बाद जब मौत सचमुच उसके सामने आकर खडी होती है, तब दो क्षण अधिक जीनेकी इच्छा रखता हुआ तथा उससे बचनेके लिए निष्फल प्रयत्न करता हुआ देखा जाता है।* हमारा स्नेहीजन बीमारीसे उठ सके ऐसी उसकी हालत नही है; वह सिर्फ पीडा सहन करता रहता है; उसकी उमर वगैराको देखते हुए वह मर जाय तो उचित समयमे ही मरा ऐसा माना जायगा— यह समझते हुए भी डॉक्टर और उसके सगे-सम्बन्धी उसकी आयुष्य-डोरको दो घण्टे तो भी ज्यादा लम्बी करनेके लिए छटपटाते है

---

* यहा मुझे एक पाठ्यपुस्तककी वार्ता याद आती है। एक बूढा गरीब लकडहारा लकड़ीका बोझ लेकर जगलसे आ रहा था। रास्तेमे थक जानेके कारण बोझको जमीन पर फेक कर वह गहरी आहके साथ "हे राम, अब तो मौत आ जाय तो अच्छा!" कहता हुआ बैठ गया। तुरन्त ही उसके सामने एक पुरुष आकर खड़ा हुआ और उससे पूछने लगा. "क्यो भाई, मुझे कैसे याद किया?" लकडहारेने पूछा, "तुम कौन हो?" उसने कहा, "मृत्यु — तुमने अभी मुझे याद किया था न?" लकडहारा थोडा घबराया परन्तु चालाकीसे बोला, "भाई, जरा यह बोझ मेरे सिर पर चढा दो न!"

और वैसा करनेमे ही अपना स्वधर्म मानते है। शास्त्र भले यह कहे कि जीव अजर और अमर है और वार वार जन्म लेता है, अर्थात् अपना व्यक्तित्व कायम रखता है, फिर भी मनुष्यका वरताव तो ऐसी ही श्रद्धा प्रकट करता मालूम होता है कि जीवनके मानी आयुष्य है और आयुष्यके मानी जीवन है; तथा आयुष्यके अन्तमे व्यक्तित्वका नाश हो जाता है और व्यक्तित्वके नाशके मानी है अन्धकार! इस तरह मरनेवालेका या उसके स्नेहियोका मृत्युसे समाधान नही होता, इसका कारण क्या है?

यह वात सत्य है कि असमाधानका एक कारण दोनोका पारस्परिक स्नेह है। वियोगका दु ख होता है और वह होना स्वाभाविक है। परन्तु जिसके साथ स्नेहका कोई सवव नही होता, उसे भी हम मौतसे वचानेका प्रयत्न करते है और उसे मरता देखकर खेद प्रकट करते है। यह समभाव है। और इसके पीछे एक ही श्रद्धा काम करती हुई मालूम होती है। वह यह कि 'जीता नर घर वसाता है', मरनेवाला नही वसाता। 'मृत्यु मगल-स्वरूप है' ऐसा अनुभव करना वहुत कठिन है।

ऐसा मानना ठीक नही कि तत्त्वज्ञानके सिद्धातसे विपरीत ऐसी उलटी मनोवृत्तिका कारण केवल अज्ञान ही है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जिस अवस्थाका अभ्यास या अनुभव नही होता, उससे मनुष्यको डर लगता है। जिसे अंधेरेका अभ्यास न हो उसे अंधेरेका डर लगता है, जिसे जगलका अभ्यास न हो उसे जगलका और जिसे शहरका अभ्यास न हो उसे शहरका डर लगता है, पानीमें मुसाफिरी करनेका अभ्यास जिसे न हो उसे स्टीमरका डर लगता है। मृत्युका पहले कभी अनुभव किया हो ऐसा किसीको याद नही होता, तव फिर उसका अभ्यास तो हो ही कैसे सकता है? यह वस्तु अतमे अच्छी और सुखप्रद हो तो भी जिस तरह अधेरेमें अथवा पहली वार पानीमें अथवा पैरेशूट लेकर हवामें कूदते समय डर लगता है, उसी तरह इसका डर लगना सभव है।

परन्तु इससे भी गहरा और महत्त्वपूर्ण एक दूसरा कारण भी उसके पीछे रहता है। वह है मरनेवाले व्यक्तिकी असिद्ध रही हुई कामना। जब तक मानवको ऐसा लगता है कि कुछ जानना, भोगना और करना बाकी रह गया है और उससे पहले ही शरीर-यत्रके रुक जानेका डर पैदा हो गया है, तब तक श्रद्धालु भक्त हो, वेदाती ज्ञानी हो अथवा सच्चा नास्तिक हो, किसीकी भी जीनेकी अभिलापा मिट नही सकती। मुसाफिरी बाकी हो और मोटरका पेट्रोल खतम हो जाय या टायरमे छेद हो जाय, तो मुसाफिर ज्ञानी हो या अज्ञानी वह निराश हुए बिना कैसे रह सकता है? लेकिन सभव है मुसाफिरी पूरी होनेके बाद मोटरका चाहे जो हो जाय तो भी उसको शोक न हो।

जीनेकी अभिलाषा मनुष्यकी कामना और शरीर-यत्रके बीच मेल न होनेका परिणाम है। "मारो हसलो[1] नानो ने देवळ[2] जूनु तो थयु।" (मीराबाई) अर्थात् कामनाए बाकी रही और शरीर उन्हे सिद्ध करनेके लायक नही रहा और उसके पहले ही टूटने लगा। कभी इससे उलटा होने पर शरीर-धारण भाररूप है, ऐसा भी अनुभव होता है। मनुष्य जो कुछ करनेकी उमग रखता था वह कर चुका, अब ज्यादा सोचनेकी या कामना करनेकी ताकत भी नही रही, शरीर भी जर्जरित हो गया है; परन्तु उसके हृदयका मासपिण्ड ऐसा मजबूत है कि उसकी गति थमती ही नही और वह वर्षो तक शरीरको टिकाये रखता है। इसकी तुलना कुम्हारके चक्रकी गतिके साथ की जा सकती है। 'हसलो' छोटा रहे और 'देवळ' पुराना हो जाय, उस स्थितिसे यह उलटी स्थिति है।

परतु 'हसलो' भी छोटा और बलवान हो और 'देवळ' भी मजबूत हो और फिर भी 'देवळ'को तोड डालने या टूटने देनेका — अर्थात् मृत्युसे भेटनेका प्रसग आने पर हिंमत और समाधान रहे, तब हममे "मृत्यु मरी गयु रे लोल"* (मृत्यु मर गई) गानेकी योग्यता आयी, ऐसा कह सकते है। यह कब होता है?

---

१ हसलो = आत्मा। २. देवळ = शरीर।

* गुजराती कवि नरसिंहरावकी कविताकी एक पक्ति।

जब किसी मनुष्यके जीवनका ध्येय ऐसा दीर्घकालीन और निःस्वार्थ हो कि उसकी ही जिंदगीमें उसका पूरी तरह सिद्ध होना असभव हो; इतना ही नही, उसकी सार्वजनिकता और कठिनाईके कारण वह अनेक व्यक्तियोके समग्र जीवन-कर्म और बलिदानोकी भी अपेक्षा रखता हो, तो वैसा ध्येय दूसरे ध्येयोकी तरह पूर्णतया उदात्त न होने पर भी अपने साथ ओतप्रोत होनेवाले व्यक्तिको अपना शरीर हिम्मत और सतोषपूर्वक छोड देनेकी शक्ति देता है। उस मनुष्यको उस ध्येयकी सिद्धिके लिए जीनेकी भी उमग रहती है और उसके लिए यदि मरना जरूरी हो तो उसमे मरनेकी भी हिम्मत आ जाती है। परन्तु कोई ध्येय चाहे जितना उदात्त और कठिन होने पर भी सार्वजनिक न हो, अर्थात् समष्टिके जीवनको व्याप्त करनेवाला न हो, बल्कि उस मनुष्यकी व्यक्तिगत कामना ही हो—जैसे कि मोक्षकी कामना—तो जब तक वह आदमी अपने ध्येयकी सच्ची या झूठी सिद्धि नही देखेगा, तब तक वह सतोप और हिम्मतके साथ मृत्युका स्वागत नही कर सकेगा। शरीरके थक जाने पर अनशन करके उसका अत करनेमे ही श्रेय है, ऐसा विचार करके अनशन शुरू करनेवालेकी भी उस अनशनसे डिगनेकी सभावना रहती है।

जो मनुष्य सार्वजनिक ध्येय रखते हुए भी उसकी सिद्धि अपनी आखोंसे देखनेकी व्यक्तिगत कामना रखता हो, वह मनुष्य भी सतोष-पूर्वक शरीरका अत देखनेमें असमर्थ होता है।

परतु जिसका ध्येय तुलनामें कम उदात्त—आध्यात्मिककी अपेक्षा आधिभौतिक माना जानेवाला हो, परतु ज्ञानपूर्वक अथवा सिर्फ परपरा-गत सस्कारो या जडताके कारण भी सार्वजनिक माना जाता हो, वह व्यक्ति—जीवनके दूसरे क्षेत्रोंमे मामूली आदमी लगता हो तब भी—उस ध्येयकी सिद्धिके लिए जरूरत पडने पर ज्यादा हिम्मत और सतोपके साथ मर सकता है।

व्यक्तिगत मोक्षके लिए अनेक साधु पुरुपोने बहुत बडा पुरुषार्थ और त्याग किया है और वे मोक्षकी सिद्धिके पहले ही मर भी गये है। परन्तु यदि वह मोक्ष काल्पनिक ही हो, तो मोक्षसिद्धि जैसा लगनेके

बाद जो व्यक्ति थोडे समयमे ही मर गये वे तो सतोषपूर्वक मरे है, परन्तु जो उसके बाद लबे समय तक जीते रहे, वे मरनेके समय जीवित रहनेका प्रयत्न करते देखे गये है। क्योकि काल्पनिक मोक्षकी कृतार्थताके मिट जानेके बाद कोई बाकी रही हुई कामना या ज्यादा आगे जानेकी कामना उनका नवीन ध्येय बनती है; और वह जीवित रहनेकी अभिलाषा उनमे कायम रखती है।

परन्तु जिसके जीवनका ध्येय जान या अनजानमे विश्वके जीवनको किसी दिशामे ज्यादा समृद्ध बनानेवाला होता है और उसीमे जो अपना व्यक्तिगत श्रेय भी समझता है, उसे उस ध्येयके लिए अपना जीवित रहना भी जिस तरह प्रयोजनरूप लगता है उसी तरह मरनेकी जरूरत होने पर मरना भी प्रयोजनरूप लगता है, और काम करते करते यदि कुदरती मौत आवे तव भी शाति और सतोष रहता है। इस तरह कई बार किसी धर्मके सस्थापककी अपेक्षा उसके प्रचारक ज्यादा हिम्मत और सतोषके साथ अपना वलिदान देते हुए पाये गये है। लडाई, समाजसेवा, स्वामिभक्ति, देशभक्ति वगैरा सब क्षेत्रोमे ऐसा अनुभव होता है।

मृत्युको जीतनेका यही निश्चित मार्ग मालूम होता है। जीवनका ध्येय स्वलक्षी नही, व्यक्तिगत नही, परन्तु विश्वलक्षी और सार्वजनिक रखा जाय; उसे ध्येय माने या अपने श्रेयका साधन माने, अथवा अपने श्रेयको ध्येय माने और सार्वजनिक जीवनकी समृद्धिको उसका अनिवार्य साधन माने; यदि अपने श्रेय और विश्व-जीवनकी समृद्धिके बीच विरोध नही परन्तु सुमेल साधा होगा, यदि उस ध्येयका कुछ अश अपने ही जीवनकालमे और अपने ही हाथो या अपनी ही रीतिसे सिद्ध करनेका आग्रह नही रखा जाय, वल्कि वह इतना लम्बा और सार्वलौकिक हो कि अनेकोके हाथोसे दीर्घकालमे ही उसकी सिद्धि शक्य हो, तो वैसे ध्येयके लिए सतोषपूर्वक जीने और मरनेकी वहुत वडी सभावना रहती है। कोई दूसरा ध्येय यह परिणाम नही ला सकता।

विश्व-जीवन गगोत्रीसे निकलकर समुद्रकी तरफ वढनेवाले गगाके प्रवाहके समान है। व्यक्ति उसके पानीकी एक एक वूदके समान है।

ये सव बूदे एक-दूसरेके साथ मिलकर और सतत मिली हुई रह कर लगातार आगे ही आगे बढती रहती है, पीछेसे आनेवाली बूदोका प्रवाह आगे गई हुई बूदोको ढकेलता रहता है। और पीछेकी तथा आगेकी बूदे पृथ्वीके गुरुत्वाकर्पणसे समुद्रकी ओर वेगपूर्वक दौडती ही रहती है। ऐसा होता है तभी गगा बडी नदीका रूप धारण करती है और उसे समुद्र तक पहुचनेकी सिद्धि मिलती है।

परन्तु यदि उस गगाकी हरएक बूदके वारेमे अलग अलग विचार करे, तो हरएक बूद समुद्र तक पहुचती ही है ऐसा नही कह सकते। कितनी ही बूदोको आसपासकी और नीचेकी जमीन सोख लेती है, कितनीको वनस्पतिया चूस लेती है या जीव-जतु पी जाते है, कितनी ही बूदे अधवीचमे ही सूखकर भाफ बन जाती है, कितनी ही अनेक पदार्थोके साथ मिलकर रासायनिक द्रव्योका रूप ले लेती है। इस तरह अगणित बूदे समुद्र तक पहुचती ही नही। दूसरी ओर, जिसे हम गगाका प्रवाह कहते है उसे अपनी समृद्धि और सिद्धि यमुना, सोन, सरयू, गडक, गोमती जैसी कितनी ही बडी बडी नदियो और सैकडो छोटे छोटे नदी-नालोके स्वार्पणसे प्राप्त हुई है, जो उनके व्यक्तित्वका नाश करनेवाला है। इन अगणित बूदोका और इन सैकडो नदी-नालोका इस तरह सतत वलिदान न होता रहता, तो गगाके प्रवाहको समुद्र तक पहुचनेकी सिद्धि नही मिलती, अथवा मिलती तो भी जगत् उसकी इतनी ज्यादा कीमत नही करता। क्योकि गगा हमे जो भव्य और माताके समान पोषण करनेवाली लगती है वह उसके समुद्र तक पहुचनेवाले जल-प्रवाहकी अपेक्षा उसकी जज्ब होनेवाली, चूसी जानेवाली, पी जानेवाली, सूखनेवाली और रसायन वननेवाली बूदोके कारण तथा अनेक नदी-नालोको अपनेमे समा लेनेकी शक्ति रखनेके कारण लगती है।

फिर भी समुद्र तक पहुचनेवाला अथवा न पहुचनेवाला हरएक विन्दु और नदी-नाला सपूर्ण रूपसे पानी ही है न? वह समुद्रमे पहुचा नही है या अलग अलग प्रवाहके रूपमे वहता नही है, और उसका स्वतत्र व्यक्तित्व रहा नही है, इससे क्या उसके और समुद्रके विन्दुओके

स्वरूपमे रत्तीभर भी अतर पडता है? अथवा समुद्र तक न पहुचनेके कारण या वहा पहुचने तक अलग व्यक्तित्व न रख सकनेके कारण क्या उनका जलत्व कम कृतार्थ या कम सिद्ध हुआ माना जायगा? परतु यदि कोई बिंदु या नाला खुद ही अपने व्यक्तित्वकी रक्षा करके समुद्र तक पहुचनेका आग्रह रखे, तो उसे कृतार्थताका अनुभव नही होगा। तटस्थ न्यायाधीश इसे उसका मूढाग्रह ही समझेगा।

यदि हमे व्यक्तिगत सिद्धिया प्राप्त करनेका तथा हमारे व्यक्तित्वको सदाके लिए अलगसे सुरक्षित रखनेका आग्रह न हो, तो हमारे जीवन और मृत्युके बीचका भेद मिट सकता है। अनासक्ति और अलिप्तताकी सिद्धि इसके बिना सभव नही है ऐसा कहिये, अथवा इस स्थितिकी प्राप्तिको ही अनासक्ति या अलिप्तता कह लीजिये। इसी अर्थमे नीचेके श्लोक चरितार्थ हो सकेगे

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठ
समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा य प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥"[१]

"विहाय कामान्य सर्वान्पुमाश्चरति निस्पृह।
निर्ममो निरहकार. स शान्तिमधिगच्छति॥"[२]
(गीता २–७०, ७१)

---

१. नदियोके प्रवेशसे भरता रहने पर भी जैसे समुद्र अचल रहता है वैसे ही जिस मनुष्यमे ससारके भोग शान्त हो जाते हैं, वही शान्ति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य।

२. सब कामनाओका त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहकाररहित होकर विचरता है, वही शाति पाता है।

६

जीवन सुखमय है या दुःखमय ?

"न जाने ससार किममृतमय. किं विपमय ॥"

(भर्तृहरि, वैराग्यशतक, ८८)

ससार-जीवन दु खमय ही है, ऐसा सब धर्मों और दर्शनोका तथा सामान्य रूपसे गभीरताके साथ अपना अनुभव प्रकट करनेवाले मनुष्योका निश्चित मत मालूम पडता है। साख्यकारिकामें कहा गया है कि·

"(ऊर्ध्व, मध्य और अध·—तीनो लोकोमें) चेतन पुरुष जरा-मरणसे होनेवाला दु ख भोगता है। . . . इसलिए दु.ख स्वभावसे ही है।"

(कारिका ५५)

योगसूत्र भी कहते हैं कि·

"सुख भी अस्थिरता, चिन्ता और सस्कारोके दुःखोवाले तथा गुण और वृत्तियोके विरोधवाले होते है, इसलिए विवेकी पुरुप सबको दु.खरूप ही मानता है।"

(२–१५)

गीता भी दो स्थानो पर इसका समर्थन करती है। नवे अध्यायमें कहा गया है कि.

"अनित्यमसुखं लोकमिम प्राप्य भजस्व माम्।"[1]

(९–३३)

तथा तेरहवें अध्यायमे "जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानु-दर्शनम्"[2] (१३–८) को ज्ञानका एक लक्षण बताया गया है।

बौद्ध, जैन इत्यादि धर्मो और दर्शनोका भी यही अभिप्राय है। ईसाई और मुसलमान सतोने भी इन्ही विचारोको पोसा है। वैराग्य और सन्यास-मार्गकी उत्पत्ति भी इसी मतसे हुई है।

---

१. इसलिए इस अनित्य और सुखरहित लोकमे जन्म लेकर तू मुझे भज।

२. जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दु ख और दोषोका निरन्तर भान।

साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक इत्यादि दर्शन सुखके अस्तित्वका ही इनकार करते हुए मालूम होते है। दुःखके आत्यन्तिक नाशका ही नाम सुख है। सुख या आनन्दकी प्राप्तिका या उसकी शोधका प्रयत्न केवल मिथ्या प्रयास है। बहुतसे अद्वैत वेदान्तियोने भी आत्माका स्वरूप बतलानेवाले तीन शब्दोको—सत्, चित् और आनन्दको असत्, अचित् और शोकका निरास करनेके लिए ही स्वीकार किया है, अर्थात् असत् नही इसलिए सत्, जड नही इसलिए चेतन, शोकरूप नही इसलिए आनन्दरूप। आत्मा तो सुख और आनन्दका सागर है, उसमे निरतिशय आनन्द है, इत्यादि वर्णन प्रत्येक वेदान्तीको मान्य नही है।

पुराणोमे मार्कण्डेय मुनिकी ऐसी कथा है कि वे चिरजीव मुनि अनेक सृष्टियोमे घूमे तथा उन्होने अनेक सृष्टियोकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देखे, परन्तु कही पर भी उन्हे यह अनुभव नही हुआ कि जीवन सुखमय है।

केवल सुभाषितोमे भर्तृहरि ही कही पर आनन्दके और कही पर दु खके दृश्य देखकर यह शका प्रकट करते है कि कुल मिलाकर इस ससारमे अमृत भरा है या जहर, यह समझमे नही आता।

भर्तृहरिको एक ही समयमे परन्तु जुदी जुदी जगहो पर सुख-दु ख दोनोके दृश्य देखकर यह शका पैदा हुई है। अर्थात् सारे ससारके विषयमे यह शका है। परन्तु हमारा व्यक्तिगत या समष्टिका जीवन कुल मिलाकर सुखरूप है या दुःखरूप, यह भी विचारने जैसी बात है।

क्या सचमुच हर मनुष्यको निजी अनुभवसे ससार अथवा जीवन हमेशा दु खरूप ही मालूम हुआ है? क्या इसके सुख भी दु ख देने-वाले और दु ख भी दुःख देनेवाले ही हमेशा साबित हुए है? क्या मनुष्यकी ससार-सम्बन्धी अनुभवोकी स्मृति भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक—किसी भी प्रकारके सुखके अशसे हमेशा रहित ही होती है? क्या उसने जीवनमे दु खके साथ सुखका भी अनुभव नही किया है? क्या हरएक सुख बादमे दु खरूप ही मालूम हुआ है? या उसकी स्मृति केवल दु ख ही पैदा करती है? इससे उलटा, क्या ऐसा भी नही

हुआ है कि कुछ दु.ख भी वादमे सुखकारक सिद्ध हुए है अथवा दु.ख-कारक होने पर भी स्मृतिरूपमे सुख देनेवाले मालूम हुए है?

और ऐसे कितने आदमी हमने देखे है, जिन्होंने जीवनको दु ख-रूप माननेके वाद भी उसमे से सुख प्राप्त करनेकी या उसे सुखकर वनानेकी आशा रखी ही न हो? कोई उपाय प्रयत्न करने जैसा मालूम हुआ हो और उसे आजमानेकी शक्यता हो, फिर भी उसकी आजमाइश न की हो? उपाय मालूम न होने पर उसकी शोध करना उचित न माना हो? और जो लोग कहते है कि हमने तो जीवनमे दु ख, दु ख और केवल दु ख ही देखा है और हम जीवनसे विलकुल निराश हो गये है, उनके सामने कोई उन्हे तत्काल गोलीसे उडा देनेके लिए तैयार हो, तो उनमें से कितने उसका कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करनेके लिए तैयार होगे? यह वात सच है कि वलवान विरोधी परिस्थितियोंके कारण, आलस्यके कारण या पुरुषार्थ करनेकी शक्ति न होनेके कारण अथवा सोची हुई सफलता न मिलनेके कारण वहुतसे लोग दु खमें सडते रहते है और अपने नसीवको दोष देते है अथवा ससार दु खमय ही है ऐसा वोध लेते है। परन्तु वह निराशाका परिणाम है। और निराशाका स्वभाव ही ऐसा है कि चाहे जितना टीप टीप कर उसका सस्कार मजबूत वनाओ, तो भी वह आशाकी अपेक्षा अल्पजीवी ही रहती है। जिस तरह गहरा अधेरा छोटीसी दियासलाईके सामने भी टिक नही सकता, उसी तरह निराशा आशाकी किरणके सामने टिक नही सकती।

परन्तु अधकारको दूर करनेके लिए आप एकके वाद एक दियासलाई जलाते जाय, तो ऐसा अनुभव होगा कि अधकार ही गाढ है और दियासलाईसे उसे दूर करनेका प्रयत्न वेकार है। उसके वदले मोमवत्ती, लालटेन या मशालका प्रयत्न अधिक सफल होगा। परन्तु मोमवत्तीके खतम हो जानेके वाद क्या होगा, लालटेनका तेल खतम हो जानेके वाद क्या होगा, ऐसे ही सवाल यदि 'विवेकी' पुरुष पेश करता रहे, तो मैं उन सवालोको विवेक नही मानूंगा। इसके लिए तो दूसरी मोमवत्ती या मशाल लाना अनिवार्य है, ऐसा समझकर ही उसे चलना चाहिये।

बुद्धने पहला आर्यसत्य यह गिनाया है कि जरा, व्याधि, मृत्यु, अप्रियका योग और प्रियका वियोग ये पाच दु ख प्राकृतिक है। बात सच है। इनके सिवा दूसरे सब दु ख तृष्णाजन्य है, वे तृष्णाको छोड देनेसे दूर किये जा सकते है। परन्तु क्या तृष्णा छू करने मात्रसे छूट सकती है? हम जीर्ण होकर मर जाय और सब सत्पुरुषोके ज्ञानामृतको रात-दिन पीते रहे, फिर भी एक दिन अचानक ऐसा मालूम पडता है कि वह निर्मूल नही हुई है।

और जो पाच प्राकृतिक दु ख ऊपर गिनाये गये है, उनके साथ ही जन्म, युवावस्था, आरोग्य, प्रियका योग और अप्रियका नाश — इन पाच आनन्दोंको भी हम प्राकृतिक ही क्यो न कहे? और तृष्णाकी सिद्धिके समय उसका सुख भी मिलता है, ऐसा भी क्यो न कहे?

वस्तुत. ससार और जीवनके प्रति देखनेकी हमारी दृष्टिमे और उसके सबधमे हमारी अपेक्षामे ही दोष है।

गीताके दूसरे अध्यायका १४वा श्लोक ससारके स्वरूपको अधिक सच्ची रीतिसे प्रकट करता है:

"मात्रास्पर्शास्तु कौतेय शीतोष्णसुखदु खदा.।
आगमापायिनोऽनित्यास्तास्तितिक्षस्व भारत॥"[१]

जीवनमे सुख तथा दु ख दोनो अनित्य है, सुखरूप तथा दु खरूप दोनो प्रकारके विषय आते है और जाते है। हम दोनोंको सहन कर ले। अनित्यमे नित्यकी आशा करना और फिर कहना कि सुख अनित्य है इसलिए दु ख ही नित्य है, यह ससारका जो स्वभाव नही है उसकी उससे आशा रखनेसे पैदा होनेवाली निराशा है। यह ठीक वैसा ही है जैसे गरम जलसे शरीर जल सकता है यह जाननेके कारण उसे अग्नि पर डालकर अग्निको और ज्यादा प्रज्वलित करनेकी हम आशा रखे और वैसा न होने पर यह कहे कि गरम पानी जला सकता है

---

१ हे कौतेय, इन्द्रियोके स्पर्श सर्दी, गर्मी, सुख और दु ख देनेवाले होते है। वे अनित्य होते है, वे आते है और जाते है। उन्हे तू सहन कर।

यह बिलकुल झूठ है। गरम पानी जला सकता है यह सत्य है, परन्तु वह अमुक वस्तुको ही। इससे ज्यादा आशा उससे रखी जाय तो दोष आशा रखनेवालेका है, गरम पानीका नही। उसी तरह ससारमे सुख भी अमुक मात्रामे और अमुक परिस्थितियोमे ही है, उससे ज्यादाकी आशा रखनेवाला भूल करता है। जो बात सुखके लिए सच है वही दु.खके लिए भी है।

सुख और दु खके बीच एक दूसरा भी फर्क है। यदि ससारके विषयमे हम ऐसी कल्पना कर ले कि वह ऐसे ढालकी तरह होना चाहिये, जिस परसे बगैर किसी कोशिशके और आरामसे हम फिसलते फिसलते नीचे आ सके, तो वह निराशा ही पैदा करावेगी। ससारका यह स्वभाव ही नही है। क्योकि अनित्य ससार और नित्य आत्माके बीच चाहे जितना भेद मालूम होता हो, तो भी ससार आत्मासे पैदा हुआ है। और आत्मा हाथमे से छूटते ही खटसे नीचे गिरनेवाले पत्थरके जैसी नही है, बल्कि हमेशा ऊपर ही ऊपर उडनेकी कोशिश करनेवाले गरुड जैसी है, और उडनेकी क्रिया ही ऐसी है कि उसमे कोशिश और मेहनतके बगैर काम चल नही सकता। उसी तरह ससारमे सतत पुरुषार्थ, सतत परिश्रम जीवनको आगे बढानेकी अनिवार्य शर्त है। इस शर्तका पालन न किया जाय तो नीचे गिरना ही होगा; और वह तो सदा दु खमय ही होता है। इस शर्तका पालन करने पर भी कदाचित् निष्फलता मिले और दु.ख हो, परन्तु सफलता भी मिल सकती है और सुख भी मिल सकता है। ऐसा होनेके कारण सुख सयोग-वश तथा प्रयत्नाधीन और दु ख स्वभाव-सिद्ध मालूम होता है, परन्तु उसका अर्थ यह नही है कि ससार केवल दु.खमय ही है। हिमालय पर चढनेमे सतत परिश्रम करना पड़ता है, नीचे गिरनेमे सतत परिश्रमकी जरूरत नही होती, बगैर कोशिशके — अनिच्छासे भी — कभी कभी वह हो सकता है। यह संभव है कि चढनेका परिश्रम करने पर भी कभी निष्फलता मिले। परन्तु इससे पृथ्वीको घाटियो और पर्वतो-वाली न कह कर केवल घाटियो और गड्ढोवाली ही कोई कहे तो वह ठीक नही है।

और, वहुत विचारने जैसी बात तो यह है कि संसार दु.खरूप ही है, ऐसा तत्त्वसिद्धान्त होने पर भी प्राणीके हृदयसे ससारको सुखरूप वनानेकी आशा और प्रयत्नोका कभी उच्छेद ही नही होता, इसका कारण क्या है? इसका जवाब यह दिया जाता है कि आत्मा सुखरूप है, और इस आत्मसुखका ससारको जो रंग लगा हुआ है वह अज्ञानके कारण संसारमे सुखका भास कराता है, वस्तुत अपनेमें रहे हुए सुखके अनुभवके वारेमे प्राणी भूलसे ऐसी कल्पना करता है कि वह वाहरसे आता है। अपनी नाभिमे रही हुई कस्तूरीको जिस तरह हिरन बाहर खोजता फिरता है, उसीके जैसी यह भूल है। मेरे विचारसे यह स्पष्टीकरण अघूरा है। विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि आत्मामे से ही इस ससारका उद्भव है और आत्मा तथा ससारके स्वरूपमे परस्पर विरोधकी कल्पना करना गलत है। आत्मा अनत शक्तिवाली है, इसलिए ससार भी अनतरूपी है; आत्मा सतत क्रियावान, गतिमान है, इसलिए ससार भी सतत वद-लनेवाला है, आत्मा सतत ज्ञानरूप है, इसलिए ससार सतत नये नये अनुभवोंसे भरा हुआ है; सक्षेपमे, निरतर नये नये रूपोमे अपनेको प्रकट हुआ देखना आत्माके स्वरूपमे से पैदा होनेवाला अवश्य स्वभाव है। ये अनत रूप अलवत्ता एकसे नही हो सकते; परस्पर विरोधी भी हो सकते है। और इसलिए कभी सुखकी वेदना करानेवाले और कभी दु खकी वेदना करानेवाले होते हैं। सुखकी वेदना पैदा करके वहा स्थिर रहना आत्माके स्वभावमे नही है, इसलिए नवीन वेदना ज्यादा सुखकी या कम सुखकी होती है अथवा दु खकी भी होती है। दु:खकी वेदना पैदा करके उसमे सतोष मानना या हमेशाके लिए निराश होकर वैठ जाना भी आत्माका स्वभाव नही हो सकता। क्योकि एक ही जगह और उसमे भी निष्फल स्थल पर स्थिर रहना उसके ज्ञान-क्रियाशील स्वभावके विरुद्ध है। इसलिए जहा जहा दु खका अनुभव हो वहा वहा उसके साथ झगडना और उसमे से निकलनेके लिए प्रयत्न करना और जहा जहा सुखका अनुभव हो वहा उसे समृद्ध करनेके लिए प्रयत्न करना उसके स्वभावका परिणामरूप धर्म है। उसके

स्वभावके विरोधी तत्त्वज्ञानका चाहे जितना प्रचार हो, और कोई विरला योगी वैसे तत्त्वज्ञानमे दृढ रूपसे स्थिर हुआ दिखाई दे, तो भी वैसा तत्त्वज्ञान जगत्मे कभी स्थायी नही मालूम होगा। इसलिए जरा, मृत्यु, रोग, अप्रिय परिस्थितियोके योग और प्रिय परिस्थितियोके वियोगके अनिवार्य दु खोको दूर करना तथा बल, आरोग्य, दीर्घायु, प्रिय परिस्थितियोके योग और अप्रियके वियोगसे प्राप्त होनेवाले सुखोको सिद्ध करनेके लिए प्रयत्न करना ही उचित पुरुषार्थ और जीवनका ध्येय हो सकता है। अलवत्ता, उसमे विवेक तो होना ही चाहिये; अर्थात् ज्ञान होना चाहिये। ज्ञानकी कमीके कारण पुरुषार्थकी निष्फलता-के प्रसग वार वार आयेगे। और विवेक भी होना चाहिये, यानी उन प्रयत्नो तथा उनके परिणामोके विषयमे गलत आशा नही रखनी चाहिये, नही तो निराशा होगी ही। गलत आशाए ये है प्रयत्नको सोची हुई सफलता मिलनी ही चाहिये, वह प्रयत्न तथा उसका परिणाम सुखरूप ही होना चाहिये, दु खरूप होना ही नही चाहिये; उसमे मेहनत होनी ही नही चाहिये अथवा हो भी तो बहुत कम होनी चाहिये। ऐसी ऐसी गलत आशाओका नाम ही फलासक्ति है।

परन्तु मिथ्या आशाए न रखते हुए भी इतना तो जानना ही चाहिये कि आत्मा सत्यकाम और सत्य-सकल्प है। इसलिए वह जिस स्थितिको प्रकट करनेके लिए विवेकपूर्वक प्रयत्न करती है और उसके पीछे सतत लगी रहती है, वह स्थिति योग्य कालमें सिद्ध होती ही है। इसलिए ससारको सशुद्ध, समृद्ध और निर्दोष वनानेवाला पुरुषार्थ सतत करते रहना और वैसा करते हुए सुख-दु ख, लाभ-हानि, यश-अपयश वगैरा जो कुछ भी आ पडे उसे सहन करनेके लिए तैयार रहना, उसके लिए जीवनको टिकाये रखने जैसा और जरूरत पडे तो उसकी वलि देने जैसा भी समझना — इसीमें विवेकी और पुरुषार्थी मनुष्यके लिए अपना तथा विश्वके जीवनका श्रेय तथा ध्येय प्राप्त करना सभव हो सकता है। इसीमे से मानव-धर्म और व्यक्तिका स्वकर्म प्राप्त होगा।

परिशिष्ट

'जगमे जीना दो दिनका'?

जब मैं सन् १९४२ मे रायपुर जेलमे कैदी था, तब मेरे वार्डके बाजूमे ही स्त्रियोका वार्ड था। वहासे सुबह-शाम प्रार्थनाकी आवाज सुनाई देती थी। उसमे एक भजन रोज गाया जाता था। उसका ध्रुवपद था — 'जगमे जीना दो दिनका'। मेरा खयाल है कि यह भजन ब्रह्मानन्द-भजनमालाका है। इसी भावके हमारे भक्ति-साहित्यमे सैकडो भजन है। कबीरका 'इस तन धनकी कौन बडाई' भजन तो प्रसिद्ध ही है। इन भजनोमे सत्याश और बोध लेने लायक कुछ भाग तो है। फिर भी मुझे ये विचार कुछ अखरते थे। कई दिन तक उसे सुनते रहने पर मेरे साथ रहनेवाले श्री तुकडोजी महाराजसे मैंने एक दिन विनोदमे कहा — "ये बहने कैसे मान सकती है कि 'जगमे जीना दो दिनका' है? मास-डेढ मास तो हमे ही सुनते-सुनते हो गया!" खैर, यह तो मजाक था, लेकिन उसके प्रत्युत्तररूप नीचेका भजन है :

क्यो कहो जी साधो, जगमे जीना दो दिनका?
गलत खयाल न बाधो, जगमे जीवन दो दिनका।

तन लघुजीवी, जग चिरजीवी अविनाशी जीवनका,
जगके कार्यालयमे तन है, साधन केवल जीवनका। — क्यो०
देह मरे दो दिन या युगमे, अन्त नही वह जीवनका,
न कार्य ही नाश सभी होता, किया जो तनने जीवनका। — क्यो०
चरित-बुद्धि-वीर्य-मृत्युसे विकास जगके जीवनका,
गुण-विद्या-कीर्ति-धन-वशज दान है तनके जीवनका। — क्यो०
तन जानेसे डूब गई दुनिया, सत्य नही यह जीवनका,
तन जावे और जगत् डूबे, पर तू स्वरूप अक्षय जीवनका। — क्यो०

फरवरी, १९४४

संसार और धर्म

दूसरा भाग

ईश्वर

१

अवतार-भक्ति

जड या चेतन — ऐसी कौनसी वस्तु है, जो परमात्मासे भिन्न है? वस्तुत: हरएक सत्त्व अथवा पदार्थ परमात्मा ही है। फिर भी सनातनी हिन्दू हरएक सत्त्वकी उपासना या भक्ति नही करता; वह प्रतापवान और प्रतापहीन सत्त्वका भेद करता है और थोडेसे प्रतापवान सत्त्वोंमे विशेष रूपसे परमात्माके भावकी प्रतिष्ठा करता है; जैसे कि अवतार या अपने सद्‌गुरु आदिमे। उन्हे वह परमात्मारूप मानकर उनकी उपासना तथा भक्ति करता है।

बहु-जनसमाज अवतारमे परमात्म-भाव रखता है, और शिष्य अपने सद्‌गुरुमे।

आम तौरसे लोकमत ऐसे व्यक्तिको अवतारका पद देता है, जिसका प्रताप बहुत व्यापक तथा प्रसिद्ध हो तथा जिसके द्वारा बहुत लोक-कल्याण हुआ हो। सद्‌गुरुका प्रताप उसके शिष्य-मण्डलके बाहर ज्यादा फैला हुआ नही होता। उसके हाथो हुआ लोक-कल्याण एक ही क्षेत्रमें और वह भी मर्यादित होता है। फिर भी दोनो परमात्माकी तरह उपासना और भक्तिके पात्र माने जाते है।

परमात्माकी उपासना — भक्ति तो ईसाई, मुसलमान, पारसी इत्यादि सभी ईश्वरवादी धर्मोको मान्य है। फिर भी वे लोग किसी भी सत्त्वको परमेश्वरके समान नही मानते तथा किसीकी ऐसी भावना या भक्तिसे उपासना भी नही करते।

प्रश्न यह है कि अवतार या सद्‌गुरुकी परमात्मारूपसे उपासना — भक्ति करना क्या उचित है? क्या राम, कृष्ण, शकर आदि ऐतिहासिक या रूपकात्मक अवतारो या देवोको या अपने सद्‌गुरुको **'साक्षात् परब्रह्म'** समझना और इस भावनासे उनकी उपासना या ध्यान-भजन करना उचित है?

मैं अद्वैत सिद्धान्तको माननेवाला हूं। सद्गुरुके द्वारा मैंने लाभ उठाया है और मैं गुरुभक्ति करता हूं। तो भी मैं यह कहना चाहता हूं कि उपासना करनेकी यह रूढि और किसी व्यक्तिमें ऐसी श्रद्धा रखनेके संस्कार छोड़ दिये जाने चाहिये। तत्त्व तथा प्रत्यक्ष परिणाम — दोनों दृष्टियोंसे इस प्रकारकी उपासना दोषपूर्ण है।

तत्त्वकी दृष्टिसे इसलिए कि सत्त्वमात्र — पदार्थमात्रमें परमेश्वरकी अंशमात्र शक्तिका ही दर्शन होता है। कोई पूरा नमूना हो ही नहीं सकता। सिर्फ मनुष्यको ही लें तो मनुष्यताका भी पूर्ण और सर्वकालके लिए पूर्ण स्वरूप किसी एक सत्त्वमें नहीं आ सकता। और मनुष्य तो जड-चेतन सृष्टिका एक अणुमात्र अंश है। 'विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।' (इस सारे संसारको मैंने एक अंशके द्वारा ही धारण कर रखा है: गीता १०-४२) इसमें राम, कृष्ण आदि सब आ जाते हैं।

प्रत्यक्ष परिणामकी दृष्टिसे अवतार द्वारा या गुरु द्वारा ईश्वरकी सगुणोपासना अत्यंत कल्पना-प्रधान, भ्रामक और विपरीत मार्गकी ओर बहती हुई देखनेमें आती है।

आजसे हजारों वर्ष पहले हो गये इन अवतारोंके सच्चे चरित्र हम नहीं जानते। जिन ग्रंथोंमें इनके पूरे या अधूरे अंग मिलते हैं, वे क्षेपकोंसे भरे हुए हैं, खास उद्देश्यसे उनमें घट-बढ की गई है। वे अंग परस्पर विरोधी बातोंसे भरे हुए हैं और उन्हें दिव्यताका जामा पहनाया गया है। इसलिए ये पुरुष सचमुच कैसे थे, इसकी सच्ची कल्पना नहीं आ सकती। हरएक संप्रदाय या भक्त अपनी कल्पनाके राम, कृष्ण आदि बनाकर उनकी पूजा करता है। और सिर्फ पूजा ही करता है। उनके अनुयायी उनके चरित्रके अनुसार अपना चरित्र नहीं बनाते।

भूतकालमें हो गये कृष्णका कोई भक्त स्वयं पुरुष होने पर भी गोपी बननेकी कल्पना करता है, कोई उद्धव और कोई माता यशोदा बननेकी कल्पना करता है। कृष्णकी काल्पनिक मूर्तिको सत्य-स्वरूप मानकर वह उसके प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी साधना करता है। प्रत्यक्ष जीवनके कर्तव्योंको और प्रत्यक्ष माता, पिता, बालक, पति

तथा समाज आदिको मिथ्या — झूठे मानता है और इस काल्पनिक पति या बालकके लिए रोता है, हसता है, नाचता है और नैवेद्य रखता है और फिर मानता है कि यही भक्ति है, साधना है और मोक्षकी सीढी है।

किसी भी प्रतापी सत्त्वमे वही परमात्मा है, इस तरहकी श्रद्धा रखनेसे जो भक्तिमार्ग पैदा हुआ है उसमे बहुत बड़ी कृत्रिमता आ गई है, और कई बार तो वह मार्ग बहुत भद्दा रूप धारण कर बैठता है। पुराने समयमे हुए कृष्णके नामके साथ गोपियोके व्यवहारकी बाते निर्दोष बालक्रीडाए थी या शृगार रससे रगे हुए कोई रूपक थे या प्रताप और विलास दोनो भावोको एकसाथ रखनेवाले किसी राष्ट्र-पुरुषका सच्चा जीवन था, इसका हमे निश्चित पता नही है। सभव है ये तीनो रग इन बातोमे हो। परन्तु जो एक सस्कार अवतार-भक्त या गुरुभक्त सप्रदायोमे स्थिर हुआ है, वह यह है कि जिस किसी व्यक्तिके बारेमे इस प्रकारकी श्रद्धा हो उसके कार्यो और व्यवहारोकी विवेक-दृष्टिसे जाच की ही नही जा सकती और उसकी किसी भी मागको पूरा करना ही सच्ची भक्तिका लक्षण है। स्त्रिया अपना शील तक उसे अर्पण कर दें, इस हद तककी श्रद्धा इसमे आ गई है, और उसके शरीर या मूर्तिको तरह तरहके भोग चढानेमे ही सारी भक्ति समा गई है।

इस तरहकी भक्तिने अधश्रद्धाको, पगुताको और पुरुषार्थहीनताको बहुत बढाया है। अवतार अथवा गुरु परमात्माका ही स्वरूप है, यह सिद्धान्त इतने अशमे ही सत्य है कि विश्वमे जो कुछ है वह परमात्माका ही स्वरूप है। इसलिए जिसे हम अवतार या गुरु मानते है, वह भी इसका अपवाद नही हो सकता। परन्तु जिस तरह हम दूसरे सत्त्वोका आश्रय लेकर परमात्माकी उपासना नही करते, उसी तरह कोई पुरुष कितना ही प्रतापी और विभूति, ऐश्वर्य, पराक्रम आदि अनेक गुणोवाला तथा ज्ञानी और तत्त्वदर्शी क्यो न हो, उसके आश्रयसे परमात्माकी उपासना — भक्ति करना अयोग्य है। यहा आश्रयका अर्थ उसकी मदद लेना नही, बल्कि उसे उपास्य मानना है।

इसका यह मतलब नही कि इन विचारो द्वारा मै सगुण भक्तिका निषेध करता हूं। अवतार या गुरुरूप ईश्वरमे श्रद्धा न रखते हुए भी इस्लाम, ईसाई इत्यादि धर्मोमे सामान्यतः परमात्मा-विषयक दृष्टि सगुणसे परे नही गई है। मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, सिक्ख वगैरा अपने अपने पैगम्बर, मसीहा, तीर्थंकर, गुरु इत्यादिमें अवतार या सद्गुरु-वादी हिन्दूके जितनी ही श्रद्धा, भक्ति और तारकबुद्धि रखते है, फिर भी उनको ऐसा नही लगता कि वे अपने पैगम्बर आदिको परमात्मा समझकर उनका ध्यान — उपासना करते है। कोई ऐसा तो हरगिज नही कहेगा कि एक सामान्य मुसलमान या सिक्खकी अपेक्षा एक सामान्य हिन्दू अधिक मदबुद्धिवाला या 'पामर' होता है और इसलिए अन्यधर्मी सामान्य मनुष्य जो कुछ कर सकता है वह हिन्दू नही कर सकता।

परन्तु हिन्दू धर्मके प्रवर्तक ज्ञानी होने पर भी प्रायः बडे कल्पना-प्रधान कवि हो गये है। रम्य कल्पनाओ, रूपको और रससे भरपूर वर्णनोके बिना तथा सूक्ष्म अमूर्त तत्त्वोको मूर्तरूप दिये बिना उन्हे चैन नही पडता था। कल्पना-विलास उनका स्वभाव ही बन गया था। उन्होने धर्मग्रथोंके नामसे तरह तरहके उपन्यासोकी रचना की। ऐसी कथाए यदि लोगोका मनोरजन करनेवाली हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही। इसलिए वे इन कथाओ द्वारा लोगोके मन आकर्षित करनेमे सफल हुए। परन्तु लोगो पर इसका क्या असर हुआ? लोगोने कल्पनाओ और रूपको इत्यादिको इतिहास — सच्ची घटनाओके वर्णन — माना। राहुका ग्रहण, बलिका पाताल-वास, रावणके दस सिर और बीस भुजाएं, नरसिंहका मनुष्य और सिंहका मिश्ररूप, कृष्णका चतुर्भुज स्वरूप आदिको वे ऐसी ही सच्ची घटनाए समझते है जैसी कि वर्तमान युद्धकी किसी घटनाको। इस सस्कारने हिन्दू जनताकी बुद्धिका विकास करनेके बदले उसे कल्पनासेवी बना दिया है।

इस कारणसे मैं किसी भी सत्त्वकी परमात्माके नामसे उपासना — भक्ति करनेकी प्रथाका निषेध करता हू। यह सच्चा मानव-धर्म नही है।

सेवाग्राम, ११-८-'४५ (प्रस्थान, १९४५)

२

दो दृष्टियां

१

मैं तीसरे दर्जेके एक लम्बे डिब्बेमें बैठा हुआ था। उसमें नीचे बताये क्रममें आदमी बैठे हुए थे:

१ २	१–२ मुसलमान मा-बेटा
३	३ एक पण्डित, ४ मैं
४	
५	५ एक वयोवृद्ध मुसलमान

इनके अलावा दूसरे बहुतसे मुसाफिर भी थे। लेकिन उनका इस बातसे कोई सबंध नहीं।

मा-बेटेके बीच शायद कुछ तकरार चल रही होगी। मेरा ध्यान जब उस तरफ गया तब पंडित बेटेसे कह रहा था:

"देखो भाई! खुदा-खुदा तो सब कोई करते हैं, पर क्या कोई खुदाको देख सकता है? वह तो अगोचर है। इसलिए जिसे हम देख सकें, पूज सकें ऐसे खुदाका विचार करना चाहिये। बेटेके लिए ऐसा खुदा उसकी मा है, और स्त्रीके लिए उसका पति है। इसलिए माकी ओर तुम्हें खुदाकी दृष्टि रखनी चाहिये।"

यह मैंने संक्षेपमें लिखा है। पंडितने तो अच्छी तरह विस्तारसे उपदेश किया था, और ऐसा मालूम होता था कि मा और बेटेको वह बात अच्छी लग रही थी। उन्हें इस बातसे चोट पहुंची हो, ऐसा नहीं दिखाई दिया।

परन्तु उनके पीछे बैठे हुए वृद्ध मुसलमानको यह निरूपण बहुत विचित्र लगा। थोडी देर तक तो वह सुनता रहा। पर बादमें वह चुप न रह सका और कुछ रोषपूर्वक उसने पण्डितको फटकारना शुरू किया.

"तुमने कभी कोई खुदाई किताब पढी भी है या सिर्फ बकवास करना ही आता है? क्या खुदा किसी भाजी-बाजारकी शाक—मूली है कि उसके विषयमे जिसके मनमे जो आवे वैसा वह बोल सकता है? खुदाके मानी क्या है? जो सारे आलमको बना सकता है और तोड सकता है, जिसमें जान पैदा करनेकी तथा मारनेकी ताकत है, वह खुदा है। जिसमे पैदा करनेकी और नाश करनेकी शक्ति नही है, उसे हम खुदा कैसे कह सकते है? बच्चेके लिए मा और औरतके लिए उसका खाविंद खुदा है—यह कैसी बेहूदी, कितनी नादानीकी बात तुम करते हो?"

इस चर्चामे कुछ तीखापन आ जानेका डर था। पर एक विनोदी मुसाफिरने समय-सूचकताका प्रयोग करके मिया साहबको कुछ उलटी-सुलटी दलीलोमे फंसा कर चुप कर दिया और उनका स्टेशन आने तक उन्हे खुश करके विदा कर दिया। इस तरह यह चर्चा वही रुक गई।

चर्चा तो बन्द हो गई। परन्तु यह छोटीसी बात मुझे रहस्य-मय मालूम हुई और मै गहरे विचारमे पड गया। किसी हिन्दूको गुरु, माता, पिता, पति वगैरामें ईश्वर-बुद्धि रखनेका विचार इतना सहज और इतना सीधा लगता है कि वह उसे बिना किसी दलीलके स्वीकार कर लेता है। परन्तु मुस्लिम-बुद्धिको यह नास्तिकताके वचन जैसा चोट पहुचानेवाला लगता है। मा, बाप, गुरु, पति इत्यादिके प्रति मनुष्यकी चाहे जितनी भक्ति हो, उनके प्रति चाहे जितने फर्ज अदा करने हो, फिर भी वे ईश्वर है या ईश्वरके प्रत्यक्ष स्वरूप है ऐसा कहना सत्य, सनातन, सबका सर्जन करनेवाले और नाश करने-वाले परमेश्वरकी कितनी बडी अवज्ञा है!

इन दोनों दृष्टियोंमें कहा भूल होती है? अथवा दोनो सत्य हो तो एकको दूसरेके विचार सुनकर चोट क्यो पहुचती है?

कदाचित् वेदाती हिन्दू इसका यह जवाब देगा कि मुसलमानको उसकी जडताके कारण चोट पहुचती है, दूसरा कोई कारण नही है। उसे परमात्माके स्वरूपका सच्चा ज्ञान नही है, इसलिए वह उलझनमें पड़ जाता है। हिन्दू अज्ञानी हो तो उसे भी ऐसी वात सुनकर चोट पहुचते देखा गया है। तुकारामको जब भक्तिमार्गमे ही आनन्द आता था, उस समय किसी वेदान्तीने उन्हे 'तत्त्वमसि' का उपदेश देना शुरू किया, तब उन्हे भी उस वृद्ध मुसलमान जैसी ही चोट लगी थी और रोष आया था। पर पिछली उमरमे वे भी वेदान्तका ही उच्चारण करने और सर्वत्र परमेश्वरको ही देखने लगे थे। इसलिए हिन्दुओके इस विचारमे कुछ सुधारने जैसा नही लगता।

परन्तु कुछ गहरे उतर कर हम इस प्रश्नका विचार करे। जब हम कहते है कि गुरु, माता-पिता, पति वगैरा शिष्य, बालक या पत्नीके परमेश्वर है, तब हम यह अक्षरश सत्य है ऐसा कहना चाहते है या लाक्षणिक अर्थमे अथवा आलकारिक भाषामे ही ऐसा कहते है? यह बात तो साफ है कि हम इस कथनको अक्षरश. सत्यके रूपमे समझाना नही चाहते; क्योकि मेरे गुरु आपके लिए परमेश्वर नही है; मेरे माता-पिता आपके परमेश्वर नही है; मेरी बडी बहनके पति छोटी बहनके परमेश्वर नही है, इतना ही नही उसके लिए तो वे पर-पुरुष होनेसे छोडने योग्य है। यह बात तो तय है कि जिसे परमेश्वर — अर्थात् प्राणीमात्रके लिए एक सर्वसामान्य ईश्वर — कहा जा सकता है, वह ये लोग नही है। तो फिर जब उन्हे परमेश्वर कहा जाता है तब केवल लक्षणासे या अलकारसे ही कहा जाता है, ऐसा मानना चाहिये। लक्षणासे इस अर्थमे कि वे दिव्याश है, इसलिए अशकी पूर्णके नामसे पहचान कराकर, अलकारसे अर्थात् उनके और परमेश्वरके बीच रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा वगैराकी योजना करके। सुननेवालेके मनमे भ्रम पैदा न हो इस तरहसे बोलना हो, तो हम अधिकसे अधिक इतना ही कहना चाहते है कि "अपने गुरु, माता-पिता या पतिका सच्चा भक्त परमेश्वरके भक्त जितना ही पवित्र है," अथवा "उनकी भक्तिके द्वारा परमेश्वरकी भक्तिका

सम्पूर्ण फल मिल सकता है;" अथवा "गुरु इत्यादिका द्रोह करनेवाला परमेश्वरका भक्त नही हो सकता;" अथवा "वह परमेश्वरका भी द्रोह करता है।"

इस तरहसे यदि कोई माता-पिता वगैराकी भक्तिकी महिमाका वर्णन करे, तो उसके खिलाफ कोई मुसलमान संभवत. एतराज नही उठावेगा।

२

परन्तु कोई कहेगा कि·

"वेद तो एम वदे, श्रुति-स्मृति शाख दे कनक कुडल विषे भेद न्होये,
घाट घडिया पछी नाम-रूप जूजवा, अते तो हेमनु हेम होये।"*

अर्थात् जैसे ककण सोना है, कुण्डल सोना है—ये वाक्य अक्षरश· सत्य है, वैसे ही गुरु, माता-पिता आदि परमेश्वर है ऐसा कहना भी अक्षरश: सत्य है, इसमे लक्षणा या अलंकार है ही नही।

परन्तु यह वात या यह दृष्टान्त सपूर्ण रूपसे मेल खानेवाला या सही नही है। कंकण या कुण्डल सापेक्ष रूपसे सुवर्ण नही है। अर्थात् एक आदमीके लिए तो वह सोना हो, पर दूसरेके लिए नही ऐसा नही है। सव लोगोके लिए वह सोना ही है। ऊपर वताये सम्वन्धियोके लिए ऐसा कहनेका दावा नही किया जाता। सार्वजनिक उपासनामे इन्हे सवके लिए समान रूपसे पूज्य मनवानेका प्रयत्न नही है। इसमे ककण-कुण्डल जैसे रूपभेदके अलावा दूसरे सम्वन्धदर्शक भेदोकी भी कल्पना रही हुई है। इसके लिए कदाचित् कुरते और चोलीका दृष्टांत दिया जा सकता है। कुरता भी कपडा है और चोली भी कपड़ा है। परन्तु एक पुरुषके लिए है और दूसरा स्त्रीके लिए है। पुरुषके लिए चोली व्यर्थ है; स्त्रीके लिए कुरता वेकार

---

* वेद वताते है और श्रुति-स्मृति उनका अनुमोदन करती है कि कनक (सुवर्ण) और कुण्डल (सुवर्णके अलंकार) के वीच कोई भेद नही है। सुवर्णको अलग अलग आकार देने पर ये अलग अलग नाम हो गये है। मूलमे तो सिर्फ एक सुवर्ण ही है।

है। उसी तरह हरएक व्यक्ति तत्त्वत. परमेश्वर ही है, फिर भी विशेष सम्बन्धसे वताया हुआ व्यक्ति उस सम्बन्धसे वधे हुए लोगोके लिए ही इष्ट या पूजनीय होता है, सबके लिए नही।

और, ककण तथा कुण्डल दोनों सुवर्ण है, ऐसा हम कहते तो जरूर है; परन्तु इसमे भी कुछ अध्याहृत (कहना वाकी) रहता है। ककण और कुण्डल दोनो सुवर्ण है, ऐसा कहनेमे हम सोनेके सम्वन्धमे आंशिक पक्ष ही पेश करते है, पूरा नही। यदि कोई इसका अर्थ ऐसा करे कि कंकण और कुण्डल ही सोना है, दूसरा सव सोना नही है, तो हम तुरन्त कहेगे कि हमारा कहनेका यह आशय नही है। सुवर्ण उनसे अति अधिक है, ककण-कुण्डल तो उसकी दो छोटीसी आकृतिया ही है। ऐसी तो सोनेकी असख्य आकृतियां वन सकती है, और फिर भी जिनका नाम नही दिया जा सकता ऐसी आकृतियोमें रहा हुआ अपार सोना वाकी रहेगा। इसलिए ककण और कुण्डल सपूर्ण रूपसे सुवर्ण होते हुए भी किसीको हम ऐसा खयाल नही कराना चाहते कि इन दोमे ही वह सोनेकी अथ और इति (आरभ और अन्त) मान ले। यही बात व्यक्तियोको परमेश्वर कहते या मानते समय ध्यानमे रखनी चाहिये। गुरु, माता-पिता, पति वगैरा परमेश्वर है, अथवा सूर्य, चन्द्र वगैरा परमेश्वर है, ऐसा कहते या मानते समय यह नही समझना चाहिये कि इन्हीमे परमेश्वरकी अथ-इति हो जाती है। इतना ही समझना चाहिये कि परमेश्वरके अपार रूपोंमे से कुछ लोगोको प्रिय या इष्ट लगनेवाले ये थोडेसे रूप है।

साराश यह है कि समग्रता और तात्त्विक पूर्णता ये दो भिन्न वस्तुए है। परमेश्वर समग्र पूर्ण तत्त्व है; परन्तु उसके किसी विशिष्ट रूपका विचार करे तो वह तत्त्वसे भले ही पूर्ण रूपमे वही हो, परन्तु समग्रताकी दृष्टिसे वह वह वस्तु नही है। छोटासा विन्दु और समुद्र दोनो तत्त्वसे पूर्णतया जल है। परन्तु जलकी समग्रता विन्दुमे नही है, समुद्रमे भी नही है। दूसरे शब्दोमे कहे तो विन्दु जल है, समुद्र भी जल है, परन्तु जल न तो केवल विन्दु है और न केवल समुद्र है। सोना, जल वगैराके लिए हमारे पास ऐसे शब्द नही है, जो उनकी

तात्त्विकता और समग्रता दोनोके वाचक हो। 'आजन्म' शब्दकी तरह 'आ' (=समग्र) उपसर्ग लगाकर कहे, तो ऐसा कह सकते है कि बिन्दु, समुद्र इत्यादि जल है, परन्तु आजल नही। कंकण, कुण्डल आदि सुवर्ण है, परन्तु आसुवर्ण नही। ईश्वरके विषयमे हमारे पास ईश्वर-परमेश्वर, ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा, पुरुष-पुरुषोत्तम, देव-महादेव आदि शब्दोकी जोड़िया है। जब यह मालूम हुआ कि छोटी वस्तुको बडा नाम दिया गया है, तब पर और सूक्ष्म वस्तुके लिए पिछले शब्द उत्पन्न हुए ऐसा दिखाई देता है। पहले तो देव ही था। परन्तु जब कोई अल्प सत्त्व देवके नामसे पहचाना जाने लगा अथवा जिसे देवके नामसे पहचानते थे उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तत्त्वकी खोज हुई, तब महादेव शब्द उत्पन्न हुआ। इसी तरह परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा वगैरा शब्द उत्पन्न हुए। इसका ठीक उपयोग किया जाय तो ऐसा कह सकते है कि व्यक्त पदार्थ देव है, महादेव नही; ईश्वर है, परमेश्वर नही, ब्रह्म है, परब्रह्म नही। परन्तु इस तरह विवेकसे शायद ही इन सब शब्दोका प्रयोग होता हो। ये सब पर्यायवाची है, इसी तरह प्राय इनका प्रयोग होता है। इसलिए इस भूलको एकबारगी रोकना हो तो ऐसा कहना चाहिये कि व्यक्त रूप देव है परन्तु आदेव नही, ब्रह्म है परन्तु आब्रह्म नही; सत्य है परन्तु आसत्य नही, पुरुष है परन्तु आपुरुष नही, इत्यादि।

इसके अलावा, एक दूसरी बात भी स्पष्ट होनी चाहिये। मनुष्यके श्रेयके लिए गुरु, माता-पिता आदिकी भक्ति चाहे जितनी साधन-रूप और आवश्यक हो और इसलिए वह इनके विषयमें चाहे जितनी देवबुद्धि रखता हो, फिर भी आदेव—समग्र देव—मे निष्ठा और भक्ति रखे बिना उसका काम चल ही नही सकता। इसलिए बालक या शिष्यके लिए माता-पिता या गुरु ही ईश्वर है, इस कथनमे कुछ अतिशयोक्ति है। इसमे से उसे आगे बढना ही पड़ेगा। इसलिए पहलेसे ही ऐसा कहना चाहिये कि गुरु, माता-पिता इत्यादिकी भक्ति स्तुत्य है, परन्तु वह आभक्ति—समग्र भक्ति—नही है; वह तो आदेवमे ही होनी चाहिये।

उस वृद्ध मुसलमानकी भाषामे खुदा शब्दका एक ही अर्थ था : आदेव, आसत्य। इसलिए जब हिन्दू पडितने कहा कि बालकके लिए माता और स्त्रीके लिए पति उसका खुदा है, तब माता और पतिको पंडित समग्र सत्य कहना चाहता है—ऐसा समझकर इस प्रकारके निन्दात्मक शब्दोसे उसे चोट पहुचे तो उसमे आश्चर्यकी बात नही।

हिन्दुओंमे अपर पदार्थोंके लिए परतावाचक शब्द लागू कर देनेका एक दोष है। इस कारणसे पर शब्दोके अर्थ उतरते ही जाते है और नये आचार्योंको नये शब्द दाखिल करने पडते है। देव और स्वर्ग एक समय परम तत्त्व और परम गतिका निर्देश करते थे; परन्तु इन शब्दोके आसपास बधी हुई कल्पना बादके विचारकको असतोषकारक लगी। उसने यह नही कहा कि देव और स्वर्गके विषयमे प्रचलित कल्पना प्राकृत और स्थूल है, परन्तु यह कहा कि ये कल्पनायें भी सच्ची है, परन्तु इनसे अधिक ऊची कल्पनावाले परम तत्त्व और गतिया भी है, और उनके लिए उसने इन्द्र—इन्द्रलोक, ब्रह्मा—ब्रह्मलोक आदि नये शब्दोंकी रचना की। उसके बादके विचारकको इन कल्पनाओंमें भी विचार-दोष लगा। उसने भी सिर्फ कल्पनाको सुधारनेके बदले नये देव और नये लोक बढाये। इस तरह विष्णु—वैकुण्ठ, महादेव—कैलास, कृष्ण—गोलोक, पुरुषोत्तम—अक्षरधाम आदि उत्तरोत्तर तत्त्वों और गतियोकी वृद्धि होती ही गई, और हरएक पथवालेके लिए अलग परम तत्त्व और अलग तरहकी परागति पैदा हुई। हरएक पथवालेकी वेदात परिभाषामे भी इस तरह माया-महामाया, प्रकृति-महाप्रकृति, काल-महाकाल, कारण-महाकारण, ब्रह्म-महद्ब्रह्म-परब्रह्म, क्षरपुरुष-अक्षरपुरुष-पुरुषोत्तम और पुरुषोत्तम भी जब अधूरा मालूम हुआ तब पूर्ण पुरुषोत्तम, प्रकट पुरुषोत्तम इत्यादि शब्द उत्पन्न होते ही गये। इस तरह ऊपर सुझाये हुए आदेव, आब्रह्म, आसत्य इत्यादि शब्दोकी भी ऐसी ही दशा होनेकी पूरी सभावना है। इसलिए ज्यादा सही तो इस्लामका यह नियम लगता है कि किसी भी नाम-रूपको खुदा कहना ही नही चाहिये। तत्त्वज्ञानी भले तत्त्वसे नाम-रूप तथा खुदामें अभेद देखे, परन्तु भाषामे वह किसी भी नाम-रूपका खुदाके रूपमें वर्णन

न करे। ज्यादासे ज्यादा वह उसे खुदाका नूर अथवा हिन्दू ग्रथोकी परिभाषामे उसका अश कहे, परन्तु मूल शब्दोमे समग्रताका भाव होनेसे मूल शब्दोका प्रयोग हरगिज न करे।

आदम खुदा नही, खुदा आदम नही,
लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नही।

अर्थात् मनुष्य समग्र देव नही है, और समग्र देव मनुष्य नही है, परन्तु समग्र देवके तत्त्वसे मनुष्य अलग नही है। समग्रताके वगैर देवका विचार किया ही नही जा सकता ऐसा समझकर समग्र शब्द निकाल डाले, तो यह कहना चाहिये कि मनुष्य देव नही है, और देव मनुष्य नही है, परन्तु देवके तत्त्वसे मनुष्य अलग नही है।

३

उस वृद्ध मुसलमानने कहा कि खुदामे तो सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय करनेकी शक्ति रही हुई है। किसी भी मानवके लिए खुदा शब्दका प्रयोग कैसे किया जा सकता है? ब्रह्मसूत्रोमे भी ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मके बीचके इस भेदके लिए 'जगद्व्यापारवर्जम्' (४–४–१७७) सूत्र है।

इसी तरह—

सत्यपि भेदाऽपगमे नाथ तवाऽह न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो ही तरग क्वचन समुद्रो न तारग.॥*
(षट्पदीस्तोत्र–३)

ऐसा कहते समय शकराचार्यको इस वातका ध्यान था। परन्तु भक्तिमार्गी सम्प्रदायोमे इस विचारको भुला दिया गया है। और इसके परिणाम-स्वरूप लगभग सब हिन्दू सम्प्रदाय इस श्लोकका उच्चारण करते हैं :

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वर।
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम॥

और बहुतसे सम्प्रदायोमे प्रत्यक्ष अथवा एक समयके गुरु या आचार्य ही परमेश्वरकी जगह लेते हैं। इस श्लोकको मैंने आज तक स्वीकार

---

* हे नाथ, भेदका नाश हो जाने पर भी मैं आपका हू, आप मेरे नही। तरग समुद्रकी होती है, समुद्र कभी तरगका नही होता।

किया था। परन्तु उस वृद्ध मुसलमानको पहुची हुई चोट पर विचार करनेके बाद मुझे लगा कि अपने ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरुके प्रति हमारी चाहे जैसी उत्कट भक्ति हो, फिर भी उनके प्रति इस श्लोकमे बताई हुई भावना रखना ठीक नही है। विद्वानोकी सूक्ष्म तार्किक बुद्धिकी अपेक्षा उस वृद्धकी टेढा देखनेके लिए मना करनेवाली सरल एकमार्गी बुद्धि अधिक सच्ची है।

जो विचार गुरुको लागू होता है, वह माता-पिता-पतिको विशेष रूपसे लागू होता है, इसमें तो समझाने जैसी कोई बात ही नही है। क्योकि उनके सम्बन्धमे तो मानवी गुणोकी पूर्णताका भी दावा नही किया जाता। उन्हे हमेशा नरोत्तम भी नही कह सकते, तो फिर परमेश्वर तो कह ही कैसे सकते हैं? वे सिर्फ उत्कट प्रेमके दावेसे ही आराध्य बनते हैं। परन्तु जो न्याय गुरुको लागू होता है, वही अवतारो, पैगम्बरो, तीर्थंकरो, बुद्धो इत्यादिको भी लागू होता है। किसीको भी — घासके तिनकेको भी — समग्रदेवका अवतार — उसका 'तेजोऽशसभव' व्यक्तरूप — कह सकते हैं, परन्तु समग्रदेव — आदेव — नही कह सकते। परमात्मा राम, कृष्ण आदि है, परन्तु राम, कृष्ण आदि परमात्मा नही हैं।

हिन्दू उपासना और विचारमे इतनी शुद्धि होनेकी जरूरत है।

४

हिन्दू धर्ममे परस्पर-विरोधी मालूम होनेवाले अनेक सम्प्रदायोके उत्पन्न होनेका एक कारण ऊपरका कुतर्क है। मै हिमालय हू, मै गगा हू, मै राम हू, मै शकर हू, मै अर्जुन हू वगैरा हम गीतामे पढते हैं। परन्तु हिमालय परमात्मा है, गगा परमात्मा है, राम, कृष्ण, शंकर, अर्जुन वगैरा परमात्मा हैं, ऐसा गीतामे भी नही कहा गया है।* यह वेदान्तने — अर्थात् भिन्न भिन्न मतके वेदाती गुरुओने सिखाया है। पहले

* समुद्र कहे कि मै ही तरग हू, बुदबुदा हू, तो वह एक बात है; वह ठीक है। परन्तु तरग या बुदबुदा कहे कि मैं ही समुद्र हू, तो वह ठीक नही है। यह भेद यहा सूचित किया गया है। (८–९–'४७)

सम्प्रदायके इष्टदेवके विषयमें सिखाया और आगे चलकर अपने विषयमे ऐसा मानना सिखाया। इस तरह घर घरके अलग परमेश्वर माननेकी प्रथा आरभ हुई। इसमे मायावादीने मायावादकी, लीलावादीने लीलावादकी, अनुग्रहवादीने अनुग्रहवादकी सहायता ली। इसमे कौन किसे झूठा कहे? इसलिए सर्वधर्म-समभावके दुरुपयोगसे जिनका स्थान जम गया हो वे सब सच्चे है, ऐसा समाधान निकाला गया।

यह कुतर्क ही साम्प्रदायिक पाखण्डोका मूल है। अत विचारशील मनुष्यको समझना चाहिये कि सब रूप परमेश्वरके है, परन्तु एक रूप या सब रूप मिलकर परमेश्वर नही बनता। इसलिए भले ही राम या कृष्ण या क्ष को हम परमेश्वरका रूप, विभूति या अश कहे, भले उनके विषयमे पूज्यभाव रखें, परन्तु ऐसा नही कहना या मानना चाहिये कि राम या कृष्ण या क्ष परमेश्वर है। ये सब इकट्ठे मिलकर भी परमेश्वर नही है। परमेश्वर सब नाम-रूपोसे हरएक बातमे और हरएक दृष्टिसे अनत गुना अधिक है। वह किसी एक रूपमे अपनेको समग्र रूपमे समा सके, ऐसा सभव ही नही है। सर्वशक्तिमानकी यह अशक्ति है, ऐसा यदि कहे तो भी कोई हर्ज नही है। इसलिए अमुक व्यक्ति पूर्णावतार है, अमुकमे परमात्माकी सोलहो कलाये है, अमुक प्रकट पुरुषोत्तम है, अमुक अवतारोका अवतारी है, आदि प्रयोग शब्दजाल—साम्प्रदायिक माया है। विश्वमे अभी तक ऐसा कोई व्यक्ति प्रकट नही हुआ और भविष्यमे भी प्रकट नही होगा, जिसे हम समग्रदेव कह सके।

माता, पिता, गुरु वगैरा सब वदनीय, पूजनीय, सेवनीय है; उनकी धर्मयुक्त आज्ञाओका पालन करनेमे कल्याण है। परन्तु यह भाषा अतिशयोक्तिपूर्ण है कि वे अपने बालक या शिष्यके लिए परमेश्वर है—अर्थात् अज्ञानपनमे भी यह असत्य है। इस भाषाको और ऐसे श्लोकोको छोड देना चाहिये।

इस समग्रदेवको नाम-रूपमे लाना और साकार रूपमे उसके ध्यानका प्रयत्न करना ठीक नही है। जो भी प्रयत्न किया जायगा, वह उसे मर्यादित करनेवाला होगा। नीचेके श्लोको द्वारा उसकी कल्पना या ध्यान करना हो तो हम कर सकते है

अनादिमत्पर ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।
सर्वत पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।
सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।
वहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत् ।।
अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

(गीता १३, श्लोक १२–१७)

(वह अनादि परब्रह्म है। उसे न सत् कह सकते है, न असत्। सब ओर उसके हाथ और पैर हैं, सब ओर आख, कान, मुह, सिर आदि है, और सवको अपनेमे समाकर वह विद्यमान है। उसमे सव इन्द्रियोके गुण भासमान होते है, फिर भी वह सर्व इन्द्रियोसे रहित है। वह किसीसे — कही भी लिप्त नही, फिर भी सवका भरण-पोपण करनेवाला है। वह निर्गुण है, फिर भी सव गुणोका भोक्ता है। वह सर्व भूतोके वाहर भी है, और उनके भीतर भी है। वह अचर-स्थिर भी है, और चर-जगम भी है। अति सूक्ष्म होनेसे उसका विज्ञान नही किया जा सकता। वह दूर भी है, नजदीक भी है। उसके भाग नही हो सकते, फिर भी वह भूतोमें इस तरह विद्यमान है, मानो उसके भाग हो गये हैं। उसे सर्वभूतोका भर्ता-पालक-पति, सवका ग्रास करनेवाला और सब पर प्रभाव रखनेवाला समझा जाय। वह सूर्य-चद्र-नक्षत्र आदि सव प्रकाशमान ज्योतियोंको प्रकाश देनेवाला है, और अधकारसे भी परे है। वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है, वही ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है। वह हरएकके हृदयमे वसा हुआ है।)

उसके किसी प्रिय रूप, मूर्ति या विभूतिका भले आप वदन-कीर्तन कीजिये; भले उसका और उसके चरित्रोका वार वार स्मरण

करके मनको पवित्र रखने और उन्नत करनेकी कोशिश कीजिये। परतु इसके लिए उसे परमेश्वर कहनेकी जरूरत नही है, इसलिए ऐसा न कहे। वह परमेश्वर हरगिज नही है। उसका आधार लेकर कदाचित् आप अमुक हद तक ऊचे उठ सकेगे; परन्तु उसके बाद तो आप उसे छोडकर ही आगे बढ सकेगे।

(प्रस्थान, जुलाई-अगस्त, १९३७)

३

उपासना-शुद्धि*

मेरी रायमे जीवनको धार्मिक बनानेके लिए अनेक धर्मग्रन्थोका अथवा अपने इष्ट धर्मग्रन्थका भी अतिशय पाण्डित्यपूर्ण अभ्यास करनेकी जरूरत नही है। नामदेव, तुकाराम, नरसिंह महेता इत्यादि सतोके जीवनको देखें, तो ऐसा नही मालूम होता कि वे बहुत विद्वत्ता प्राप्त करके धार्मिक बने थे अथवा विशेष प्रकारकी धार्मिक दृष्टि प्राप्त कर सके थे। कमसे कम मेरी धार्मिक प्रगति तो इस तरहसे नही हुई।

मेरे कहनेका मतलब यह नही है कि मैंने धार्मिक ग्रन्थोका और विभिन्न धर्मोके ग्रन्थोका बिलकुल ही अभ्यास नही किया है। परन्तु एक भी धर्मका — हिन्दू धर्मके ग्रन्थोका भी — मैंने पाण्डित्य-पूर्ण अभ्यास नही किया है। मै सत्याग्रहाश्रममे रहने गया, तब मेरी उमर २७–२८ वर्षकी थी। १७ वे या १८ वे वर्षमें मैंने पहली बार गीता पढी। मिशनरी सस्थाओमे पढनेके कारण मैंने बाइबलके कितने ही भाग लाजिमी तौर पर पढे थे। परतु इन दो पुस्तकोको छोड़ दू, तो जिस सम्प्रदायमें मेरा जन्म हुआ था उस सम्प्रदायके ग्रंथोके सिवा अनेक धर्मग्रन्थोको देखनेका आश्रममे रहने आया तब तक मुझमें कोई उत्साह ही नही था। स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्दके ग्रंथ मेरे पास थे जरूर; परन्तु उनमे से दो-चार व्याख्यानोंसे ज्यादा मैंने

* बर्धाके कुछ ग्रामसेवकोंके सामने दिया हुआ व्याख्यान।

पढे हो ऐसा मुझे याद नही आता। 'गीता-रहस्य' के प्रकाशित होते ही मैंने उसे खरीद लिया था और उसी समय पढ भी डाला था। परतु उसे पढकर 'निकाल दिया' था; 'पचाया' था ऐसा मै नही कह सकता। उस समय उसे पचाने जितनी मुझमे ताकत भी नही थी। आश्रममे आनेके बाद वहा लिये जानेवाले वर्गोंमें मुझे अनायास ही उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थोंका परिचय हुआ।

साराश यह है कि अनेक शास्त्रोका अध्ययन करके मेरी वृत्ति धार्मिक नही हुई है, और आज भी मुझे ऐसा लगता है कि धार्मिक वृत्तिके पोषणके लिए अनेक ग्रथोका और अनेक धर्मोका विद्वत्तापूर्ण अध्ययन आवश्यक नही है। इतना ही नही, परतु बहुत बार ऐसे अध्ययनका शौक धार्मिक वृत्तिके लिए बाधक भी होता है। सगीत-शास्त्रके विपयमे मेरी जो राय है वही धर्मशास्त्रके विपयमें है। एकाव भजन या धुन शास्त्रीय सगीतके अनेक प्रकारके आलापो वगैराके साथ बोली जाय, तो इकट्ठा हुआ जनसमूह नाचने और झूमने लगता है, यह मैने अनेक वार देखा है। इससे भजन-मण्डली गानलीन जरूर होती है, परतु भक्तिलीन भी होती ही है, ऐसा विश्वासके साथ नही कहा जा सकता। 'अखिया हरि-दर्शनकी प्यासी' भजन बहुत अच्छी तरहसे गाया जाय, तो करुण-रसका आनद अवश्य उत्पन्न होता है, परतु यह रस न तो हरि-दर्शनकी प्यास पैदा कर सकता है और न उसे बुझा सकता है। इससे उलटे, जिसको यह प्यास लगी हो उसके गानेमे सगीतका खून होता दीखे, तो भी वह इस भजनमे लीन हो सकता है। इसी तरह धार्मिक जीवनके लिए ऊपर वतायी हुई व्याकुलता हो, तो एक-दो ग्रथोका नित्य अनुशीलन उसके लिए जरूरी है, परतु ऐसे एक-दो ग्रथ उसके लिए पर्याप्त है। ऐसी व्याकुलता न हो तो धार्मिक ग्रथोंका अभ्यास करनेकी रुचि सिर्फ एक तरहका बौद्धिक रस वन जाती है, धर्मकी प्यास नही बनती।

मै हिन्दू हू यह आपसे कहनेकी जरूरत है क्या? एक सयम-प्रधान वैष्णव सप्रदायमें मेरा जन्म हुआ है, इसलिए उमरका बहुत बडा हिस्सा मैने उसमें निष्ठापूर्वक विताया है। करीव दस सालसे

ही मैंने उस सप्रदायका अभिमान छोडा है। परतु सप्रदायका अभिमान छोड देने पर भी मैंने उस सप्रदायसे प्राप्त हुए वहुतसे आचार, विचार तथा सस्कारोको नही छोडा है। और आश्रममे जो आचार-विचार पाले जाते है उनकी अपेक्षा भी मेरे अपने वैयक्तिक आचार, विचार, सस्कार आज भी ज्यादा सनातनी और मर्यादावाले है। फिर भी आज मै अपनेको सनातनी हिन्दू कहनेके लिए तैयार नही हू। आजके हिन्दू धर्मके विषयमे तथा हिन्दू धर्माभिमानी शास्त्री, पडित, वेदाती वगैराके वारेमे मुझे कठोर भाषामे वोलनेकी इच्छा होती है। इस कठोर भाषाके मूलमे हिन्दू समाजकी सेवा करनेकी मेरी इच्छा है, हिन्दू जनताके साथ मेरा आत्मभाव है, हिन्दुत्वके विषयमें तिरस्कार या द्वेष नही।

हिन्दू धर्ममें चलते-फिरते सत्य और ब्रह्मचर्यकी जितनी महिमा गाई जाती है, उतनी दूसरे धर्मोंमे शायद नही गाई जाती। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि हमारे धर्मोंके सतोको हमारे समाजमे दूसरे समाजोकी अपेक्षा इन गुणोका अस्तित्व कम लगा होगा, इसलिए उन्हे इन पर वार वार भार देना पडा होगा। जो गुण समाजमें अच्छी तरहसे विकसित होते है, उन पर वोलनेकी जरूरत नही होती। जो गुण समाजमें होने चाहिये, परन्तु दिखाई नही देते, उनका ही प्रतिपादन करना पडता है।

परतु हिन्दू धर्ममे सत्य और ब्रह्मचर्य पर चाहे जितना भार दिया गया हो, फिर भी मुझे लगता है—और दु खपूर्वक लगता है—कि हिन्दू धर्मकी ईश्वरोपासना वहुत हद तक असत्य-निष्ठ और व्यभिचारी है। ये शब्द आपको तीखे लगेगे। परतु मै इनका प्रयोग आवेशमे आकर नही कर रहा हू। दीयेकी ज्योति कभी कभी ऐसी स्थितिमे होती है कि वह जलता है या वुझ गया है, यह हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते। इसी तरह हमारे हिन्दू धर्ममे सत्योपासना वुझ गई है या मद पड कर भी जाग्रत है, यह कहना मुश्किल है।

'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या' इस सूत्रकी रचना शकराचार्यने की। उनका यह प्रामाणिक मत होगा, ऐसा माननेमे कोई हर्ज नही।

परतु 'जगत् मिथ्या' के इस पाण्डित्यका हमारे देशमे विचित्र रूपमे विकास हुआ है। जहा सारे जगत्को ही मिथ्या ठहराया गया हो, वहां जगत्के व्यवहारमे या ईश्वरकी उपासनामे भी सत्यासत्यका विवेक करनेके लिए स्थान ही कहा है? इसलिए जगत्के किसी भी पदार्थ, भावना, नीति अथवा व्यवहारको सुविधाके अनुसार असत्य मानकर उसका खण्डन करनेमे या सत्य मानकर उसका मण्डन करनेमे या उसमे सत्यासत्यका मिश्रण करनेमे किसी भी तरहकी बाधा नही आती। जिसको जैसी पुस्तक अच्छी लगे वैसी वह लिखे, चाहे जिसके नामसे उसे प्रकाशित करे, उसमे चाहे जिस तरहसे सकलना करे, चाहे जैसे विधानोकी रचना करे और सिद्धातोका प्रतिपादन करे, उनके लिए चाहे जैसी कथाए गढ़ ले तथा चाहे जिन पुस्तकोमे क्षेपक डाले, और यह सब समाजके कल्याणके लिए, धर्मके उत्कर्षके लिए है, ऐसा कह कर वह आत्म-सतोष मानता है। और जिस ग्रथके विषयमे हमारा यह पक्का निश्चय हो कि उसमे ऐसी गडबड हुई है तथा जिस उपासनाके लिए हमारा यह मत हो कि वह कपोलकल्पित है, उसका भी हमे गुणगान करते रहना चाहिये। अवतारी या सत्पुरुषोके चरित्रोमे भी बिना सिर-पैरकी गलत बाते दाखिल करनेमे साधुकी ख्याति प्राप्त किये हुए लेखकोको भी शायद ही दोष लगा है। महाभारत, वाल्मीकि रामायण, तुलसी रामायण, मनुस्मृति, पुराण चाहे जो ग्रथ लीजिये। एक भी ग्रथ ऐसा नही होगा, जिसमे क्षेपक न हो। सारी भगवद्गीता भी एक ही व्यक्तिकी रचना होगी या नही, ऐसी शका पैदा होनेके भी कारण है। योगवासिष्ठ जैसे कुछ ग्रथ तो किसी सप्रदाय-प्रवर्तकने लिखकर किसी दूसरे प्रसिद्ध मुनिके नाम पर चढा दिये है। इस जगद्रूपी मायाकी अपेक्षा धर्म-प्रचारकोंकी माया इतनी बलवान है कि प्रकृतिगत असत्य-की अपेक्षा शास्त्रोके असत्योमे से सत्यकी ओर ले जानेके लिए भगवानसे यह प्रार्थना करनेका मन होता है—'असत्योमे से, हे प्रभु! तू हमे परम सत्यकी ओर ले जा।'

हमारी बहुमान्य बनी हुई गीताको ही ले लीजिये। पता नही किस कारणसे उसके लेखककी कवि-कल्पनाको यह लगा कि उसे अपना

आध्यात्मिक मत धृतराष्ट्र और संजयके संवादमें कृष्णार्जुनका उपसंवाद रच कर समझाना चाहिये। आगे जाकर इतिहास-संशोधकोंने अनुमान निकाला कि कौरव-पाण्डवोंका युद्ध किसी वर्षकी मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीके दिन हुआ होगा। फिर तो इन दोनोंकी कडी जोड देनेमें कौनसी बाधा आ सकती थी? लोगोंकी यह मान्यता तो है ही कि कृष्ण और अर्जुनका संवाद एक ऐतिहासिक घटना है। इस मान्यताका उपयोग करके मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीके दिन गीता-जयंतीका त्योहार मनानेका कार्यक्रम तैयार किया गया। भले ही यह काल्पनिक हो, परन्तु इसके बहाने गीताकी महिमा तो बढती है, ऐसे हिसाबोंमें हम फंस जाते हैं। हिन्दू धर्मकी बहुत बडी जनसंख्याके लिए मान्य अथवा आदरणीय हो सकनेवाला जो एक धर्मग्रंथ बाकी रहा है, उसके साथ भी हम ऐसा ढोंगका व्यवहार करते हैं, तो दूसरे ग्रंथोंके बारेमें तो कहना ही क्या?

इस तरह धर्मके प्रतिपादनमें हमारे देशमें सत्यका बहुत बडा द्रोह हुआ है। इसके बाद हिन्दू उपासनाका विचार करें, तो ब्रह्मचारिणी भक्ति बहुत अंशमें लुप्त हो गई है और उसके स्थान पर व्यभिचारिणी भक्ति ही मानो सनातन हिन्दू धर्मकी सराहने लायक विशेषता बन बैठी है। ब्रह्मचारिणी — अर्थात् ब्रह्ममें विचरण करनेवाली — भक्ति तो रही ही नहीं, परंतु सगुणोपासनामें भी किसी एक ही स्वरूप पर निष्ठा रखनेकी बात हमें कभी सिखायी नहीं जाती। आज रामनवमी है इसलिए रामकी मूर्तिकी स्थापना करके हम रामनामकी धुन लगाते हैं; आज जन्माष्टमी है इसलिए बालकृष्ण या मुरलीधरको बैठा कर हम गोपाल-कृष्णकी धुन लगाते हैं, आज गणपति-चतुर्थी है इसलिए 'वक्रतुण्ड महाकाय' के साथ 'तू ही हमें निर्माण करनेवाला देव है' ऐसा कहकर हाथ जोडते हैं, आज गुरुवार है इसलिए आज दत्तात्रेयको याद करना ही चाहिये। इसी तरह नागपंचमी, दुर्गाष्टमी वगैरा जो त्योहार आते हैं, उनमें से हरएकके लिए एक भिन्न आकृति, भिन्न नाम, भिन्न चरित्र, भिन्न कर्मकाण्ड रखनेवाला देव है ही। और यदि इस सारी उपासनाको हम योग्य मानते हैं, तो बेचारे भंगियोंकी 'मेलडी माता' या रानीपरज (एक

आदिम जाति) के खेतकी सीमा पर तथा झाडोके नीचे रहनेवाले देवोका निषेध क्यो करना चाहिये? जिस वेदात-विचारसे गणपति, लक्ष्मी, पार्वती, शकर, इन्द्र, वरुण आदि देवोका समन्वय किया जा सकता है, वह विचार हरएक खेत और झाडमे रहनेवाले देव, भूत, प्रेत वगैराका समन्वय करनेमें भी समर्थ है। 'सब काल्पनिक, मायिक, झूठ, असत्य होने पर भी सब शिव और सुन्दर है'—यह कैसा सुन्दर और सुविधाजनक समन्वय है?

ऐसा समन्वय भले ही किया जा सके, परतु उपासना, भक्ति अथवा श्रद्धाका ऐसा प्रकार किसी भी साधक या समाजको ऊचा नही उठा सकेगा। कुछ वैष्णव सप्रदायोमे कहे अनुसार यह सचमुच व्यभिचारी भक्ति है, अनन्य अव्यभिचारी भक्ति नही, और ब्रह्मचारिणी भक्ति तो बिलकुल ही नही है।

जो दपती परस्पर मन, वचन, कर्मसे अव्यभिचारी और एकनिष्ठ रहते है, उन्हे हम सज्जन और सती—अर्थात् सत्ययुक्त पुरुष तथा स्त्री—कहते है। ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणीकी भूमिका इनसे ऊची है। उसमें पुरुष तथा स्त्री दोनो निरालम्ब होते है। उपासनामे पहले हमारा एकनिष्ठ और अव्यभिचारी होना जरूरी है। आपको सगुण—अथवा केवल सगुण ही नही परतु साकार सगुण—के अवलम्बनकी जरूरत महसूस होती हो, तो भी कोई हर्ज नही है। परतु अनेक देवी-देवताओके पीछे लगकर और उनकी पूजा-विधिके आडवरमे पड़ कर आपका कभी कल्याण नही हो सकेगा, इससे हमारा धर्म कभी शुद्ध या प्राणवान नही वन सकेगा।

अमेरिकाके एक कारखानेका मालिक एक वार विलायतका एक कारखाना देखने गया था। अग्रेज व्यवस्थापक उसे कारखाना दिखा रहा था। एक यत्र देखकर अमेरिकनको कुतूहल हुआ और उसके वारेमे उसने पूछताछ की। व्यवस्थापकने कहा कि यह यत्र वहुत सालोका पुराना है; यद्यपि यह वहुत अच्छा काम नही देता, फिर भी पुराना होनेसे उसे हटाया नही। 'हमारे कारखानेमे वहुतसे यत्र पुराने है'—ऐसा उसने अभिमानसे कहा। अमेरिकनने उतने ही अभिमानसे जवाव दिया,

'हमारे कारखानेमे शायद ही कोई यत्र दो या तीन सालसे ज्यादा पुराना होगा। हम तो नई शोध होते ही पुराने यत्रोको कचरा समझ कर फेंक देते है।' हम हिन्दू लोगोकी वृत्ति वहुत कुछ उस अग्रेज व्यवस्थापकके जैसी ही है। हिन्दू धर्मको हमने प्राचीन नमूनोके सग्रहालय जैसा वना रखा है।

परन्तु यह विषयान्तर होगा। मेरे कहनेका मतलव यह है कि यदि आपको साकार सगुणोपासनाकी जरूरत मालूम होती हो तो भले कीजिये। पर आखिरमे किसी एक ही देव पर अनन्य निष्ठा रखिये। ऐसी सच्चारिणी भक्तिमे से ही आप ब्रह्मचारिणी — ब्रह्ममे विचरनेवाली — निरालव भक्तिकी ओर मुड सकेंगे।

मै निश्चित रूपसे मानता हू कि जीवनमे मुझे जो एक प्रकारका सतोष है, उसका कारण यह नही है कि मैंने धर्मग्रथोका वहुत गहरा अध्ययन किया है। परतु वचपनसे ही मुझ पर अनन्य — अव्यभिचारी भक्तिके सस्कार पडे थे। अनेक देव-देवियोंके प्रति मुझमे कभी भक्ति पैदा नही हुई। राम, कृष्ण वगैरा सव एक ही ईश्वरके अवतार है, ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता होने पर भी मुझे कुटुम्वसे जिस एक देवकी उपासना मिली थी उसके सिवा दूसरे किसी अवतारके प्रति भी मेरी वहुत रुचि नही थी, धर्मग्रथोके प्रति भी नही थी। मैंने जव गीताका अनुवाद किया तव एक मित्रने मुझे सलाह यह दी कि श्री विनोवाजीकी 'गीताई' की तरह इसका नाम 'गीतामाता' रखना चाहिये। परतु मैंने कहा कि श्री विनोवाने जो नाम दिया है वह उनके लिए योग्य है, मेरे लिए योग्य नही है। मेरे जीवनमे गीताने माताका काम नही किया है। मै ऐसा नाम रखूगा तो वह असत्य होगा। इसलिए मैंने सस्कृत गीताकी इसमे ध्वनि है ऐसा सूचित करनेवाला सादा 'गीताध्वनि' नाम पसन्द किया।

मेरा कहना यह नही है कि धर्मग्रथोका अनुशीलन जरूरी नही। मनुष्यका अपना कोई प्रिय ग्रन्थ होना चाहिये। उसका निरतर वाचन-चितन उसे करना चाहिये। उसके उपदेशके अनुसार अपना जीवन वनानेका सदैव प्रयत्न करना चाहिये। इसके सिवा, साधु-सतोके चरित्र

पढने और भजन गानेका भी व्यासंग — अभ्यास — होना चाहिये। परतु वे ग्रन्थ और चरित्र सत्यकी रक्षा करके रचे हुए होने चाहिये। उनके अलावा कोई ग्रन्थ हाथमे आवे तो आप उसे आदरसे पढिये, परतु आपकी निष्ठा तो एक ही देव पर होनी चाहिये, और अपनी आध्यात्मिक खुराकके लिए एक-दो ग्रन्थ ही आपको पर्याप्त लगने चाहिये। दूसरा पठन अचार-चटनीकी तरह अथवा कभी कभी किये जानेवाले नये प्रकारके भोजनके जैसा होना चाहिये।

मुसलमान धर्मका जो विशेष तत्त्व मुझे पसद आता है, वह यह कि उसमे एकेश्वर-भक्ति पर खूब जोर दिया गया है। इस्लाममे ब्रह्मचर्यको या अव्यभिचारी दपती-धर्मको वहुत महत्त्व नही दिया जाता, ऐसा लग सकता है। परतु उपासनाके वारेमे उसकी निष्ठा सर्वथा ब्रह्मचारिणी नही हो तो भी वहुत अशमे सच्चारिणी है।

मैंने आपके सामने सत्य और ब्रह्मचर्यके कुछ भिन्न अर्थ सहज रूपमे रखे हैं। सत्य अर्थात् अव्यभिचारित्व — वफादारी; ब्रह्मचर्य अर्थात् परम तत्त्वमे विचरण। सामान्य रूपसे हम जिस व्रतको ब्रह्मचर्यके नामसे पहचानते है, वह इस परम ब्रह्मचर्यका साधनरूप एक व्रत है।

भिन्न भिन्न धर्मोका मुझे जो थोडा वहुत ज्ञान है, उसे आपके सामने रखनेका मुझे उत्साह नही है। इसका एक दूसरा कारण भी है। **मेरा आज ऐसा विश्वास नहीं है कि जगत्में आज जो धर्म या उनके संप्रदाय प्रचलित हैं, उनमें से एक भी हमारा उद्धार करनेमें समर्थ है।** सब धर्मोका अभ्यास करके, हरएकका कुछ अश लेकर चार पडितो या समझदार लोगोको एकाध नये धर्मकी स्थापना करनी चाहिये — ऐसा यदि कोई कहे, तो उसे भी मैं व्यर्थ प्रयत्न मानता हू। नये धर्मकी स्थापना इस तरह नही हो सकती। पडितोके द्वारा धर्मका प्रचार (प्रोपेगेन्डा) तो जरूर हो सकता है, परतु धर्म-स्थापना इन पडितोका विषय नही है। धर्म-स्थापनाका अर्थ पिछले धर्मोका समन्वय या काट-छाट नही है, वह अनेक धर्मोका सकर नही है, नये भाष्यकी रचना नही है, पुराने वृक्ष पर नई कलम वैठानेकी कला नही है। वुद्ध और मुहम्मदने जो धर्म स्थापित किये, उनके परिणाम-

स्वरूप पहलेके धर्मशास्त्र व्यर्थ और नि शेष हो गये। जिस तरह किसी पराक्रमी पुरुषसे नये वशकी स्थापना मानी जाती है और ऐसा लगने लगता है मानो उस पुरुषके कोई पूर्वज थे ही नही, उसी तरह जब स्वतत्र दृष्टि प्राप्त किया हुआ कोई पुरुष उत्पन्न होता है तब नवधर्मकी स्थापना होती है। उसके धर्ममें पहलेके धर्मोके तत्त्व होते ही नही ऐसा नही, परतु वह धर्म पुराने ग्रथोसे नही, बल्कि उस पुरुषके अपने वचनसे —अनुभवसे प्रमाणभूत माना जाता है। महाराष्ट्रके सत ज्ञानेश्वरने 'अमृतानुभव' मे कहा है उस तरह "यही मत शिवने शिवसूत्रमे और कृष्णने गीतामे प्रकट किया है, परतु शिवने या कृष्णने यह मत प्रकट किया है इसलिए मै उसे नही कहता, बल्कि यह मेरा अपना अनुभव है इसलिए कहता हू।" आपने एक राजाकी बात सुनी होगी। उसने एक दूसरे राजाकी पुत्रीसे विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की। पुत्रीके पिताने उस राजाकी वशावली पूछी। राजाने कहला भेजा, "मै अपनी तलवारसे उत्पन्न हुआ हू। मेरी तलवार ही मेरा आदि-पुरुष है।" नवधर्मकी स्थापना इस तरह होती है। जिस प्रकार किसी सपूर्ण कायदे (code) के पास हो जानेके बाद उसके पहलेके छुटपुट कायदे नही देखने पडते, उसी प्रकार नवधर्म-स्थापकका निर्माण होनेके बाद वेद, कुरान, बाइबल वगैरा सब धर्मशास्त्रोको निरुपयोगी बना देनेवाले शास्त्रका निर्माण होगा। ऐसे स्थापकके उत्पन्न होनेकी मै आशा करता हू।

मेरा यह कहना आज आपके गले उतर ही जायगा, ऐसा मुझे विश्वास नही है। इसका दूसरा पहलू पेश करके ऐसी दलीले करना असभव नही है, जो आपको अच्छी तरह गडबडीमे डाल दे। परतु मै आपको इतना विश्वास तो दिलाता हू कि मै जो कुछ कहता हू वह जब तक आपके गले नही उतरेगा, तब तक आपके चित्तका मोक्ष नही होनेवाला है। फिर "नाऽह चित्त बधमोक्षौ कुतो मे ?" ऐसा कह कर भले ही आप सतोष मान ले।

(प्रस्थान, अक्तूबर १९३५)

४

ईश्वर-निष्ठाका बल*

भाषामे ऐसे बहुतसे शब्द है, जिनका हरएक व्यक्ति उपयोग करता है, फिर भी उनके अर्थके विषयमे किन्ही दो दर्शनो, सप्रदायो या व्यक्तियोका भी कभी एकमत नही होता । 'ईश्वर' शब्द ऐसे ही कठिन शब्दोमे से एक है। कुछ समय पहले जब गाधीजीने यह कहा कि 'सत्याग्रहीकी ईश्वरमे श्रद्धा होनी ही चाहिये', तव वहुतसे राजनीतिक कार्यकर्ताओके मनमे दुविधा पैदा हुई थी । ईश्वरके अस्तित्वके विषयमे या उसको अपना आधार माननेके विपयमें कुछ लोग शकाशील है, कुछ सिर्फ शकाशील ही नही है वल्कि निश्चयपूर्वक ईश्वरका इनकार करते है, फिर भी सत्याग्रहका उत्साह और लगन रखते है। उन्हे गाधीजीके ये शब्द अखरते है। और यदि सत्याग्रही होनेके लिए ईश्वर-निष्ठा जरूरी हो, तो फिर यह सवाल भी खडा होता है कि किसके ईश्वरमे अथवा कौनसे ईश्वरमें ? ज्ञानी — सूफियोके ? स्मार्तके ? वैष्णवके ? आर्यसमाजके ? मुसलमानके ? ईसाईके ? पारसीके ? सगुणमे ? निर्गुणमे ? या गाधीजीके 'सत्यरूपी ईश्वर' को समझकर उसीमें ? और फिर निरीश्वरवादी साख्यो, जैनो, वौद्धोका क्या होगा ? क्या उनके लिए सत्याग्रहका मार्ग वन्द समझना चाहिये ?

यह वस्तु समझनेके लिए धर्म और तत्त्वज्ञानकी सूक्ष्म चर्चाए की जाती है। परतु ये चर्चाए विषयको स्पष्ट करनेकी अपेक्षा उलझन ही पैदा करती है। मेरी दृष्टिसे विचारने योग्य वस्तु यह है:

दुनियाके इतिहासमे हमे सैकडो उदाहरण ऐसे मिलते है, जिनमें अकेला व्यक्ति — किसी समय वालक जैसा छोटा व्यक्ति भी — किसीकी मददके विना जवरदस्त शक्तियोका निडरता और दृढतासे मुकावला करनेके लिए खडा होता है। इन शक्तियोके सामने थोडा

* १९३९ के 'हरिजनवधु' मे छपे एक लेखके आधार पर।

झुक जानेसे जीवन बच सकता हो तथा लाभ भी हो सकता हो, तो भी वह झुकनेकी अपेक्षा टूटना या नष्ट हो जाना अधिक पसद करता है। ऐसे व्यक्तिके हृदयमे ऐसी किस वस्तुका अनुभव होता है, जो उसे इतना बल देती है? प्रह्लाद ऐसी किस वस्तुका अपने हृदयमे अनुभव करता था, जिसके बल पर वह अपने पिताकी कठोर यातनाओकी अवगणना कर सका? या सुधन्वा तेलमे भुने जानेकी, गुरु गोविन्दसिंहके छोटे छोटे पुत्र दीवालमे जीवित चुने जानेकी और रोमका तरुण जलती हुई मशालमे अपना हाथ रख देनेकी यातना किसके बल पर सतोषपूर्वक सहन कर सके थे? प्राणो और जीवनके सुखोके विषयमे ऐसी लापरवाही बतानेका बल देनेवाली तथा शारीरिक जीवनकी अपेक्षा किसी अशरीरी वस्तुके साथ अधिक आत्मीयताका अनुभव करानेवाली आखिर कौनसी वस्तु है?

इस तरह बरतनेके लिए किसी जबरदस्त 'भावना' का अनुभव होना चाहिये, ऐसा अनीश्वरवादीको भी स्वीकार किये बिना चारा नही है। यह भावना सामान्य इन्द्रियोके विषयोकी या सकल्प-विकल्पोकी नही है। परतु यह एक ऐसा अनुभव है, जिसके कारण उस मनुष्यका यह विश्वास होता है कि उसमे कोई ऐसी शक्तिशाली प्रेरणा काम कर रही है, जो दुनियाकी दूसरी सब शक्तियोसे अधिक बलवान है, जो उसके शरीर और प्राणोकी अपेक्षा उसके अधिक समीप है।

इस शक्तिको कोई 'ईश्वर-निष्ठाका बल' कहना पसद करता है, कोई 'अध्यात्म-बल' (spiritual force) कहता है, कोई 'आत्म-बल' (soul-force) कहता है, कोई 'नैतिक बल' (moral force) कहता है, तो कोई 'प्रतीति-बल' (strength of conviction) कहता है। परतु इस बलकी परीक्षा यह है क्या आपको ऐसा कोई बलवान अनुभव होता है, जो कसौटीके समय आपके मनमे ऐसी कमजोरी पैदा न करे कि 'मुझे कोई बचा ले तो अच्छा' अथवा 'मै जरा सभल कर चलू'? आपकी भयवृत्ति पर प्रभुत्व रखनेवाले इस अनुभवको आप चाहे जिस नामसे पहचानें, परतु यदि उसका बल आपको अपने नेक मार्ग और कार्यमे दृढ रहनेके लिए और उसके

खातिर संतोषपूर्वक अपना जान-माल तथा अपनी प्रवृत्तिका इष्ट माना हुआ फल भी खोनेके लिए तैयार रखनेवाला हो, तो आप सत्याग्रहके मार्ग पर डटे रह सकेंगे।

इस विषयमें एक दूसरी बात भी याद रखनी चाहिये। स्वदेश-भक्ति, प्रेम, लोभ, साहस वगैराके वेग भी कभी कभी असाधारण हिम्मत पैदा करते हैं। ऐसी भावनाओंके आवेग यदि हमारा ध्येय बुरे रास्ते जानेसे प्राप्त हो सकता हो, तो उसे छोड़नेके लिए तैयार नहीं होंगे। ऊपर वर्णन किये हुए बलका आधार रखनेवाले व्यक्तिमें ध्येयकी सिद्धिकी रीतिके विषयमें नैतिकताका भी एक निश्चित माप होता है। उस नैतिकताको छोड़कर वह अपना ध्येय सिद्ध करनेके लिए कभी तैयार नहीं होता।

इस तरह "स्वयं आकाश भी टूट पड़े और मनुष्यके सब मनोरथ या सांसारिक ध्येय चूर चूर हो जायं, तो भी उसे अपने निश्चय पर अडिगतासे — अकेला होने पर भी — चिपके रहनेकी शक्ति देनेवाला जो मूल स्रोत है, वही 'अध्यात्म-बल', 'आत्मबल' या 'ईश्वर-निष्ठाका बल' है। और इस बलका वह अंश, जिसके कारण मनुष्य अपने ध्येयको सिद्ध करनेके लिए अमुक नैतिकता या सदाचारसे चिपका रहता है अथवा अमुक मार्गोंका त्याग करनेके निश्चयको टिकाये रखता है, उसका नैतिक बल कहा जा सकता है।"

ऐसा बल पैदा करनेवाला विश्वास धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, बल, तप, नियम, शास्त्र-चिंतन, विज्ञान वगैरा चाहे जिन निमित्तोंसे उत्पन्न हो, वही सत्याग्रहीका ईश्वर या आत्मा है। यह चीज गौण है कि वह उसे ईश्वर, आत्मा या अध्यात्मके नामसे पहचानता है या दूसरी किसी रीतिसे समझाता है। तात्पर्य यह है कि यह बल उसे बाहरके साधनों या समाजमें से नहीं मिलता। वह अपने भीतर ही इसका अनुभव करता है। जिसके पास ऐसे बलका आधार नहीं होता और जो बाह्य योजना तथा विविध साधनों पर ही सत्याग्रह करनेका आधार रखता है, वह आखिर तक सत्याग्रही नहीं रह सकता।

परोक्ष पूजा

"हमे तो ऐसा लगता है कि (जिसे) पूर्वजन्मका सस्कार होगा, वह भी सत्पुरुषके समागमसे प्राप्त हुआ होगा; और आज भी जिसे सस्कार होता है वह सत्पुरुषके समागमसे ही होता है। इसलिए ऐसे सत्पुरुषका सग प्राप्त होने पर भी जिसे सत्य समझमे नही आता, उसे अतिशय मद बुद्धिवाला मनुष्य समझना चाहिये। क्योकि जैसी श्वेत-द्वीपमे . . और जैसी गोलोक वैकुठलोकमे . . और जैसी वद-रिकाश्रममे सभा है, उससे भी मै इस सत्सगी सभाको अधिक मानता हू। इसमे यदि मै रचमात्र भी मिथ्या कहता होऊ, तो इस सतसभाकी शपथ है। यह शपथ किसलिए लेनी पडती है? इसलिए कि ऐसी अलौकिकताको सव कोई समझ तथा देख नही सकते . . और . . जैसी परोक्ष देवके विषयमे जीवकी प्रतीति होती है वैसी यदि प्रत्यक्ष गुरुरूप हरिके विषयमें हो, तो जितने अर्थ प्राप्त होनेके लिए कहा गया है उतने सव अर्थ उसे प्राप्त होते है।"

(सहजानन्द स्वामीके वचनामृत · ग० म० २)

स्वामीनारायण सप्रदायने मुझ पर जो अनेक सुसस्कार डाले है, उनमे से एक महत्त्वपूर्ण सस्कार मुझे यह लगा है कि उसने मुझे परोक्षकी तरह ही प्रत्यक्षकी महिमा समझना सिखाया है। मनुष्यकी एक वडी कमजोरी और वेसमझी यह है कि उसे भूतकालके पुरुष, उनके काम, उपदेश और ग्रन्थ वहुत ही दिव्य, भव्य, वहुमूल्य और सत्यसे भरे हुए लगते है, और जैसे जैसे वे प्राचीन होते जाते है वैसे वैसे उनके प्रति उसका आदर वढता जाता है। और जैसे जैसे कालकी नदीमे वे वहते जाते है वैसे वैसे उन्हे वचा लेनेकी और उनकी प्राचीनता खोजनेकी उसकी प्रवृत्ति तीव्र होती जाती है। सामान्य रूपसे मनुष्यको भूतकालमें सत्ययुग और सुवर्ण-युग वीता हुआ लगता है, और वर्तमान-काल सदैव कलियुग ही लगता है। इस कारणसे वह अपने समयके

बुद्धिमान, विद्वान, वीर्यवान, ज्ञानवान या चारित्र्यवान पुरुषोकी महत्ता समझनेमे हमेशा पीछे ही रहता है, अथवा कभी कभी तो बिलकुल समझ ही नही सकता। उनके जीवन-कालमे वह उनका विरोध भी करता है, परतु उनके मरनेके बाद उनकी पूजा करने लगता है। यही भूल उसके बादकी पीढी करती है। अर्थात् दूसरी पीढी उन मरे हुए पुरुषोकी पूजा करना शुरू करती है और अपने सामने विचरण करने-वाले उसके बादके नये महापुरुषकी अवगणना करती है। यह बुद्धि वैसी ही है जैसे कोई आदमी उसकी निगाहके सामनेसे हाथी जाता हो उस समय तो उसे हाथी माननेसे इनकार करे और बादमे उसके पदचिह्न देखकर कहे कि "अहो! अभी जो गया वह तो हाथी ही था।"

इस तरह लोग पाच-छह हजार वर्ष पहलेके वेदो और वेदर्षियो तथा राम-कृष्णादि 'अवतारो', दो-तीन हजार वर्ष पहले हो गये बुद्ध, महावीर, हजरत ईसा वगैरा धर्मसस्थापको, डेढ हजार वर्ष पहलेके मुहम्मद वगैरा पैगम्बरो, हजार वर्ष पहलेके शकर, रामानुज वगैरा आचार्यो, तीन चार सौ वर्ष पहलेके नानक, रामदास, चैतन्य, वल्लभाचार्य वगैरा, और अभी अभी हो गये परतु जीवितावस्थाकी अपेक्षा मरनेके बाद अधिक पूजा पाये हुए सहजानन्द स्वामी, रामकृष्ण परमहस, स्वामी दयानन्द वगैराकी इतनी महिमा समझते है कि उनके साथ हमारे समयके किसी भी पुरुषकी तुलना करनेकी कल्पना भी सामान्य रूपसे उन्हे सहन नही होती। जिस मनुष्य या प्रजाको अपनी उन्नति करनी हो, उसे यह कमजोरी और नासमझी छोडनी चाहिये।

प्राचीन कालमे हो गये महापुरुषोके जीवनको तथा उनके ग्रथोको दोषरहित समझनेका कारण बहुत कुछ माता-पिता-गुरु वगैरा पर रहने-वाली श्रद्धा और उनके समागमसे बनी हुई श्रद्धा होती है। यदि उस श्रद्धाकी मददसे हम अपनी आखोके सामने विचरनेवाले प्रत्यक्ष महा-पुरुषोका आदर करनेकी शक्तिका विकास कर सके, तो वह एक शुभ संस्कार है। यदि ऐसा न हो सके और हम यही माने कि दिव्य पुरुष तथा दिव्य ग्रन्थ केवल भूतकालमे ही थे, वर्तमानमे तो कलियुग ही है, तो वह सात्त्विक दिखाई देनेवाला जडताका ही सस्कार है।

स्वामी मुक्तानंद एक पदमें जो कहते हैं, वह मनन करने योग्य है.

"स्वामिनारायणनु समरण करता, अगम वात ओळखाणी रे;
निगम निरंतर नेति कही गावे प्रगटन परमाणी रे।
मंगळरूप प्रगटने मेली, परोक्षने भजे जे प्राणी रे,
तप-तीरथ करे देवदेरा, मन न टळे मसाणी रे।
कथा कीर्तन कहेता फरे छे, कर्मतणी जे कहाणी रे;
श्रोता ने वक्ता बेय समज्या विना, पेटने अर्थे पुराणी रे।
काशी, केदार के दुवारका दोडी, जोगनी जुगती न जाणी रे;
ते पाछो घरनो घर माही, गोधो जोडाणो जेम घाणी रे।
पीवा विना प्यास नव भागे, पड उपर ढोळो भर पाणी रे,
मुक्तानंद मोहन संग मळता मोज अमुलख माणी रे।"*

प्राचीन ग्रंथोंका पांडित्य अत्यन्त उपयोगी या बिलकुल आवश्यक ही है सो बात नहीं। तत्त्वकी सच्ची समझ तत्त्वज्ञानीके प्रत्यक्ष और जीते-जागते परिचयके बिना उत्पन्न नहीं होती। ऐसा परिचय किसी अकथनीय रूपसे चिनगारीका काम करता है। उसी तरह वर्तमान जीवनके कर्तव्योंके बारेमें समाजके प्रत्यक्ष पुरुष ही हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं। किसी बातके लिए पुराने महापुरुषोंका और ग्रंथोंका समर्थन मिलना ही चाहिये, ऐसा आग्रह बुद्धिमें जडता पैदा करता है।

* स्वामीनारायणका स्मरण करते करते एक अगम्य बात समझमें आई, निगम हमेशा प्रगटको सच्चा मानकर नेति कहकर उसका वर्णन करते हैं। जो प्राणी मंगलरूप प्रगटको छोडकर परोक्षकी भक्ति-पूजा करता है, वह चाहे तप-तीर्थ करे, चाहे देव-मंदिर जाय, लेकिन उसके मनकी दीनता दूर नहीं होती। कथा और कीर्तन जो कर्मकी कहानी है, उसे पुराणिक लोग अपने पेटके लिए कहते फिरते हैं, परंतु कहनेवाला और सुननेवाला दोनों उसे समझते नहीं। काशी, केदार और द्वारिका जा कर भी जो योगकी खूबीको नहीं समझे, वे तो घानीके बैलकी तरह घर आकर फिर माया-मोहमें फंस जाते हैं। पानी चाहे जितना शरीर पर डालो, लेकिन उसे पिये बिना प्यास नहीं बुझती। मुक्तानन्द कहते हैं, मोहनका संग मिलने पर मैंने तो अमूल्य आनन्दका उपभोग किया।

६

गलत भावुकता

एक दिन एक किसान कार्यकर्ता मिलने आये। मुझे प्रणाम करके सामने विछी हुई चटाई पर बैठ गये। कहासे आये, कैसे आये, क्या करते है, वगैरा मैने पूछा। जवावमे वे अपना नाम, स्थान आदि वता कर बोले. "पवनारमे विनोबा भगवानके दर्शन किये। उनके पास कुछ दिन ठहरा और भगवानसे खूब लाभ उठाया। अब (मेरी ओर इशारा करके) भगवानके दर्शनकी इच्छासे आया हू।"

इस भाषासे मुझे अचरज हुआ, दु ख भी हुआ। लेकिन दु खको दबाकर मैने पूछा "तब आपके कितने भगवान है?"

सवाल उन्हे कुछ विचित्र-सा मालूम हुआ। उन्होने शायद माना होगा कि यह तो बोलनेकी सभ्य रीति ही है, उस पर मुझे क्यो एतराज उठाना चाहिये? वे बोले

"जी, . . . भगवान तो वैसे सबका एक ही है। लेकिन जो कुछ है वह भी तो सब भगवान ही के रूप है, ऐसा मै समझता हू। इसलिए आप जैसे महानुभावोके लिए भगवान शब्दका प्रयोग करना मै ठीक ही समझता हू।"

"सब भगवानके रूप है, ऐसा कहनेमे तो कुत्ता भी भगवान हो जाता है और स्वय आप भी भगवान हो जाते है। क्या कुत्तेके लिए और खुद अपने लिए भी आप 'कुत्ता भगवान' और 'मै भगवान' जैसी भाषा काममे लेते है?"

"जी, . लेकिन उसमें पामर प्राणीका और साधु-महात्माका भेद तो करना ही चाहिये। मै अपने जैसे पामर मनुष्यको किस तरह भगवान कह सकता हू? कुत्ता है तो भगवानका ही रूप, लेकिन वह तो अभी हीन दशामें है। उसे भी भगवान कहना और आप जैसोके लिए भी वही शब्द काममे लेना तो अनुचित होगा।"

"तव तो दुनियामे कोई छोटा है, कोई वडा है, इस भेदभावका आपको अच्छी तरह खयाल है। इसलिए जो सवसे वडा और श्रेष्ठ एक परमात्मा है, उसके लिए भी भगवान शब्द काममें लेना और छोटी-मोटी योग्यताके आदमियोके लिए भी वही शब्द काममे लेना क्या अनुचित नही है? परमात्मा भगवान, गाधी भगवान, विनोवा भगवान, जाजूजी भगवान, मशरूवाला भगवान, राजेन्द्रवावू भगवान, जवाहरलाल भगवान आदि सभीको एकसा भगवान शब्द लगा सकते है?"

"जी, नही नही! मैने जवाहरलालजीके लिए कभी भगवान शब्द नही काममे लिया। वे हमारे वडे नेता है। और पू० वापूजी कहते है कि वे उनके वाद देशके नेता होगे, जव कि हमारे किसान लोग कहते है कि जयप्रकाश होगे। लेकिन मै उन्हे भगवान नही समझता। मेरी तो वापूजी और विनोवा भगवान और आप भगवानमे ही श्रद्धा है। मै तो विनोवा भगवानको ही वापूजीका वारिस समझता हू। आपको सुनकर अचरज होगा कि जयप्रकाशजी हमारे गावके नजदीक कई वार आये है और भाषण भी दिये है। पर मैने अभी तक उन्हे देखा ही नही। फोटोमें ही देखा है। उन्हे कभी सुना नही। मै तो एक गाधीजीको ही मानता हू और विनोवा भगवानको और आप भगवानको!"

"माफ कीजिये, मुझे आपकी श्रद्धा और भावुकता अच्छी नही लगती। और ऐसा शब्द न तो आप गाधीजीके लिए, न विनोवाजीके लिए और न मेरे या और किसी आदमीके लिए लगाइये। पहले आपने कहा कि सव कोई भगवानके ही रूप है। अव जवाहरलालजी और जयप्रकाशजी जैसे वडे और वलवान नेताओको तो आप उस शब्दके योग्य नही समझते और मेरे जैसे एक मामूली लेखकको भगवानकी वरावरीमे विठाते है। आपको गाधीजीमे जो श्रद्धा है, वह इसलिए नही है कि वे वुद्धिकी वाते वताते है। लेकिन इसलिए है कि वे एक पवित्र महात्मा पुरुष है, गरीवोकी भलाई चाहते है और उनमे श्रद्धा रखनेसे जीवका कल्याण होगा। लेकिन आपको यह डर भी है कि गाधीजीकी वाते वुद्धियुक्त न भी हो, और आपमे वुद्धि तो है। कही जयप्रकाशजीकी वाते आपकी वुद्धिको जच जाय और गाधीजी

पर आपकी श्रद्धा कम हो जाय, तो फिर जीवका कल्याण कैसे हो? इसलिए आप जयप्रकाशजीकी बातोको कान तक पहुचने देनेमे भी डरते है। और यहा हम वर्धावाले गाधीजीकी बातोको तरह तरहसे बदलकर या बढा कर समझाते है। इसलिए यहाके छोटे-मोटे सबमे कल्पनासे भगवानका खयाल करके आप अपनी श्रद्धाको मजबूत बनाये रखना चाहते है।"

यह बात उस वक्त तो यही पूरी हुई। जैसी हुई वैसी ही सब मैने नही लिखी है, केवल उसका मतलब ही लिखा है। लेकिन इन सज्जनकी भावुकता और श्रद्धा पर मुझे जितना रज हुआ, उतना ही इस विषयमे हमारे सत्पुरुषोकी कायम की हुई विवेकहीन और गैर-जिम्मेदार परपराका भी हुआ। हमारे देशके सद्गुरुओ, महात्माओ, साधु-सतों, आचार्यो और सप्रदाय-प्रवर्तकोने लोगोको श्रद्धाके नाम पर अत्यन्त दुर्बल, नम्रताके नाम पर बिना कारण पामर, वेदान्तके नाम पर विवेकहीन और उल्टी-सुल्टी दलीले करनेमे होशियार और सगुण भक्तिके नाम पर अनुचित ढगसे मनुष्य-पूजक बना दिया है। "गुरु साक्षात् परब्रह्म" इस सूत्रकी हमने इस प्रकारकी स्थूल व्याख्या कर दी है और उसका हमे अब इतना मुहावरा हो गया है कि अपने शिष्यो और लोगो द्वारा 'भगवान' शब्दसे पुकारे जानेमे, मदिरकी मूर्तिकी तरह पूजा-अर्चा पानेमे, परमेश्वर-वाचक सज्ञाये और महिमाके शब्द अपने नामके साथ जोड़े जानेमे और अपनी मूर्तिकी पूजा करवानेमे हमे कुछ बुरा — आघात पहुचानेवाला मालूम ही नही होता, बल्कि वही मोक्षका सच्चा रास्ता मालूम होता है! परिश्रम करके शिष्योके गुणोको बढाने, उनकी बुद्धिको पैनी करने, उनकी विवेकशक्तिको तेज करने और उनको स्वतत्र, स्वाधीन मानव बनानेके बदले हम उन्हे परावलबी और पामर बनाकर गुरु-भक्तिसे ही मोक्ष पानेकी श्रद्धा रखनेवाले बना छोडते है। स्वय अपने अहकारको तो हम 'ब्रह्म' — बहुत बडा — बनाते रहते है और शिष्यके अहकारको दिन दिन क्षुद्र बनाते है। खुद पुरुषोत्तमके पद पर आरूढ हो जाते है और शिष्योको अपुरुष — पुरुषार्थहीन बनाते है।

इसमे भगवानका द्रोह — यानी गुनाह है, भाषाका द्रोह — यानी अविवेक है और स्वय अपने मनुष्यत्वका द्रोह — यानी अपमान है। ज्ञानी महात्मा ब्रह्मनिष्ठ हो गया हो, तो भी हमे केवल एक परमात्माको ही भगवान कहना चाहिये। दूसरे किन्हीको भी — वे कितने ही वडे और पवित्र क्यो न हो — यह शब्द न लगाना चाहिये। वे सब मनुष्य ही है।

मनुष्योमे उमर, ज्ञान, पैसा, विद्वत्ता, सद्‌गुण, अधिकार वगैराकी कमी-वेशीके कारण छोटे-वडेके भेद हो सकते है, और उसके कारण कम-ज्यादा आदर-अदब भी दिखाया जाना अस्वाभाविक नही है। लेकिन उसकी भी एक हद होनी चाहिये। कुछ शब्द ऐसे है जो छोटे-वड़े सबके लिए एकसे लगाये जा सकते है, जैसे — 'जी'। गाधीजी, जवाहरलालजी, विनोवाजी, जाजूजी, मौलवीजी, पडितजी, गुरुजी, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, भाईजी, वहनजी वगैरा चाहे जिस स्त्री-पुरुषके प्रति आदर वतानेके लिए उसे लगा सकते है। लेकिन उसे हम परमात्माके लिए लगाकर परमात्माजी, परमेश्वरजी, अल्लाहजी नही कहते और न जानवरोको लगाकर हम गायजी, घोडाजी, कुत्ताजी कहते है। यानी हमने उसे मनुष्यके अदवके लिए ही रखा है।

लेकिन मनुष्योमे आदरके और भी वहुतसे शब्द है, जो सभी मनुष्योके लिए नही लगाये जाते, न भगवानके लिए ही। जैसे, गाधीजी को 'महात्मा' कहनेकी तो अव एक रूढि हो गई है। लेकिन अगर महात्मा नेहरू, महात्मा विनोवा, महात्मा सुभाषचन्द्र, महात्मा जिन्ना वगैरा कहने लगे, तो उन व्यक्तियोके प्रति आदर होते हुए भी वह वेढगा मालूम होगा। और अगर वैसी रूढि चल पडे तो उसका मतलव इतना ही होगा कि हमने 'महात्मा' शब्दको 'मिस्टर', 'जनाव' या 'श्रीमान्'का पर्यायवाची वना डाला है। फिर वहुत वडे आदमीके लिए और कोई शब्द ढूढा जायगा। और ऐसा हुआ भी है। किसी जमानेमे शायद महात्माका अर्थ भगवान, परमेश्वर ही होता होगा। और महाभारतमे मालूम होता है कि एक ऐसा भी जमाना था, जव महात्मा शब्द किसी भी वडे आदमीके लिए वरता जाता था। जैसे, दुर्योधन और कर्णके लिए भी महात्मा शब्द लगाया

गया है; और व्यास, कृष्ण, भीष्म धर्मराज, अर्जुन, सात्यकि आदिके लिए भी। वैसे ही हम गाधी भगवान, विनोबा भगवान वगैरा कहने लगें, तो उसका इतना ही मतलब हो जायगा कि 'भगवान' शब्दको हमने 'साहब' या 'महाशय' का अर्थ दे दिया है। इस तरह हम कितने ही शब्दोको अपनी ऊचाईसे फिजूल ही गिराते रहते है और फिर आदरके नये नये शब्द ढूढते रहते हैं।

मनुष्य जिसे अपनेसे बड़ा मानता होगा, उसका आदर करेगा ही। सेवा भी करेगा। लेकिन अगर वह आदर और सेवा खुदको कमीना — क्षुद्र महसूस करानेवाली और उस बडेको 'देव' मनवानेवाली हो जाय, तो वह मानवको ऊचा उठानेवाली नही रहती। गुरुओका और बडे लोगोका फर्ज है कि वे अपने ऊपर श्रद्धा रखनेवालोके 'देव' न बन जाय। क्योकि उनके मनुष्यरूपमे होकर देवपद स्वीकार करनेके मानी होते हैं शिष्योमे — मनुष्यत्व होते हुए भी — पामरता — लघुता — का सस्कार पैदा करना।

सेवाग्राम, २५–५–१९४६

७

ईश्वर-विषयक कुछ भ्रम

आजकल दरिद्र समाजका दर्शन करानेवाले छोटे-बडे उपन्यास अच्छी सख्यामे लिखे जाने लगे है। हमारे देशकी अत्यत दुखी, दरिद्री, अन्याय-पीडित जनता एव स्त्रियोकी शोचनीय दशाके प्रति लेखकोका — विशेषकर तरुण लेखकोका — समभावयुक्त ध्यान आकर्षित हो रहा है और पढे-लिखे लोगोके हृदयको इस उपेक्षित मानव-समुदायके प्रति हिलानेका प्रयत्न हो रहा है, यह एक सुचिह्न है।

परतु इन उपन्यासोके दूसरे भी एक दो उद्देश्य नजर आते है। एक तो उपन्यासके चित्रको इस तरह खीचना, जिससे पूजीवाद और पूजीपतियोके प्रति घृणा उत्पन्न हो। इसलिए इस उद्देश्यसे लिखे जानेवाले उपन्यासोमे यदि यही बताया जाय कि जहा जहा दुख-

दारिद्रच-अन्याय है, वहा वहा उसके कारण पूजीवाद या पूजीपति ही है, तो कोई आश्चर्य नही। परतु इस प्रयत्नके साथ साथ ऐसा उपदेश भी मिला दिया जाता है, जिससे ईश्वरके प्रति भी घृणा उत्पन्न हो और उसके अस्तित्वमे अविश्वास हो।

जब मनुष्य किसी भी वस्तुकी केवल आसक्तिसे ही नही, बल्कि पूर्वाग्रह और क्रोधसे भी जाच-पडताल करता है, तब न तो वह न्यायपूर्ण दृष्टिसे निरीक्षण कर सकता है और न स्वय भ्रममुक्त हो सकता है। इस कारणसे इन उपन्यासोमे ईश्वरके विषयमे बहुत ही अपूर्ण और भ्रमयुक्त विचार दीख पडते है, और उससे जिस ईश्वरकी लेखक निन्दा करना चाहते है उस शक्तिके विषयमे स्वय उनका ही अज्ञान प्रकट होता है।

मार्क्स, एंजिल्स आदि यूरोपीय लेखकोने इस विचारका प्रचार किया है कि ईश्वर और धर्ममत (religion, church, अनुगम) सब सत्ताधारियो द्वारा अपनी सत्ताको मजबूत करनेके लिए निर्माण की हुई कपोल-कल्पित माया है। हमारे देशके अनेक तरुणोने उस विचारको जैसेका तैसा अपना लिया है और भिन्न भिन्न प्रकारसे उसको वे हमारे साहित्यमे फैला रहे है। परतु यह बात उनके ध्यानमें आई मालूम नही होती कि यहूदी, ईसाई, मुस्लिम आदि किसी विशेष व्यक्ति द्वारा स्थापित किये हुए अर्थात् पौरुषेय अथवा दूत-प्रकाशित (revealed) धर्ममतोमें और हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि किसी विशेष व्यक्ति द्वारा स्थापित न किये हुए अर्थात् अपौरुषेय अथवा अनुभूत (realized) धर्ममतोमें ईश्वरके स्वरूपकी समझमे एक बडा महत्त्वपूर्ण अन्तर है। वह अन्तर यह है कि दूत-प्रकाशित धर्ममतोमे ईश्वरको आकाशके पार और निराकार होते हुए भी बुद्धि तथा भावनायुक्त एक तत्त्व-विशेष माना गया है, और यह माना गया है कि जिस तरह एक कुम्हार मिट्टीसे अपनी इच्छानुसार बर्तन बनाता है, परतु मिट्टी और बर्तन दोनोसे भिन्न रहता है, वैसे ही ईश्वरने सपूर्ण सृष्टि बनाई है। एव जिस तरह मिट्टीसे किस स्वरूपका कैसा बर्तन बनाना है इसका सोच-विचार और निर्णय करके कुम्हार

उसे बनाता है, उसी तरह ईश्वरने जगत्के प्रत्येक जड पदार्थ तथा चेतन प्राणियोके विषयमे पहले सोच-विचार और निर्णय करके फिर उसे बनाया है। अर्थात् जिसे उसने जैसा चाहा वैसा बनाया है। उसमे उस प्राणीके बलाबल या इच्छा-अनिच्छाका कोई सबध नही है। बादमे मनुष्यको यह धर्म समझाया गया है कि वह ईश्वर सर्वज्ञ, न्यायी और दयावान है। इसलिए उसने जो कुछ किया होगा वह ठीक ही किया होगा, इस श्रद्धासे उसकी निर्माण की हुई परिस्थितिमे सतोष मानना और उसकी शरणमे रहना ही उद्धारका मार्ग है। यह हुआ उनका ईश्वर-विचार। फिर ईश्वरकी इच्छाओको जाननेवाले पैगबरोकी कल्पना की गई है, और उन्होने अपने अपने काल और देशमे जो कुछ धार्मिक विधिया और सामाजिक रूढिया कायम की तथा प्रणालिकाये और सदाचारके नियम बाध दिये, वे सब उन दूतों द्वारा ईश्वर-दत्त ही हैं, यह श्रद्धा रखी गयी है। अर्थात् वे सब रूढिया, प्रणालिकाये और नियम मिलकर एक-एक धर्ममत (religion) — अनुगम — हो गया है।

यद्यपि हमारे देशके भी धार्मिक साहित्य और लोकवाणीमे ऊपरके विचार बारबार प्राप्त होते है, और वर्णाश्रम-व्यवस्था ईश्वरकी बनाई हुई है, वेद ईश्वरदत्त है, आदि विधान किये जाते है, तथापि यह केवल भाषाशैथिल्य है। इसमें अपौरुषेयका अनुवाद ईश्वर शब्दसे कर दिया जाता है। वास्तवमे हमारे देशके किसी भी धर्ममत या उसके किसी भी पथमे ईश्वर-स्वरूप, समाज-धर्म तथा विधिधर्मकी तात्त्विक नीव उपरोक्त नीवसे बिलकुल भिन्न प्रकारकी है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, सेश्वर, निरीश्वर, वैदिक, जैन, बौद्ध चाहे जिस मतका मनुष्य हो, हिन्दू धर्म-विचारमे ईश्वरको सृष्टिका कुम्हार जैसा कर्ता नही समझा गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्मोमे ईश्वरके साथ साथ एक दूसरी शक्तिका भी अस्तित्व माना गया है। उसे हम 'कर्म' के नामसे पहचानते है। यह कहनेमे हरकत नही कि सेश्वर मतोमे ईश्वर और कर्मका किसी न किसी प्रकारका द्विराज-कत्व माना गया है। अर्थात् न तो ईश्वर एक स्वेच्छाचारी सर्वा-

धिकारी (autocrat or dictator) है और न कर्म ही सपूर्णतया स्वाधीन है। इसी कारणसे ईश्वरको केवल कर्मफल-प्रदाता कहते हैं, अथवा साक्षीमात्र और अकर्ता भी कहते हैं। निरीश्वर मतोमें ईश्वरका स्थान ही न होनेसे ईश्वर पर दोषारोपण करनेवाली भाषा निरर्थक हो जाती है।

साराश यह है कि हिन्दू धर्ममें कोई कितना भी महान ईश्वर-भक्त हो और ईश्वरको अधिकसे अधिक सर्वाधिकार—कर्मोका नाश करनेका भी अधिकार—देता हो, तो भी वह ईश्वरका सर्वाधिकारित्व अनन्य भावसे उसकी शरणमे गये हुए भक्तोके लिए ही मानता है। जो उसके अनन्य भक्त नहीं है, उनके ऊपर तो भक्तके मतसे भी कर्मोका ही आधिपत्य होता है, और उसके लिए ईश्वर केवल कर्मफल-प्रदाता ही माना जाता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दुओके विचारसे हमारे सुख-दुखोके लिए मुख्य जवाबदारी कर्मकी मानी गई है, न कि ईश्वरकी। वह कर्म चाहे आजका हो, कलका हो, या बहुत पहलेका हो, वैयक्तिक हो, पूर्वजोका हो या समग्र समाजका हो, इस जन्मका हो या पूर्वजन्म पर आरोपित किया गया हो—किसी न किसी प्रकारके कर्मके कारण ही हमारी वर्तमान अवस्था है, और उसीके कारण उसमें परिवर्तन होगा। भक्त इस मान्यतामे इतनी बात बढा देता है कि यदि मनुष्य उसके साथ अनन्य भावसे ईश्वरकी शरण ले, तो यह परिवर्तन अधिक शीघ्र हो सकता है, वैसा न हो तो कर्मके नियमोके अनुसार ही उसकी प्रगति हो सकती है। यह विचार ठीक है या नहीं, अथवा कहा तक ठीक है, इसकी चर्चा यहा करनेकी जरूरत नही है। यहां केवल इतना ही बताना है कि हिन्दुओके विचारसे व्यक्ति या समाजकी आज जो भी अवस्था है, वह वर्तमान या भूतकालके वैयक्तिक अथवा सामाजिक कर्मोके परिणामस्वरूप है, और वर्तमान तथा भविष्य कालमें वैयक्तिक और सामाजिक कर्म द्वारा ही उसमे अच्छा या बुरा परिवर्तन होगा। हमारी आजकी अवस्था कोई स्वेच्छाचारी ईश्वरके खेलका परिणाम नही है।

अब मेरी दृष्टिसे इस कर्मके विषयमे जो भूल हमारे विचारोमे आ गयी है, वह यह है कि हम आम तौर पर केवल वैयक्तिक कर्मोके ऊपर ही सुख-दु खका उत्तरदायित्व आरोपित करते है, और उसमे भी बहुत ही जल्दी एकदम पूर्वजन्मके कर्मोका तर्क दौड़ाते है। यह विचार कुछ गलत है। सृष्टिके सब प्राणी और पदार्थ शरीरके अवयवोकी तरह एक-दूसरेसे सबधित है, तथा अनादि भूतकालसे भी उनका सम्बन्ध है। एक-दूसरेसे बिलकुल ही स्वतत्र और भिन्न तथा नया इस जगत्मे कुछ नही है। यदि यह विधान सच है, तो किसीके सुख-दु खका कारण केवल उसके वैयक्तिक कर्म ही नही, दूसरोके कर्म भी हो सकते है, उसके पूर्वजोके कर्म भी हो सकते है तथा उसके एव दूसरे समाजोके कर्म भी हो सकते है और सृष्टिकी प्राकृतिक शक्तिया भी हो सकती है, अर्थात्, यदि एक छोटी बच्ची विधवा हो जाये तो उसके वैधव्यका कारण उसीका कर्म है, यह मानना गलत है। उसमे उसके माता-पिता और आप्तजन, जिस समाजमे उसका जन्म हुआ उस समाजकी रूढिया तथा उस रूढ़िको उत्पन्न करनेवाली सारी कर्म-परपरा ही विशेप कारणभूत है। जब वह रूढि बदल जाती है तब छोटी लडकियोंको वैधव्य प्राप्त होना असभव हो जाता है। अर्थात् समाजकी कर्म-परपरा बदल जानेसे वैयक्तिक दु ख टल जाता है। यही बात हरिजन आदि दलित और दारिद्रच-पीडित वर्ग, स्त्री-वर्ग, रियासतोकी जनता और गाय, बैल वगैरा पशुओके दु खोके विषयमे भी कही जा सकती है। किसी जीवको स्त्रीत्व या पुरुषत्व प्राप्त होनेमे और अमुकके घर पैदा होनेमे उसका पूर्वकर्म भले ही कारण मान लिया जाय, परतु यदि वह स्त्री हो तो उस पर विशेष बधन डालने, अथवा उसके घरको अस्पृश्य मानकर उस पर विशेप प्रतिबध रखने, अथवा वह दारिद्रच-पीडित हो ऐसी परिस्थिति निर्माण करनेमे उसके पूर्वकर्मकी अपेक्षा उसके माता-पिताके कर्म या उसकी सामाजिक कर्म-परपरा विशेप कारणभूत है।

परतु कर्म-सिद्धान्तकी शुद्ध दृष्टिका विचार करना इस लेखका उद्देश्य नही है, और न ईश्वरके विषयमे समुचित दृष्टि कौनसी है, इसका पूर्ण विवेचन करना ही इसका उद्देश्य है। इस लेखका उद्देश्य

सिर्फ इतना ही है कि ईश्वरके प्रति नास्तिक भाव पैदा करनेके लिए इन उपन्यासोंमे ईश्वर-विषयक जो विचार और निन्दात्मक विधान किये जाते है, वे हमारे समाजके लिए बडे भ्रमसे भरे हुए होते है। वे हमे अपनी दशा सुधारनेमे किसी प्रकारकी सहायता देनेकी जगह केवल हममे निराशा, निर्बलता और पुरुषार्थशून्य असतोष निर्माण करनेका ही काम कर सकते है। हिन्दू जनताकी भावनामे ईश्वर या तो केवल साक्षीरूप, अकर्ता और कर्मफल-प्रदाता है, अथवा यदि वह भक्तोकी दृष्टिमें कर्ता है, तो उसका कर्तृत्व किसीको पीडा पहुचाने, पीडित रखने या पाप अथवा नरकमे ढकेलनेके लिए प्रवृत्त नही होता, परतु जो उसकी अनन्य शरण लेता है उसके कष्ट और पापोको हटाने और उसके ज्ञान, बल, बुद्धि तथा सात्त्विक सपत्तिको बढानेके लिए ही प्रवृत्त होता है। जो ईश्वरकी अनन्य भावसे शरण नही लेता' उसके लिए ईश्वर नही-सा ही है, कर्म ही विशेष साधन है, फिर यह स्वकर्म हो या परकर्म हो। दूसरे शब्दोमे कहे तो मनुष्यकी शुभ वृत्तियोको जागरित, प्रेरित और बलवती करनेवाले उसके गूढ सत्त्वका ही नाम ईश्वर है, और वह एक बडी बलवान शक्ति है। यदि अपने अज्ञानयुक्त विधानोसे हम जनताकी इस शक्तिको कुण्ठित करे, तो ऐसा ही कहना होगा कि जिस डाल पर हम बैठे हुए है उसीको काटना चाहते है। इससे जनतामे बल पैदा न होगा, नवजीवनका सचार नही होगा, बल्कि उसका विनाश होगा।

नवराजस्थान, वसत पचमी, १९३६

संसार और धर्म

तीसरा भाग

धर्म

१

धर्मका नवनिर्माण

धारासभामें जब किसी विषयमे नया कायदा बनाया जाता है, तब उस विषयके पुराने कायदे और कलमे रद कर दी जाती है, बादमे उस नये कायदेका ही आधार दिया जा सकता है और पुराना निकम्मा हो जाता है। इसका अर्थ यह नही है कि पुराने कायदेकी हरएक कलममे परिवर्तन किया जाता है और नयेमे उसका कोई अश नही दिखाई देता। परतु किसी भी नियमकी प्राचीनताका महत्त्व नही रहता। उसकी कीमत तो इसलिए है कि उसे नये कानूनमे स्थान मिल गया।

हिन्दू धर्ममे एक बड़ा दोष यह रहा है कि यद्यपि हर जमानेमे नये सद्गुरु, स्मृतिकार, आचार्य तथा सुधारक हुए है, तो भी इनमें से किसीने पुरानी श्रुति-स्मृतियो, भाष्यो और रूढियोको आगेके लिए अप्रमाणित — रद्दी नही ठहराया। अथवा यह कहा जाय कि किसीको इतनी मान्यता नही मिली कि जिससे उसके उपदेश या शिक्षणसे भिन्न अथवा विरोधी शिक्षण देनेवाले ग्रथो, वाक्यो अथवा रूढियोको अप्रमाणित माना जाय। इसके विपरीत, पुराना और नया शिक्षण एक-दूसरेसे विरुद्ध हो, तो भी दोनोको एक समान महत्त्व देनेकी और हठपूर्वक दोनोमे से एक ही अर्थ निकालनेका प्रयत्न करनेकी परपरा चली आई है। इसका नतीजा यह हुआ है कि हरएक विषयमे अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रमाण दिये जा सकते है, और 'नैको मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्' (हरएक मुनिका अलग अलग मत) जैसी बात होती है।

कदाचित् इस्लाममें ही यह बात पहले-पहल हुई है। वहा कुरानने अरबस्तानके सारे पुराने ग्रन्थो तथा रूढियोको अप्रमाणित ठहरा दिया। उनमे से जो कुछ स्वीकार करने योग्य लगा होगा, उसका कुरानमे समावेश करके प्राचीन शास्त्रोको ढूढने और उन पर विचार

करनेकी जरूरत नही रहने दी गई, वल्कि ऐसा करना दोषपूर्ण माना गया। सिक्ख धर्ममें ग्रन्थसाहवने भी धर्मके एक क्षेत्रमे ऐसा ही कुछ किया, परतु मेरा खयाल है कि उसने जीवनके सव अगोके विषयमे अपनी नई स्मृति नही वनाई।

मानव-जीवनका, भारतवर्षके जीवनका, कौटुम्विक जीवनका, व्यक्तिगत जीवनका अथवा आसपासके समाजसे सवधित किसी भी सवालका जव जव मै गहरा विचार करता हू, तव तव मै आखिरमे इस निर्णय पर पहुचता हू कि दुनियाके आजकलके धर्म-सप्रदायोमे से किसीमे भी इन प्रश्नोको सुलझानेका सामर्थ्य नही रहा है। मनुष्यो पर उनका अकुश अव ढीला हो गया है। सर्वधर्म-समभावकी दृष्टिसे सव धर्मोमे से थोडे-थोडे अग लेकर एक नया मिश्र सप्रदाय वनावे, तो उसमें भी यह सामर्थ्य अथवा शक्ति नही आ सकती। मनुष्यके लिए परमात्मा और परमात्मासे अभिन्न ऐसे इस विश्वव्यापी जीवनका नया दर्शन और नया भाष्य (interpretation) प्राप्त होनेकी और उसके आधार पर मानव-जीवनके हरएक क्षेत्रमे आवश्यक सशोधन या नयी रचना करनेकी अव जरूरत है।

यह मै नही कह सकता कि यह कौन करेगा,- किस तरहसे किया जा सकेगा और उसमे कितना समय लगेगा। मै यह भी नही कह सकता कि इस नवदर्शन और नवभाष्यमें कुछ भी त्रुटि नही रहेगी अथवा वह यावच्चन्द्रदिवाकरौ चलनेवाली रचना होगी। जिसमे कभी भी कोई क्रान्तिकारी सशोधन न करना पडे, जो कभी भी नाश, ह्रास या जीर्णताकी शिकार न हो, या जिसमे कुछ भी अशुभ तत्त्व न हो, ऐसी कोई रचना दुनियामे हो ही नही सकती। परमात्मा सदैव एकरूप और सनातन है, फिर भी हर युगमे उसके दर्शनमे नवीनता होती है और नवदर्शनमें से नया धर्म और नया जीवन पैदा होता है। जव नया दर्शन होता है तव प्राचीन दर्शन और उस पर खडी धर्म-रचनाको पकड रखना दोष है। इस नयेमे भी दोष तो होगे ही, फिर भी नये युगमे वही काम दे सकता है, प्राचीन नही। उस नयेमें प्राचीनका सारा स्वरूप नाश नही हो सकता; परन्तु उतना ही रह

सकता है जितनेको उस नये दर्शन और उसके विवेचनने मान्य रखा हो अथवा अमान्य न किया हो।

वर्तमान धर्म-सम्प्रदायोके स्थान पर अपने ही सत्यके बलके प्रमाण पर आधार रखनेवाले नये धर्मका निर्माण हुए बिना मुझे कल्याणकी ओर प्रगति होनेकी कोई आशा नही दीखती।

सेवाग्राम, ७–६–'४२ (शिक्षण अने साहित्य)

२
नयी दृष्टि
१

दुनियाका सामान्य अनुभव यह है कि किसी कौमकी उन्नति होनेसे पहले उसमे एक नया धर्म, यानी जिंदगीके बारेमे एक नयी समझ या दृष्टि पैदा होती है। जब तक जीवनमे आशा पैदा करनेवाला एक नया सत्य लोगोको नजर नही आता, तब तक लोकसेवाकी सारी कोशिशे ऊपर ऊपरकी ही होती है। अपने-आप आगे बढनेवाली शक्ति उनसे पैदा नही होती।

जीवनकी नयी दृष्टिके अंग ये है

१. जीवन, उसके अन्त और उसके ध्येयको एक नये अर्थमे समझना और अनुभव करना,

२ सदाचारकी नयी नियमावली बनाना। यह नियमावली एक तरफ तो प्रचलित आचारोसे ज्यादा व्यापक पैमाने पर बनी हुई होगी, और दूसरी तरफ उसमे संयम, सादगी, शरीर और इर्दगिर्दकी सफाई तथा मनकी पवित्रताका विचार ज्यादा कडा होगा,

३ इस दृष्टिको अपनानेवालोमे भाईचारेकी स्थापना,

४ व्यक्तिगत और सामूहिक रूपमे कुछ कामोमे सभीका सहयोग,

५ मानो एक तरहका संयुक्त परिवार हो, इस तरह अपने सुख-दुःख और धन-मालमे बराबरीका हिस्सा रखनेवाले मण्डल बनाना, और

६ शराब, व्यभिचार, चोरी, रिश्वत, धोखेबाजी, झूठ, आलस्य वगैरा बुराइयोंसे मुक्त रहना।

जिन लोगोंकी सेवा करनी है उनका नैतिक स्तर जब तक ऊंचा नहीं उठता, तब तक बड़े पैमाने पर उनकी आर्थिक उन्नतिको असभव मानना चाहिये। अगर जनताको जीवनका एक नया सदेश मिल जाय और वह अपने नैतिक सुधारकी जरूरत समझ ले, तो तालीम लेने, स्वच्छ आदतें डालने, कुछ बातोंमें काट-कसर करने और दूसरीमें उदार होने, मेहनती और ईमानदार रहते हुए भी अपना जीवन-मान (स्टैन्डर्ड) ऊंचा करने और पूरा मेहनताना मागनेका आग्रह रखनेके लिए उसे मिन्नत करनेकी जरूरत न रहेगी। नयी दृष्टि पैदा होते ही मनमें बसा हुआ हीनग्रह (inferiority complex) दूर हो जायगा।

२

नयी दृष्टिके सम्बन्धमे नये प्रकारके कामोको उठाने तथा तालीम, नियम-पालन वगैराकी जरूरत तो होगी ही। सभी चीजो और कामोकी कीमत नये ढगसे आकी जायगी।

पुरानी जीवन-व्यवस्थामें मनुष्योंकी कीमत उनकी जाति, कुल, शिक्षा, धन-दौलत, अधिकार आदिसे आकी जाती है। कामकी कीमत काम लेनेवालेकी ताकत और काम करनेवालेकी मुश्किलोंसे तय होती है, और चीजोंकी कीमत उनकी कमी और लुभावनेपनसे आकी जाती है।

नयी जीवन-व्यवस्थामें मनुष्यकी कीमत उसके चरित्र और जरूरतोंमें ठहराई जानी चाहिये तथा कामकी कीमत वह जीवनकी जरूरतोंको पूरा करनेमें कितना हाथ बटाता है, इस परसे तय करनी चाहिये, और वस्तुओंकी कीमत ठहरानेके लिए यह देखना होगा कि वे जीवनकी पहली जरूरतें हैं या गौण, और जो पहली जरूरतें हों उन्हें अमूल्य कर दिया जाना चाहिये — यानी वे ज्यादासे ज्यादा आसानीसे सबको मिल जानी चाहिये।

मतलब यह कि मनुष्यमात्र समान माना जाय। परंतु जो ऊंचे चरित्रवाला हो उसकी साख (क्रेडिट) या प्रतिष्ठा कम चरित्रवाले

आदमीसे ज्यादा हो। तगी और दु खमे पडे हुए आदमी, स्त्री, बच्चे, अपग और बीमारकी जरूरतोका ताकतवर आदमीके मुकाबले ज्यादा खयाल किया जाय। अन्न, पानी और कपडे जितने हो सके उतने सस्ते हों, और उन्हे पैदा करनेके लिए की जानेवाली मेहनतकी कीमत दूसरे सब श्रमोसे ज्यादा मानी जाय। पैसेकी अपने-आपमे (स्वतत्र रूपमे) कोई कीमत नही हो सकती, यानी उस पर सूद नही हो सकता। और जमीन पानी और हवाकी तरह ही किसीकी निजी मिल्कियत न होनी चाहिये।

यदि इन सिद्धान्तो पर गाव, सस्थाए, सहकारी मडलिया या दूसरी तरहके तत्र (organizations) बनाये जाय, तो वे लोगोके सामने अच्छे नमूने पेश करेगे।

३

जगत्के बडे धर्मोने व्यक्तिकी जीवन-मुक्ति या विदेह-मुक्ति पर (जीतेजी या मरनेके बाद होनेवाले आत्माके मोक्ष पर) और व्यक्तिको दूसरी दुनियामे मिलनेवाले सुखो पर जोर दिया है। नास्तिक भी व्यक्तिको इस दुनियामे मिल सकनेवाले विषयोके सुखो पर जोर देते है। दोनो व्यक्तिका ही विचार करते है।

नयी दृष्टिमे व्यक्ति और समाज दोनोकी मुक्तिका विचार रहेगा, और इस दुनियामे स्वर्गको उतारनेकी कोशिश होगी। अर्थात् वह रोग, तगी, अज्ञान, विषमता, अन्याय, वैर, स्वार्थ, लडाई, व्यसन, असयम, बाहरी सत्ताओ और अन्त करणके विकारोकी गुलामी वगैराका नाश करनेका यत्न करेगी।

पुराने मजहबोकी यह मान्यता है कि ऊपर बताये हुए दु ख न हो, ऐसी जिन्दगी दुनियामे बितानेकी आशा ही न रखनी चाहिये। तगी, दु ख और मनुष्यका मनुष्य पर जुल्म इस दुनियामे टल नही सकते। उनका अभाव तो परलोकमे ही हो सकता है। उन्होने तो यहा तक कहा है कि इस दुनियामे जितनी ज्यादा तकलीफे होगी, उतना ही दूसरे लोकमे ज्यादा बदला मिलेगा। इसलिए जान-बूझकर सिर्फ दु ख सहन करनेके लिए ही दु ख उठानेके कृत्रिम तरीकोको भी

उन्होने कई वार प्रोत्साहन दिया है। सामाजिक अन्यायो और कुप्रथाओ, दु:खो और रोगो तथा आदमीके बनाये हुए रीति-रिवाजो, कानूनो और भेदोको अज्ञानसे अकसर भगवानके बनाये हुए समझकर उन्हे बरदाश्त करते रहनेकी सलाह दी है।

पुराने मजहबोकी यह दृष्टि इतनी हद तक गलत है ऐसा मानना चाहिये।

हमे यह समझना चाहिये कि दु:ख ही जहा नियम हो, ऐसी दुनिया पैदा करनेका ईश्वरका ध्येय हो ही नही सकता। लेकिन अज्ञान, व्यसन, अव्यवस्था और कुव्यवस्था मानवके बहुतेरे दु:खो और सकटोके कारण है, और चाहे मनुष्य द्वारा निर्माण की गई हो या कुदरती कारणोसे हो, जीवनको दु:खमय बनानेवाली शक्तियोके सामने हमेशा झगडते रहना ही मोक्षकी साधना है।

मोक्ष यही—इसी दुनियामे प्राप्त करनेकी चीज है; और वह व्यक्ति और समाज दोनोके लिए है। इस मोक्षका कोई अन्त नही। वह सतत बढता रहनेवाला मोक्ष है। लेकिन जो मनुष्य उसके लिए निरन्तर साधना करता है, उसे उसका पूरा-पूरा फल उसके अन्त:करणमे तुरन्त ही मिल जाता है। उस फलके मानी है चित्तकी शांति और समाधान।

नयी दृष्टिमे :

१ सिर्फ ईश्वरकी ही उपासना होगी,

२ जीवमात्रका आदर और उसकी सेवा होगी,

३. अवतारो, पैगम्बरो, गुरुओ तथा उनकी तसवीरो वगैराके लिए आदर हो सकता है, परतु ईश्वरके बदले या ईश्वरके प्रतिनिधिके रूपमे या ईश्वरकी तरह ही उनकी उपासना नही हो सकती। जो पूजा ईश्वरको ही अर्पण करने योग्य हो, वह उन्हे—भले वे कितने ही पूर्ण और बडे महात्मा क्यो न हो—अर्पण नही की जा सकती।

४ जिनके लिए हमारे दिलमे आदर हो, उनके पास हम आदरभावसे जाये और उनकी सेवा भी करे, लेकिन उस आदर और

सेवामें यह भाव न होना चाहिये कि हम उनके सामने नीच, पामर, छोटे और नाचीज आदमी हैं।

४

तत्त्वज्ञानकी भाषा छोडकर मैं आलकारिक भाषामें कहू, तो ईश्वर और शैतानके बीच ऐसी दुश्मनी नही है, जैसी दुश्मनीकी शास्त्रोंसे हमें कल्पना होती है। कई वार वे दोनों एक ही ध्येयके लिए काम करते पाये जाते हैं। दोनोंके बीच भेद सिर्फ साधनोंका होता है। शैतानको अच्छे साधनोंसे ही काम लेनेका आग्रह नही होता। ऐसा देखा गया है कि वह बहुत बार बुरे साधनोंसे अच्छी चीज पैदा करता है। इस-लिए साधारण आदमीके दिलमें उस पर भी गहरी श्रद्धा होती है। दीर्घदृष्टिसे विचारने पर ही शैतानके सयानेपन और दृष्टिकी विशा-लताके बारेमें शक पैदा होता है।

लेकिन दीर्घदृष्टिकी भी अपनी एक सीमा होती है। परीक्षाके समय दीर्घदृष्टिवाला मनुष्य भी फिसल जाता है और तुरन्त फलकी नीतिसे समझौता करनेके लिए तैयार हो जाता है। शैतानके कामोंका निषेध करनेकी उसमें हिम्मत नही होती।

किन्ही भी साधनोंसे काम लेनेके लालचको भी जिन्दगीकी लडाईका एक हिस्सा ही समझना चाहिये। उसमें कभी भूल कर बैठे, तो भी बार बार हमें ईश्वरके पक्षमें ही जानेका प्रयत्न करना चाहिये।

सेवाग्राम, १०–८–'४५ (कोडियु)

३

शास्त्रदृष्टिकी मर्यादा

मैंने अपनी 'व्यवहार्य अहिंसा' शीर्षक लेखमालामे यह लिखा था कि "दुनियाके सब देशो और धर्मोंमे 'भद्र' और 'सन्त' ऐसी दो बुनियादी सस्कृतिया प्राचीन कालसे चली आई है। हमारा देश भी इस बारेमे अपवादरूप नही है।"* जहा तक मुझे पता है, भद्र शब्द किसी भी भाषामे अनादरसूचक नही है। मैंने जिस सस्कृतिका भद्र नामसे परिचय कराया है, उसके लिए मेरे दिलमें अनादर नही है और यह प्रकट करनेके लिए ही मैंने उसे भद्र कहा है। भद्र सस्कृतिने भी मानव-समाजमे बहुत बडे बडे काम किये है, यह बात भी मैंने अपनी लेखमालामे स्वीकार की है। फिर भी भद्र सस्कृतिकी एक मर्यादा है, जिससे ऊपर वह उठ नही सकती। यदि वह उस मर्यादासे ऊपर उठ जाय, तो सन्त सस्कृतिमे परिणत हो जायगी। भद्र सस्कृतिसे जो मनुष्य ऊपर उठते है, वे ही सन्त है।

मेरे इस कथन पर 'सिद्धान्त' साप्ताहिकके विद्वान् सपादकने आपत्ति उठाई है। १० जून, १९४१ के अकमे वे लिखते है, "जिन्हे दो बुनियादी सस्कृतिया बतलाया गया है, वे वास्तवमे परस्पर-विरोधी नही हैं। इन दोनोका मूल, इन दोनोका आधार, एक ही है और वह है धर्मशास्त्र।"

दुनियाके सभी धर्मोंके शास्त्रियोकी रायमे उनका अपना धर्मशास्त्र ही परम और अतिम प्रमाण होता है। 'नामूल लिख्यते किंचित्' यह उनकी प्रतिज्ञा होती है। इसलिए उनका यह आग्रह होता है कि किसी भी वस्तुको उचित या अनुचित ठहरानेके लिए अपने धर्मशास्त्रसे कोई-न-कोई प्रमाण खोजकर निकालना ही चाहिये। अगर ऐसा आधार न मिले, तो वह वस्तु मान्य नही हो सकती, चाहे वह कितनी ही बुद्धिग्राह्य और हृदयग्राह्य क्यो न हो।

---

* अहिंसा-विवेचन, भाग २, लेख २२।

लेकिन ऐसी परिस्थितिमें बुद्धि अपनी हार स्वीकार करना ज्यादा समय तक बर्दाश्त नही करती। वह कोई-न-कोई रास्ता निकालनेकी चिन्तामे रहती है। शास्त्रसे जकडी हुई बुद्धि उसके बधनको तोडकर आगे बढ़नेकी हिम्मत नही करती। लेकिन शास्त्र-वचनोंके नये नये भाष्य लिखनेकी हिम्मत वह कर लेती है। किसी-न-किसी तरह पुराने वाक्योमे से वह अपने अनुकूल नये अर्थ निकाल लेती है और फिर ऐसा प्रतिपादन करती है कि वह चीज शास्त्र-समत ही है।

इस प्रकार वे ही श्रुति-वचन और स्मृति-वचन निरीश्वरवादी साख्यो तथा अद्वैत, द्वैत एव विशिष्टाद्वैतवादी वेदातियो और मीमासकोके लिए आधारभूत होते है। वे ही श्रुति-स्मृतिया अस्पृश्यताके स्वीकार और निवारण, दोनो मतोके विद्वान् शास्त्रियोके लिए प्रमाणभूत होती है। यावज्जीवन वैधव्य और विधवा-विवाह, स्थायी विवाह और तलाक, मासाहार और मास-निषेध, पशुयज्ञ और औषधि-यज्ञ आदि परस्पर-विरोधी विचार रखनेवाले शास्त्री धर्मशास्त्रोके आधार पर ही अपने अपने मतोका समर्थन करते है।

कोई ऐसा न समझे कि यह बात हमारे ही देशमे या सिर्फ हिन्दू धर्ममे ही होती है। कुरान या बाइबलवादी शास्त्रियोका भी यही रवैया है। बाइबलका हवाला देकर गुलामीकी प्रथाका समर्थन और विरोध करनेवाले बडे बडे पादरी थे। किसी मौल्वीकी क्या मजाल है कि वह कुरानसे परे होकर विचार करनेकी गुस्ताखी करे? ऐसी हालतमे अगर किसी बातका समर्थन या निषेध करना हो, तो कुरान वगैरा धर्मशास्त्रोके वचनोकी अपने अनुकूल व्याख्या करके ही किया जा सकता है।

इस विचारधाराको माननेवाले धर्मशास्त्रीकी दृष्टिमे कोई व्यक्ति सिर्फ इसलिए सन्त नही माना जा सकता कि हमने अपने अनुभवसे उसे बहुत ही नेक पाया है; बल्कि इसलिए कि वैसे पुरुषको सन्त माननेके लिए धर्मशास्त्रमे प्रमाण मौजूद है। नतीजा यह है कि वैदिक धर्मके शास्त्रियोकी दृष्टिमे एक जैन महात्मा सन्तपुरुष नही हो सकता, क्योंकि वह नास्तिक है। इसी तरह वेद-धर्ममे पला-पुसा

कोई व्यक्ति कितना ही साधु-स्वभावका क्यो न हो, जैन दृष्टिमे वह सन्त नही हो सकता, क्योकि वह मिथ्या दृष्टिमे पला हुआ है। और न कोई हिन्दू महात्मा इस्लाम या ईसाई धर्मकी दृष्टिमे सत्पुरुष हो सकता है, क्योकि वह उनके पैगम्बरोका अनुगामी नही है।

जब शास्त्रोका आश्रय लेनेकी दृष्टि इस हद तक पहुच जाती है, तब मेरी नम्र रायमे शास्त्रसे दृष्टि प्राप्त होनेके बदले अन्धत्व प्राप्त होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि प्रखर सूर्यकी किरणोकी तरफ ताकते रहनेसे अन्धत्व प्राप्त होता है।

कई शास्त्रग्रथ अवश्य ही बडे आदरणीय है, लेकिन वे इस-लिए आदरणीय नही है कि शास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है, बल्कि इसलिए है कि वे किसी न किसी सत्पुरुष द्वारा लिखे हुए माने जाते है।

आदि सत्पुरुषका निर्माण किसी शास्त्र द्वारा नही हुआ था, बल्कि आदि सत्पुरुषने ही किसी-न-किसी शास्त्रका निर्माण किया है। और दुनियाके सभी शास्त्रग्रन्थ नष्ट हो जाय, तो भी दुनियामे सत्पुरुष होते ही रहेगे और नये नये शास्त्रोका निर्माण भी होता रहेगा। यदि किसी शास्त्रने किसी सत्पुरुषका बहुमान किया हो या उसके व्यवहारोको मान्य किया हो, तो ऐसा करके उसने उस सत्पुरुष पर कृपा नही की, बल्कि अपनी ही कीमत बढाई है।

किसी शास्त्रको माननेवाला व्यक्ति उस शास्त्रसे बडा भी हो सकता है और छोटा भी। सर जगदीशचन्द्र वसु या सर चद्रशेखर व्यकट रामन जैसा कोई प्रथम श्रेणीका वैज्ञानिक जब किसी दूसरे वैज्ञानिक ग्रन्थका आदर करे या उसका हवाला दे, तब वह इस बुद्धिसे हवाला नही देता कि वह उस ग्रन्थमे लिखी हुई बातको केवल इसीलिए सही मानता है कि वह उस ग्रन्थमे पाई जाती है, बल्कि इस बुद्धिसे कि दूसरे वैज्ञानिकोका अनुभव भी उनके अपने अनुभवका समर्थन करता है। लेकिन विज्ञानके साधारण पडित, जिन्हे अपना निजका कोई अनुभव नही है, केवल उस ग्रथके आधार पर ही उस बातको स्वीकार करते है इसलिए उसका प्रमाण देते है। यही बात धर्मशास्त्रो पर भी लागू होती है। श्री ज्ञानेश्वरने 'अमृतानुभव' मे एक जगह अपना मत

बतलाकर आगे लिखा है— "और यही शिवगीता तथा भगवद्गीताका भी मत है। लेकिन ऐसा न माना जाय कि शिव और श्रीकृष्णके वचनोके आधार पर ही मैने अपना मत बनाया है। उनके ऐसे वचन न होते तो भी मै यही कहता।"

तुलसीदास और रामदास, नामदेव और तुकाराम, नानक और कबीर सभी असलमे वैदिक परपरामे पले हुए सन्त थे। लेकिन तुलसीदास और रामदासने शास्त्रोको जितना माना, उतना नामदेव और तुकारामने नही माना, और नानक और कबीर तो उन्हे पार ही कर गये। सन्तोकी पहली जोडी भद्र सस्कृतिमे पली हुई थी और आखिर तक किसी-न-किसी रूपमे उससे सलग्न रही। फिर भी तुलसीदासजीके राम और वाल्मीकिके राममे कितना अतर है? तुलसीदासजी अपने रामके द्वारा शम्बूकका वध न करा सके और न उनसे अस्पृश्यता तथा पक्तिभेदके नियमोका पालन करा सके। रामदास इस ऊचाई तक नही पहुच सके। नामदेव और तुकाराम तो भद्रेतर ही थे। नानक और कबीरने साम्प्रदायिक शास्त्रोका सहारा ही छोड दिया, केवल उनके सारको ही उन्होने अपनाया।

और शास्त्रोको अन्तिम प्रमाण मानने पर भी मनुष्य अपनी विवेकबुद्धिको चलानेसे कहा मुक्त होता है? एक ही शास्त्रके तीन भाष्यकार तीन अर्थ निकाले, जो परस्पर-विरोधी हो, तो हरएक मनुष्यको अपनी निजकी या किसी गुरुकी विवेकबुद्धिसे काम लेकर एकका स्वीकार और दूसरेका त्याग करना ही पडता है। मासाहार और मूर्ति-पूजाको भी शास्त्र-प्रमाण मिल जाता है तथा मास-वर्जन और मूर्ति-निषेधके लिए भी प्रमाण मौजूद है। हरएक अपनी अपनी रुचि, सस्कार या विवेकबुद्धिके अनुसार अपने लिए एक वस्तुको ग्राह्य और दूसरीको अग्राह्य मानता है। मतलब यह कि हमारी अपनी या हमारे माने हुए किसी गुरु अथवा सत्पुरुषकी विवेकबुद्धि ही अमुक शास्त्रको स्वीकार या अमुकको अस्वीकार या कम स्वीकार करती है।

साराश यह कि विद्वान या सन्त शास्त्रके निर्माता होते है शास्त्र विद्वानो या सन्तोके निर्माता नही होते। विद्वान अपनी बुद्धिकी

कुशलताके बल पर विद्वान है, सन्त अपने हृदयकी उन्नत अवस्थाके कारण सन्त है। सन्तको देखनेके बाद ही किसी शास्त्रकारने सन्तके लक्षण बतलाये है। मूल आधार पुरुष है, न कि ग्रथ। शास्त्रोकी इस मर्यादाको समझकर अगर हम उनका अध्ययन करे, तो वे हमारे जीवनमें सहायक हो सकते है, नही तो वे जीवनमें भाररूप हो जाते है और फिर न केवल कबीर जैसोको ही, वरन् ज्ञानेश्वर जैसोको भी उनकी अल्पता बतलानी पडती है।

सर्वोदय, सितम्बर, १९४१

४

शास्त्र-विवेक

[मेरे 'शास्त्रदृष्टिकी मर्यादा' शीर्षक लेखको लेकर 'सिद्धान्त' साप्ताहिकने कुछ चर्चा की और 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' इस न्यायसे वह चर्चा जारी रखी जाय, ऐसी मुझसे अपेक्षा भी रखी है। मेरी इच्छा इस तरह चर्चा जारी रखनेकी नही थी। फिर भी अपने विचार स्पष्ट कर देना जरूरी था। इसलिए मैंने 'सिद्धान्त' में एक लेख लिख दिया था। उसीका आवश्यक अग यहा दिया जाता है।]

"वादे वादे जायते तत्त्वबोध" इस सुभाषितमे अर्धसत्य है। श्री समर्थ रामदासने इसका दूसरा अर्धसत्य इन शब्दोमे कहा है —"तुटे वाद, सवाद तेथें करावा।" यानी जहा विवाद मिटकर सवाद उत्पन्न हो, वही चर्चा करनी चाहिये। मतलब यह कि वाद किस प्रकारका, किनके बीच, किस वृत्तिसे और किस समय होता है, इस पर भी उसमे से तत्त्वबोधका उत्पन्न होना या न होना अवलम्बित है। बुद्धि कितनी ही कुशाग्र क्यो न हो, कुछ सिद्धान्तोका बोध और चर्चाओका निर्णय वादसे नही होता, परन्तु अनुभवसे ही होता है, और अनुभव होने पर ही वाद समझमें आता है। इतना ही नही, कई बार अनुभव उस समय नही हो सकता, कालान्तरमे होता है।

जैसे यदि कोई मनुष्य फागुनके प्रारभमे कच्चे आमको चखकर कहे कि इतना खट्टा फल क्या कभी मीठा हो सकता है, तो उसका यह कहना बुद्धिके विरुद्ध है। लेकिन उससे चर्चा करनेसे फायदा नही होता। उस चर्चाको वैशाख या ज्येष्ठ तक मुलतवी ही रखना होगा। इसी तरह कई सिद्धान्त और मत, जिनका प्रारभमे तीव्र विरोध हुआ पाया जाता है, कुछ वर्षोके बाद स्वयसिद्ध सत्योकी तरह सर्वस्वीकृत हो जाते है और आश्चर्य प्रकट किया जाता है कि उनके बारेमे भूतकालमे बहस क्यो हुई होगी। अस्तु।

इसलिए शास्त्र, आप्तवाक्य और अनुमान-प्रमाणोके बारेमे मैं जो कुछ सही-गलत राय रखता हू, उसे पाठकोके सामने रखकर ही सतोष मानूगा। जिस नीरक्षीर न्यायको मैं मानता हू उस नीर-क्षीर न्यायसे पाठक उसमे से जितना योग्य मालूम हो उतना मान्य कर लें और शेष छोड़ दे।

(१) अनुभव ही अतिम प्रमाण है। 'प्रत्यक्ष' शब्दके वास्तविक अर्थको यदि अच्छी तरह समझ लिया जाय, तो अनुभवको प्रत्यक्ष प्रमाण कहनेमे आपत्ति नही। 'प्रत्यक्ष' से सिर्फ 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष' ही नही समझना चाहिये। 'अन्त करण-प्रत्यक्ष' का भी उसमे समावेश होता है और वह इन्द्रिय या अन्त करण योग्य तालीम पाया हुआ, अवि-कल्प और अक्लिष्ट होना चाहिये तथा विपर्यय, विकल्प, अजागृति (अमनस्कता) की वृत्तियोसे परे होना चाहिये।

(२) अनुभवकी मददके लिए शास्त्र, आप्तवाक्य और अनुमान-प्रमाणके लिए स्थान है। वे या तो साक्षीका अथवा पथ-प्रदर्शकका काम करते है। यानी उनके जरिये या तो हमारे अपने अनुभवके विषयमें नि शकता पैदा होती है अथवा अनुभवकी दिशामे हम प्रयाण कर सकते है।

(३) जब तक हमे अनुभव नही होता अथवा स्वय अनुभव करके सिद्ध करनेकी किसी भी कारणसे हमारी तैयारी नही होती, तब तक किसी शास्त्र, आप्तवाक्य और 'कुछ अशमे' अनुमानको प्रमाण मानकर चलनेमे सुरक्षितता मालूम होती है।

(४) इसलिए सत्यके बोधमें शास्त्र, आप्तवाक्य और अनुमानका महत्त्वपूर्ण हाथ है और इसीलिए वे आदरके योग्य हैं।

(५) फिर भी, ये तीनों ही गलत भी हो सकते हैं। गलती दो प्रकारकी हो सकती है (क) जिन्हें हमने अनुमान माना हो, वे कोरी कल्पनाएं ही हों और उनका आधार जो शास्त्र एवं आप्तवाक्य हो वह भी किसीका अनुभव नहीं, बल्कि केवल कल्पना ही हो। (ख) अथवा अनुभव तो सही हो, पर उसे भाषा द्वारा प्रकट करनेमें अथवा उसकी उपपत्ति लगानेमें दोष हो।

(६) यह संभव है कि कभी कभी एक ही प्रकारके अनुभवको समझानेके लिए भिन्न भिन्न उपपत्तियां दी जायं। सांख्य, वेदान्त, जैन इत्यादि दर्शनभेद; द्वैत, अद्वैत आदि मतभेद तथा स्मार्त, वैष्णव, इस्लाम आदि सम्प्रदाय-भेदके निर्माणका उपरोक्त गलतियोंके अलावा यह भी एक कारण है। यह कहना गलत है कि 'शास्त्रके अर्थ और धर्ममें भेदका कारण उच्छृंखल बुद्धि ही है।'

(७) कोई शास्त्र या आप्तवाक्य ऐसा नहीं, जिसमें नीर-क्षीर-न्याय करनेकी जरूरत न हो।

(८) इसलिए हरएक प्रमाण और हरएक उपपत्तिकी जांच अपनी विवेकबुद्धिसे करना सत्यशोधकका कर्तव्य है। 'अमुक एक मन्तव्यको मैं विवेकबुद्धिके क्षेत्रसे दूर ही रखूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा करनेवालेकी श्रद्धा सद्भाग्यसे सत्य पर ही हो, तो भी वह अमूढ नहीं हो सकता। उसकी बुद्धि एक हद तक पहुंच कर कुण्ठित हो जाती है। वह भ्रम-युक्त और साम्प्रदायिक संकीर्णतासे परे नहीं हो सकता। 'ईसामसीहको स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिलेगा' अथवा 'मुहम्मद पैगम्बरको स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिलेगा' अथवा 'अमुक इष्टदेव, गुरु या ग्रन्थकी शरण लिये बिना मोक्ष नहीं मिलेगा'—आदि मान्यताएं और अभिमान इस तरह बुद्धिको कुण्ठित कर लेनेका ही परिणाम हैं। इनसे ऊपर उठे बिना कोई पुरुष सत्यको सिद्ध नहीं कर सकता।

(९) विवेकबुद्धिको पैनी — कुशाग्र — करनेके लिए तर्कशास्त्रके ज्ञानकी अपेक्षा चित्तशुद्धिकी विशेष जरूरत है। वह अनिवार्य ही है — "नैषा तर्केण मतिरापनेया।"

साराश यह कि अनुभव ही किसी सिद्धान्त या मतका अन्तिम प्रमाण है। विशुद्ध की हुई विवेकबुद्धि उसका अनिवार्य शस्त्र है। शास्त्र, आप्तवाक्य, अनुमान आदि उसके सहायक उपकरण हो सकते है।

सर्वोदय, दिसम्बर, १९४१

५

धर्म-सम्मेलनकी मर्यादा*

'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्यैकसाराय नम शान्ताय ब्रह्मणे ॥'

(भर्तृहरि, वैराग्यशतक–१)

सन्नारियो और सज्जनो,

भिन्न भिन्न धर्ममतोमे श्रद्धा रखनेवाले विचारक स्त्री-पुरुषोका यह सम्मेलन है। इस प्रकार एकत्र होकर मित्रभावसे एक-दूसरेसे धार्मिक सवाद करनेके लिए आपकी मनोवृत्ति पहलेसे ही तैयार हो चुकी है। इसलिए आपके सामने यह साबित करनेकी जरूरत नही रहती कि भिन्न भिन्न धर्मावलवियोमे समभाव हो सकता है अथवा होना चाहिये। वैसे समभावका अनुभव करके ही आप यहा आये हुए है।

तब हमारे सामने विचार करने योग्य सवाल यह नही है कि हम स्वय किस तरह दूसरोके धर्मोके प्रति समभाव रखे, बल्कि यह है कि जिस तरह हम सर्वधर्म-समभावका अनुभव कर रहे है, वैसे ही हर-एक धर्मका व्यक्ति दूसरे धर्मवालोके मतोके प्रति समभाव कैसे अनुभव कर सकता है?

* वर्धाकी धर्म-परिषद्मे दिया हुआ व्याख्यान।

"किसी भी धर्मको समझनेकी कुंजी उसके धर्मग्रथोंमें नहीं, किन्तु उसके सतोके पास होती है। किसी भी धर्मका परिपक्व फल उन उन धर्मोंके द्वारा निर्माण हुए सतपुरुप है, और वे ही उस धर्मके विपयमे प्रमाणरूप है, न कि उनके ग्रथ या उन ग्रथोका अध्ययन करनेवाले विद्वान। ऐसे सतपुरुपकी पहिचान उसके हृदयसे होती है, न कि उसके शास्त्राभ्यास, कर्मकाड या प्रचार-कार्यसे।" ऐसा श्री जाजूजीने कहा है।

जब हम भिन्न भिन्न धर्मों द्वारा पैदा किये हुए सतोके हृदयकी ओर देखते है, तो हम अनुभव करते है कि सब धर्मोका परिपक्व फल मोटे तौरसे समान ही होता है।

"वैष्णव-जन तो तेने कहीए जे पीड पराई जाणे रे,
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे ध्रुव०
सकळ लोकमा सहुने वंदे, निन्दा न करे केनी रे,
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन धन जननी तेनी रे १
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे २
मोह माया व्यापे नही जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमा रे,
रामनामशु ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमा रे ३
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे,
भणे नरसैयो तेनु दरशन करता, कुळ एकोतेर तार्या रे." ४

*

"जे का रजले गाजले, त्यासि म्हणे जो आपुले ।।
तोचि साधु ओळखावा, देव तेथेंची जाणावा ।।
मृदु सबाह्य नवनीत, तैसे सज्जनाचें चित्त ।।
ज्यासि आपगिता नाही, त्यासी धरी जो हृदयी ।।
दया करणे जे पुत्रासी, तेचि दासा आणि दासी ।।
तुका म्हणे सागू किती, तोचि भगवताची मूर्ति ।।"

*

"दया राखि धर्मको पालै, जगसो रहे उदासी।
अपना-सा जीव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।
सहे कुशब्द, वादको त्यागे, छाडे गर्व गुमाना।
सत नाम ताहिको मिलिहै, कहे कबीर सुजाना।"

मतलब यह है कि 'अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्र करुण एव च' आदि जो लक्षण गीताके १२ वे अध्यायमे बताये गये है, उनके अनुरूप जगत्मे आचार-व्यवहार हो यह धार्मिकताका परिपक्व फल है। इस विषयमे सब धर्म सहमत है और ऐसा कोई देश या राष्ट्र नही है, जिसमें ऐसे सत्पुरुष पैदा न हुए हो या नही हो सकते। वे विना अपना धर्म छोडे उसका अत्यन्त दृढता और आस्थाके साथ पालन करके ही ऐसी साधुताको पाते है। और इस साधुतामे से एक ऐसी ज्ञाननिष्ठा पैदा हो जाती है, जिसकी बदौलत उनमे यह भाव नही रहने पाता कि उनका ही देश, जाति, धर्म, सभ्यता, भाषा, रीति-रिवाज आदि सबसे श्रेष्ठ है, वे ही सत्य या सपूर्णता तक पहुचे हुए है, सबके लिए उनका स्वीकार अपरिहार्य है; वे ही ईश्वरको अधिक मान्य या प्रिय है तथा उनमे कही पर भी सुधारके लिए गुजाइश नही है, और दूसरे सब देश, जाति, धर्म आदि उनसे न्यून है। जिस समाजमे वे रहते है उसमे उत्पन्न हुए अपने कर्तव्योका और उस समाजके निर्दोष रीति-रिवाजोका वे बराबर पालन करते है। फिर भी उनके मनमे यह अभिमान नही उठता कि इतर समाजोकी अपेक्षा उनका समाज और उसकी सब बाते कुछ अलौकिक और दिव्य है। सच तो यह है कि मानव-समाजकी धर्मरूप सब नदिया एक ही पहाडसे निकली हुई है और सब एक ही समुद्रकी ओर बह रही है। एक नदी मार्गमे कही छिछली मालूम होती है, कही निर्मल होती है, तो कही गदी भी होती है। दूसरी नदियोका भी यही हाल है, लेकिन किसी दूसरे ढगसे। फिर भी साधारण तौर पर सबका पानी एकसा है, उपयोग एकसा है और अन्त भी एकसा ही है। गगा और नाइल, टेम्स और राइन, युफ्रेटिस और मिसिसिपी सभी नदिया विशाल महासागरमे मिलती है। इसलिए उनमे से किसी एकको पवित्र और पाप धोनेवाला तीर्थ समझना और दूसरीको पानीका मामूली

प्रवाह समझना — इस तरहके भेदभावको सत-हृदयमें स्थान नही मिलता। बल्कि —

"इक नदिया इक नार कहावत, मैलो ही नीर भरो।
जब दोऊ मिलकर इक वरन भये, सुरसरि नाम परो॥"

ऐसा माननेकी ओर उनके मनका झुकाव रहता है। यानी थोडा-बहुत मैल है, ऐसा देखकर भी उनके मनमे यह भाव नही उठता कि वह घृणापात्र है। तब वे किसीसे यह कैसे कहे कि तुम गगाजी द्वारा ही समुद्र तक पहुच सकोगे, और नाइल या युफ्रेटिस द्वारा बीचमे ही डूब जाओगे? वे कहते हैं कि जिसे धर्मकी नदियो द्वारा समुद्रको पाना है, उसके लिए गगा या टेम्स बडे महत्त्वकी चीज नही है, उसकी अपनी नाव ही महत्त्वकी चीज है। वह नाव मजबूत हो तब तो सब कुशल है, नही तो सभी नदिया खतरनाक है। वह नाव है उसका अपना एकनिष्ठ भावबल और आत्मशुद्धि। यह भावबल और आत्मशुद्धि उसके पास हो, तो फिर इसकी कोई फिक्र नही कि उसने गीता पढी है या सिर्फ कुरान या बाइबल, सिर्फ रामका ही नाम लिया है, या सिर्फ बुद्ध, तीर्थंकर, ईसा या पैगम्बरका। इतना ही नही, उसने गीता, कुरान या कुछ भी न पढा हो, न रामका या किसी तीर्थंकर, पैगम्बर या मसीहका ही नाम सुना हो, तो भी चिन्ता नही। और अगर वह बहरा और गूगा होनेके कारण ईश्वरको कोई नाम देने और उसका नाम लेनेमे तथा कोई धर्मग्रथ पढने और सुननेमे असमर्थ हो, तब भी अगर उसके पास एकनिष्ठ भावबल और आत्मशुद्धिकी प्रबल इच्छारूपी नाव है, तो उसके लिए चिन्ताका कोई कारण नही है। दूजके चादको कभी हम स्वय ढूढ नही पाते, लेकिन जिसने उसे किसी तरहसे या सयोगसे ही देख लिया है, तो वह हमें उसे बताता है। लेकिन यह बात तो नही है कि उस सहायकने चद्रको लाकर वहा रख दिया है। अगर ऐसा सहायक न मिले, तो हमारे लिए चद्र-दर्शन करना असभव है ऐसा तो हम कह ही नही सकते। इसी तरह तीर्थंकर, पैगबर, मसीह, आत्मज्ञानी, सद्गुरु और उनके धर्मग्रथ ईश्वरको पानेमे सहायक होते हैं। लेकिन यह बात

तो नही कि उन महात्माओने या उनके धर्मग्रथोने ईश्वरको पैदा किया है, और इसलिए जिसे वे किसी कारणसे अलभ्य है उसे ईश्वर-प्राप्ति हो ही नही सकती। जब सत्पुरुष सब धर्मोके विषयमे समभाव प्रकट करते है, तब उनके कहनेका वही मतलब होता है, जैसा कबीरजीने कहा है

"मो को कहा ढूढे बन्दे, मै तो तेरे पासमे।।
ना मै देवल, ना मै मसजिद, ना काबे कैलासमे।
ना तो कोऊ क्रिया कर्ममे, नही जोग बैरागमे।।
खोजी होय तो तुरते मिलि है पलभरकी तलाशमे।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, सब सासोकी सासमे।।"

एक भक्तने गाया है

"अजब तेरा कानून देखा खुदा या!
जहा दिल दिया फिर वही तुझको पाया।।
न यहा देखा जाता है मदिर औ' मसजिद।
फकत यह कि तालिब[१] सिदक[२] दिलसे आया।।
जो तुझ पै फिदा दिल हुआ एक बारी।
उसे प्रेमका तूने जलवा[३] दिखाया।।
तेरी पाक सीरत[४] का आशिक हुआ जो।
वही रग रगा फिर जो तूने रगाया।।
है गुमराह जिस दिलमे बाकी खुदी है।
मिला तुझसे जिसने खुदीको गवाया।।
हुआ तेरे विश्वासीको तेरा दरसन।
गदा[५] को दुरे[६] बे-बहा[७] हाथ आया।।"

और इस दृष्टिसे सतोने बार बार दृष्टान्त देकर गाया है कि

"चरणस्पर्श परम पद पायो गौतम ऋषिकी नारी
गणिका शवरी इन गति पाई बैठ विमान सिधारी।"

१ शोधनेवाला, २ सच्चा, ३ वैभव, ४. स्वभाव, ५ फकीर, ६. मोती, ७ कीमती

"गज अरु गीव तारि है गणिका कुटिल अजामिल कामी
यही साख श्रवणे सुनि आयो चरण शरण सुखवामी।
मै तो विरद भरोसे वहुनामी ।।"

*

"किव सच्चारा होइये किव कूडै तूटै पालि?
हुकम रजाई चलणा, नानक लिखिया नालि।"

मतलव यह है कि अगर ईश्वरकी पहचान ही जीवनका साध्य हो, तव तो अनन्य भावसे शरणागति और आत्मशुद्धिको छोडकर धर्मकी दूसरी सव वाते गौण हो जाती है। और अगर वह (ईश्वरकी पहचान) जीवनका साध्य नही है, तो धर्मके नामसे प्रचलित मतव्य, विधिया, रीति-रिवाज आदिका उसी तरह विचार करना चाहिये, जैसे मनुष्योकी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सस्थाओंके वारेमे किया जाता है। यानी यह नही कहा जा सकता कि कोई खास सस्था, मतव्य, विधि, रीति-रिवाज आदि ईश्वर-प्रणीत है और उनमें कभी कोई परिवर्तन नही किया जा सकता।

यदि हम जगत्के सतोंकी ओर देखे, तो हमे उनमे दो प्रकारके व्यक्ति दिखाई देगे। एक तो वे जिन्होने अपने जीवनका साध्य सिर्फ ईश्वर-प्राप्तिको ही वना लिया और उसे अपने लिए सिद्ध कर लेनेके वाद केवल उन्हीके जीवनमें रस लिया, जो उनकी तरह सिर्फ ईश्वर-प्राप्तिके ही कायल थे। इन्होने धार्मिक मतव्योमे या दूसरे प्रकारके मतव्योमें सशोधन करनेकी वहुत प्रवृत्ति नही की। और यदि कुछ की भी, तो एक-दो छोटी-छोटी वातोमें। इन मन्तव्यो, विधियो आदिके विषयमें उन्होने कभी तो उपेक्षाका भाव दिखाया अथवा उनको महत्त्व देनेवालोको फटकार भी सुनाई और कभी उनको ज्योका त्यो आदरपूर्वक निभाया। साधारणतया जिन्हे हम सतके नाममे पहचानते है, उनमे से अधिकतर इस प्रकारके थे। उदा० तुकाराम, एकनाथ, नरसिंह मेहता, मीरावाई आदि। ऐसे ही सन्त दूसरे धर्मोमें भी हो गये है।

लेकिन एक दूसरे प्रकारके भी सन्त हो गये हैं, जिन्होने केवल अनन्य साधकोके जीवनमे ही रस नही लिया, बल्कि अपने समाजके दूसरे पामर और पुण्यशाली दोनो तरहके मनुष्योके जीवनकी ओर ध्यान दिया। मालूम होता है कि उन्होने यह सोचा कि यद्यपि ईश्वर-प्राप्ति ही जीवनका एकमात्र साध्य है, और जाने-अनजाने सब मानव उसीकी तरफ बढ़े जा रहे हैं (क्योकि उसीमे तो उनका जीवन है), फिर भी अधिकाश मानवोको यह समुद्र इतना दूर प्रतीत होता है कि वह मानो उनके जीवनका ध्येय ही न हो, लेकिन उनका ससारी जीवन यानी धर्म, अर्थ और काम ही उनका ध्येय हो। इसलिए इन महापुरुषोने अपने समाज और कालकी धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सब सस्थाओ तथा मतव्यो, विधियो, रीति-रिवाजो आदिका भी सशोधन करनेके लिए उनमे हस्तक्षेप किया। परिणाम यह हुआ कि ये लोग नये नये समाजोके आदिपुरुष बन गये। बुद्ध, महावीर, कन्फ्यूशियस, मूसा, ईसा, मुहम्मद, गोविन्दसिंह, ल्यूथर आदि इसी प्रकारके महापुरुष हो गये। और गाधीजी भी वर्तमान कालमे इसी श्रेणीके युग-प्रवर्तक हैं। अलबत्ता, यहा पर एक ऐतिहासिक सत्य कहनेका अथवा इन सबकी तुलना करनेका या समानता बतानेका दावा मैं नही करता। सभव है कि इनमे से कई महापुरुष पहले प्रकारके ही सत हो और उनके शिष्योके काम उनके नाम चढा दिये गये हो। लेकिन यह तभी हो सका होगा, जब उनके कुछ ऐसे शिष्य भी रहे हों, जो केवल ईश्वराभिलाषी नही होगे बल्कि धर्म-अर्थ-कामके अभिलाषी भी होगे और उन्हे सुनाये गये उपदेशोमे भिन्न समाज-रचनाके कुछ बीज डाले गये होगे। मतलब, इन महापुरुषो और उनके शिष्योंके द्वारा जिन नदियोके जरिये मानव-जाति समुद्रकी ओर जाती है, उन नदियोके प्रवाह और पानीको सुधारने अथवा उनमे से नहरें निकालनेका इतना बलवान प्रयत्न हुआ कि कई बार बिलकुल नई नदिया या वेगवान नहरे बहने लग गई। अनेक धर्मों, एक एक धर्मके विविध पथो, अनेक प्रकारकी सभ्यताओ तथा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक

सस्थाओ, छोटे-मोटे भेद रखनेवाले विविध कर्मकाडो, रीति-रिवाजो आदिकी उत्पत्ति इसी तरह हुई है।

जहा किसी धर्मकी अनेक वातोको प्रमाण मान कर कुछ विषयोमें ही परिवर्तन किया जाता है, उसे हम 'पथ' कहेगे। जहा किसी पुराने धर्मके प्रमाणको अमान्य करके नया मार्ग चलानका प्रयत्न हो, उसे हम 'नया धर्म' कहेंगे।

इन सवके उत्पादन तथा सचालनमें विविध स्वभाव और रुचिके लोगोने हाथ वटाया है। यह नही कहा जा सकता कि वे सव शुभ वृत्तिके ही मनुष्य होगे। इसलिए हमे इस नतीजे पर आना पडता है कि किसी भी धर्मको परिपूर्ण, शुद्ध और केवल मोक्षदायी नही कहा जा सकता। सवमे अनेक दोष पैठे हुए है। कुछ दोप मामूली और उपेक्षा करने लायक है, कुछ वडे गभीर है। सव धर्मोमे धर्मके ही नाम पर दक्षिण और वाममार्ग भी वन गये है।

साथ ही साधारण मनुष्य-स्वभावकी यह एक मर्यादा है कि वॅह अपने देश, धर्म, जाति, भाषा आदिके गुणोको ही देख पाता है। उसके अवगुण या तो उसे दीखते ही नही, अथवा गुणरूप ही प्रतीत होते है, अथवा वहुत उपेक्ष्य लगते है, अथवा वे कुछ नासमझ लोगोकी त्रुटिया है ऐसा समझकर वह सतोष मान लेता है। लेकिन दूसरोके देश, धर्म आदिके दोषो पर ही उसकी नजर पडती है और वे उसको पहाड जैसे मालूम होते है, जिनकी अधेरी छायामे उनके गुण नहीके वरावर हो जाते है।

ऐसी अवस्थामें सर्वधर्म-समभावके मानी क्या हो सकते है? उदाहरणार्थ, प्राय मिशनरी लोग और वहुतसे मुसलमान तथा हिन्दू सम्प्रदायोंके भी कुछ अनुयायी पूछते है कि जिस धर्म या पथमे अनेक देव-देवियोकी पूजा की जाती है, डरावने आकारके यक्ष-राक्षस-भूत-प्रेत-पितर-महामारी-शीतला आदिमें श्रद्धा रखी जाती है, निर्दोष प्राणियोकी वलि चढाई जाती है, या पच मकारका भी धर्मके नाम पर सेवन किया जाता है, या दूसरे धर्मवालोके साथ दुष्ट व्यवहार करनेका उपदेश ईश्वरके नाम पर दिया जाता है, उसके प्रति हम उतना

ही आदर किस तरह अनुभव करे, जितना कि हम अपने धर्मके लिए रख सकते हैं — जो एकेश्वर-भक्ति, अहिंसा या पवित्र चरित्रके ऊपर स्थित है? और अगर हमारा उस धर्मके प्रति समभाव न रख सकना दोष न हो, तो क्या हमारा यह एक स्वाभाविक कर्तव्य नही हो जाता कि हम उन मान्यताओमे जकडे हुए लोगोको उच्चतर धर्मका उपदेश दे?

धार्मिक राग-द्वेष और धर्मान्तरकी प्रवृत्तिके मूलमे ये दो प्रश्न हैं।

इस विषयमे मेरे विचार इस प्रकार हैं.

जिस व्यक्तिका एकमेव स्थिर उद्देश्य ईश्वर-समुद्रको ही पानेका है, उसके रास्तेमे उसका जन्मप्राप्त धर्म या पथ — फिर वह कोई भी क्यो न हो — रुकावट नही डालता। क्योकि उसकी सिद्धिके लिए एकनिष्ठ भावबल ही अनिवार्य शर्त है। अगर वह नही है तो किसी भी धर्म या पथके द्वारा उस साध्यको नही पहुचा जा सकता। जिसे प्राणियोकी वलि चढाई जाती है, उस दुर्गा-कालीकी उपासना द्वारा एकनिष्ठ भावबलयुक्त श्री रामकृष्ण परमहंसको या रास्तेसे पत्थर उठाकर सिदूरसे उसकी पूजा करनेवाले किसी एकनिष्ठ भीलको भी मोक्ष मिल सकता है। लेकिन ऐसी एकनिष्ठाके विना हरी पत्तीको भी न तोडनेवाला अहिंसक भिक्षु अज्ञानमे भटकता रह सकता है। इसकी वजह यह है कि जो एकनिष्ठ भक्त है वह अपने भावबलसे सब अशुद्ध मान्यताओ और कर्मकाडोसे आप ही परे हो जाता है। 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' (गीता, ६–४४)। और जब उसमे न्यूनता होती है तब वह वाह्य कर्मकाडोमे ही चक्कर काटता रहता है और आगे नही वढ पाता।

फिर भी धर्म या पथके सस्कारोका मनुष्यमे एकनिष्ठ भाव पैदा करनेमे तथा एकनिष्ठ भक्तमे भी अनेक मनुष्योचित सद्गुणोका विकास करने और उन्हे पोषनमे महत्त्वका हिस्सा होता है। इसलिए उसके गुण-दोषोका विचार अप्रस्तुत नही है। इन गुण-दोषोका परिणाम धीरे धीरे ध्यानमे आता है और कम या ज्यादा समयके वाद वे वडे

व्यापक और महत्त्वके वन जाते है। इसलिए किसी भी धर्म और पथके आचार, विचार आदि सशोधनसे परे कभी नही हो सकते। यही वजह है कि दुनियामे हरएक धर्ममें नये नये पथ और कभी कभी नये नये धर्म भी पैदा होते आये है। यह क्रिया रोकी नही जा सकती। और जव उसे रोका नही जा सकता तव ऐसे सशोधनकी जरूरत समझनेवालो और न समझनेवालोके वीच कुछ न कुछ सघर्ष पैदा हो ही जाता है। इन दो दलोके आचार-विचारोके वीच जितना अधिक अन्तर होगा, उतना ही सघर्षका भी ज्यादा तीव्र होना सभव है। यह भी असभव है कि जो सशोधनकी जरूरत महसूस करते है, वे उसका प्रचार न करे। यही धर्मांतर या परिवर्तनकी प्रवृत्ति शुरू हो जाती है। क्या हिन्दू धर्ममे पैठी हुई ऊच-नीचकी वर्ण-भावना, अस्पृश्य-भावना आदिको हटानेके आन्दोलनसे गाधीजीको रोका जा सकता है? अगर नही रोका जा सकता, तव तो जो इस सशोधनकी जरूरत महसूस नही करते, उनकी तरफसे विरोध होगा ही। ऐसे प्रसगोमे अगर सुधारक मजबूत हो, तो धीरे धीरे पुराना मत मिटता जाता है। अगर वह उतना मजबूत न हो, तो दो पथ उत्पन्न हो जाते है। और अगर वह निर्वल हो, तो स्वय मिट जाता है। इस्लाम शायद पहले प्रकारके सशोधनका उदाहरण है। अरवस्तान, ईरान आदि देशोमे उसने वहाके पुराने धर्मोको नामशेष कर दिया। कवीर, स्वामी दयानन्द आदिके सशोधन दूसरे प्रकारके है। वे हिन्दू धर्मके सुधारक पथ वनकर रह गये। इसी तरह प्रोटेस्टेन्ट आदि पथ रोमन कैथोलिक पथको नामशेष नही कर सके—ईसाई धर्मको सिर्फ पथोमें विभक्त करके रह गये। जव नये पथका वल अधूरा होता है, तव पुरातनियो और नूतनियोका सघर्ष रेलके मुसाफिरो जैसा होता है। नया मुसाफिर डिव्वेमे आने लगता है तव उसका सव पुराने मुसाफिर तीव्र विरोध करते है, लेकिन अगर वह किसी तरह घुस ही जाता है, तो फिर पहले यात्री अपने दिलको मना लेते है। इतना ही नही, वल्कि उसके लिए जगह भी कर देते है। इसी तरह जव सुधारक वलवान प्रतीत होता है तव उसका पथ भी भले ही चले,

इस वृत्तिसे पुरातनी उससे समझौता कर लेते है और एक-दूसरेसे झगडते नही। इस तरह आज कैथोलिक और प्रोटेस्टेट, सुन्नी और शिया, स्मार्त और वैष्णव, सनातनी और आर्य-समाजी एक-दूसरेसे क्वचित् ही लडते-झगडते है।

मानव-स्वभाव और धर्म आदि मानवी सस्थाओकी ऐसी त्रुटि-पूर्ण दशामे जो लोग हमारी तरह मनुष्य-मनुष्यके वीच शाति, प्रेम, समझौता और साथ ही सस्थाओका सुधार भी चाहते है, उनकी कैसी मनोवृत्ति और क्या कर्तव्य होना चाहिये? मेरे विचारसे अगर हम नीचे बताये हुए विचारो पर एकमत हो, तो हम सर्वधर्म-समभावके साथ साथ धर्मोकी सशुद्धिका प्रयत्न भी कर सकते है।

१. मनुष्य-जाति जिन विविध धार्मिक और सामाजिक सस्थाओ-वाले समाजोमे विभक्त हो गई है, उन सबका किसी न किसी प्रकारकी वास्तविक या काल्पनिक आवश्यकताओसे उद्भव हुआ है। सभव है कि उनमे से कुछ सस्थाओकी पूर्णरूपमे अथवा किसी अशमे आज उपयुक्तता न रही हो और उनका परस्पर मेल भी टूट गया हो। फिर भी जिन विविध परिस्थितियोमे मानव-जीवन निर्माण हुआ है और सकलित हुआ है, उनकी वजहसे लोगोकी स्वाभाविक मनोवृत्ति उन सस्थाओको छोडने और उनमे परिवर्तन करनेके बारेमें मद होती है। अगर प्रचलित सस्थायें उन्हे थोड़ी भी उपयोगी मालूम होती है, तो उतने ही से सतोप माननेकी लोकवृत्ति होती है। इसलिए जहा हमे अपनेसे अत्यत भिन्न प्रकारके आचार-विचार दीख पडते है, वहा हमे अपनी दृष्टिसे नही, लेकिन उन लोगोकी दृष्टिसे उन आचार-विचारोकी तरफ देखना चाहिये और जिन वास्तविक या काल्पनिक जरूरतोको वे पूरा करते है अथवा करते थे उनको खोजना चाहिये। वैसी ही वास्तविक या काल्पनिक जरूरत हम किन आचार-विचारो द्वारा पूरी करते है, यह भी देखना चाहिये। अपने आचार-विचारोको निष्पक्ष वुद्धिसे और दूसरोके आचार-विचारोको सहानुभूतिपूर्वक समझने-के प्रयत्नसे हम दोनोका वास्तविक मूल्य आक सकेंगे। और अकसर इस खोजमे से ही पता चलेगा कि उभय पक्षोमे कुछ गुण है, कुछ दोप

है, कुछ वास्तविक महत्त्व है और कुछ काल्पनिक हो तो भी सतोषदायी लक्षण है। जहा यह मालूम होगा वहा अपने ही आचार-विचारोको सर्वश्रेष्ठ समझने या उन्हीको प्रस्थापित करनेका हमारा आग्रह शिथिल हो जायगा।

२. जब ऐसी समालोचनामे हमको यह साफ दीख पडे कि हमारे और दूसरोके कुछ आचार-विचारोमे परस्पर विरोध ही है और अगर एक सत्य हो तो दूसरा असत्य ही हो सकता है, तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम शुद्ध सत्यान्वेषणकी दृष्टिसे इसकी छानबीन करे कि इनमे कौनसे आचार-विचार सत्य हैं और कौनसे सर्वथा असत्य हैं? अगर हमारे ही पक्षमें असत्य हो, तो हम स्वय तो ऐसे आचार-विचारोको छोड़ ही दे। हमारे आचार-विचार असत्यकी बुनियाद पर रचे गये हो तो उनका त्याग करनेके बाद और यदि दूसरेके हो तो पहलेसे ही उन पर ज्यादा गहराईसे विचार करके हम इस बातकी खोज करे कि उन आचार-विचारोंसे किस प्रकारका और किसका नुकसान होता है, और किसको अनुचित लाभ होता है? हमारी तारतम्य बुद्धि भी इसमें काम करेगी ही। जब तक हम यह न देखे कि हमने अपने जिन आचार-विचारोको असत्य पाया है, उनसे किसी मनुष्यको या प्राणीको पीडा या नुकसान पहुच रहा है, तब तक हम उन विषयो पर मनुष्य-मनुष्यमें कलह पैदा करनेवाली कोई प्रवृत्ति न करे। सिर्फ जब ठीक मौका मिले तब अत्यन्त सहृदयता और सौम्य-भावसे जनताकी बुद्धि और हृदय पर उन आचार-विचारोके सस्कार डाले, जो हमे सत्य या शुद्ध प्रतीत होते हो।

३ लेकिन जब हम स्पष्ट रूपसे यह देखे कि हमारे या दूसरोके आचार-विचार न केवल अशुद्ध या असत्य ही है, बल्कि उनके कारण हमारे या दूसरे समाजके मनुष्य या प्राणियोको पीडा या नुकसान पहुचता है, जो कि हमारी सहृदयताके लिए असह्य है, तब सारे सत्याग्रही साधनो द्वारा उनका उन्मूलन करनेकी कोशिश करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। ऐसा करनेमे कुछ कलह पैदा होना सभव है। वहा हम निरुपाय हैं। यदि हमारा बर्ताव शुद्ध सत्याग्रहीका हो, तो अन्तमे

समाजके लिए शुभ परिणाम ही होगा। विरोध-कालमे हमे तकलीफ जरूर होगी। परन्तु सत्याग्रहीको उसे बरदाश्त करना ही होगा।

४ जिस वक्त सत्याग्रही अपने या दूसरोके असत्य और अशुद्ध आचार-विचारोका तीव्र विरोध करता हो, उस वक्त भी वह अतिशयोक्ति न करे, मर्यादाका उल्लघन न करे। यानी वह खास असत्य आचार-विचारोका ही खडन करे, सारी सस्था या समाज पर आक्षेप न करे और न उनका मजाक उडावे, और जो कुछ उसमे सत्य और शुद्ध हो, उसके प्रति पूरा आदरभाव रखे।

५. सर्वधर्म-समभावी दूसरोंकी निर्दोष विशिष्टताओंका खडन या उपहास न करेगा और क्षतव्य त्रुटियो पर झगडा पैदा न करेगा। एक ढाचेमे ढले हुए पदार्थोकी तरह हमारी मानव-सस्थाओको समान रूपकी बनानेकी वह मिथ्या अभिलाषा न रखेगा।

६ वह अपने आचार-विचारमे कृत्रिमता भी दाखिल न करेगा। वह अपनी एकनिष्ठ उपासना और निरुपद्रवी आचारको न छोडेगा। सर्वधर्म-समभाव बताने या सिद्ध करनेके लिए वह आज हिन्दू, कल मुसलमान और परसो ईसाई बननेका प्रयत्न न करेगा।

राम और कृष्णमे भेदबुद्धि न रखते हुए भी तुलसीदासने रामकी ही उपासना की और सूरदासने कृष्णकी ही की। ऐसी एकविधा भक्ति सर्वधर्म-समभावकी विरोधिनी नही है।

७ मै इस प्रकारके सर्वधर्म-समभावको नही मानता, जिसमे परस्पर प्रशसाकी ही अपेक्षा रखी जाती हो। इससे परस्पर सच्ची मैत्री निर्माण नही होगी। वे दो व्यक्ति सच्चे अर्थमें मित्र नही है, जो एक-दूसरेकी त्रुटियोको देखते हुए भी उन्हे साफ साफ कह देनेमे भय महसूस करते है और केवल एक-दूसरेकी स्तुतिको ही अपना कर्तव्य बना लेते है। न वे दो व्यक्ति ही मित्र हो सकते है, जो एक-दूसरेके गुणोकी कद्र नही कर सकते और केवल त्रुटिया बताना ही अपना फर्ज मान लेते है। मित्रता तभी होती है जब सामनेवाला हमारे हृदयमे प्रेम और निर्भयताका अनुभव करता है। तब कटु वचन भी मीठे लगते है।

साराश यह है कि :

(१) ईश्वर-प्राप्ति सप्रदायोसे परे है। वह सम्प्रदायो या पथोमे नही है, वल्कि एकनिष्ठ भाववल और चित्तशुद्धिमे है, जो हृदयकी चीजे है।

(२) साम्प्रदायिक प्रणालिकाए मनुष्यमे एकनिष्ठ भक्ति और हृदयके विकासके सस्कार डालनेमे उपयुक्त हो सकती है।

(३) लेकिन सव प्रणालिकाएं मानव-निर्मित ही है, इसलिए वे सपूर्ण शुद्ध नही होती है और न रहने पाती हैं। इसलिए उनमें हमेशा सशोधन होना चाहिये।

(४) वह सशोधन सत्याग्रहसे ही सफलतापूर्वक हो सकता है। सत्याग्रह भी हृदयकी वृत्ति है, न कि वुद्धिकी। क्योकि विना समभावके कोई सत्याग्रही हो ही नही सकता। इसलिए सर्वधर्म-समभाव हृदयोका मेल है, साप्रदायिकोका समझौता या इकरार नही है।

(५) जहा सशोधनके कर्तव्य और प्रयत्नका स्वीकार है, वहा नया धर्म या पंथ पैदा होना भी सभव है। अगर वह सशोधन और उसका प्रचार शुद्ध सत्याग्रही पद्धतिसे हो, तो आखिरमे जिनका उनसे सवव है उन सवको उसे मान्य करना ही होगा। वीचके समयमें कम-ज्यादा सघर्ष हो सकता है। वह अनिवार्य है ऐसा जानकर सत्याग्रही उसे सहन करेगा। अगर वह सत्याग्रहके सावनोको न छोडेगा, तो उससे किसीका अहित न होगा।

(६) सर्वधर्म-समभावी होते हुए भी सत्याग्रही किसीकी चापलसीमें नही पड सकता। वह दिखावेके लिए दूसरे धर्मोका आचरण न करेगा। जो वातें उसे मजूर न हो, उनका समर्थन करनेकी जिम्मेदारी वह अपने ऊपर न लेगा। कर्तव्य पैदा होने पर अपनी या दूसरेकी जो वाते उसे असत्य लगती हो उनका वह निषेध भी करेगा।

ये मेरे विचार है। क्या आप सवको ये मान्य हो सकते है?

लेकिन इन पर हम सवकी एकराय हो या न हो, हम सव जो सत्यसमाजके शुभ सकल्पसे यहा इकट्ठे हुए है, वे इतना तो जरूर करे कि :

"आज मिल सब गीत गाओ।
उस प्रभुके धन्यवाद।।
जिसका गुण नित्य गाते है
गंधर्व मुनि सुर धन्यवाद।।
मदरोमे, कन्दरोमे, पर्वतोके शिखर पर।
देते है लगातार सौ सौ
वार मुनिवर धन्यवाद।।"

(१९३८)

६

संकल्प-सिद्धि

उपनिषदोमे कहा गया है कि हमारी आत्मा सत्यकाम है, सत्यसकल्प है, यानी वह इतनी बलवान है कि जो इच्छा करती है वह प्राप्त कर सकती है और जो विचार करती है वह जान सकती है। हरएक जीवने जो जो शक्तिया और स्थितिया आज तक सपादन की है, जो जो ज्ञान प्राप्त किया है, वह उसकी अपनी ही कामनाओ और सकल्पोका परिणाम है, ऐसा सतोका अनुभव है। और जो मनुष्य निश्चय कर ले वह ऐसा अनुभव कर सकता है। जिन शक्तियोकी जीवमे कमी मालूम होती है, वह खुद उसके भीतर रही हुई शक्तिके अनुपयोग अथवा दुरुपयोगका ही परिणाम है।

धक्-धक् होनेवाले इस हृदयके पीछे एक अनोखा बल रहता है। इस बलका ही उपयोग करके जीवमात्र अपनी वर्तमान दशा भोगता है और भविष्यकी दशा प्राप्त करता है। इसी बलके द्वारा विश्वामित्रने प्रतिसृष्टि उत्पन्न की, परशुरामने अकेले इक्कीस बार पृथ्वीको नि क्षत्रिय बनाया, शिवाजीने स्वराज्यकी स्थापना की, नेपोलियनने यूरोपको कपाया, सिकदरने देश-विजय की, शकराचार्यने ज्ञान-विजय की, बुद्धने मोह-विजय की और हजरत ईसाने दया-विजय की। जगतके सब महान कार्य, सब पराक्रम, सब बडीसे बडी

सिद्धिया इस मुट्ठीभर हृदयको चलानेवाली अणु जितनी शक्तिमे से पैदा हुई हैं। प्राणीका यही श्रेष्ठसे श्रेष्ठ वल है, यही उत्तमसे उत्तम आलवन है। इस वल और इस आलबनको जाननेवाला परतत्र नही हो सकता और दयाका पात्र भी नही बनता। वह न तो दीन है, न कृपण है, और न 'बिचारा' है। वह बाह्य साधनोका आश्रय लेने-वाला नही होता। उसकी वाटिकामे कल्पतरु उगता है, उसके बाडेमें कामधेनु रभाती है, उसकी पगडीमे चिन्तामणि चमकती है।

जो अपने हृदयमे रहे हुए इस बलको नही जानता, वही दूसरेके हृदयमे रहे हुए वलके अधीन रहता है। वह परतत्र रहता है, अनुकरण करनेवाला होता है, साधनोके अधीन रहता है। वह दूसरोके आधारके बिना चल नही सकता। उसमे आत्म-विश्वास और श्रद्धाकी हमेशा कमी रहती है। वह दूसरोसे डरता है, छिपकर मारता है और दु ख देखकर भागता है। उसका बडप्पन दूसरेके अनुग्रहके कारण है, उसके वलका आधार बाहरी साधन होते हैं।

परन्तु यह बात भी सच है कि सामान्य रूपसे हमें इस बलका अनुभव नही होता। आत्मा सत्यकाम-सत्यसकल्प है, ऐसा हमे नही लगता। हम प्रतिदिन देखते हैं कि हमारी कितनी ही इच्छाए पूर्ण नही होती। उलटे, हमे ऐसा लगता है कि इच्छाए और सकल्प करना ही हमारे वशकी बात है, उन्हे पूर्ण करनेकी शक्ति हममे नही है। उपनिषद्मे कहे गये वाक्यसे उलटा अनुभव हमे क्यो होता है? इसका कारण ढूढने पर मैं नीचेके नियम जान सका हू

(१) प्राणी एक समयमें एक ही इच्छा नही करता, परन्तु उसके हृदयमे अनेक इच्छाए और कुछ परस्पर-विरोधी इच्छाए भी चक्कर काटती रहती हैं। यदि उसका सपूर्ण इच्छाबल एक ही सकल्पके ऊपर दृढतासे केन्द्रित हो, तो वह सकल्प अवश्य सिद्ध होता है।

(२) सकल्पकी सिद्धि होनेमे चित्तकी अनन्यता और एकाग्रता ही श्रेष्ठ सहायक है, और चित्तकी व्यग्रता अथवा अनेक दिशाओमे दौडना वडेसे वडा विघ्न है। जिस वस्तुको सिद्ध करना हो उसे छोडकर यदि प्राणी अन्य वस्तुओका चिन्तन या अन्य विषयोका सेवन करता

है, तो वह सत्यकाम-सत्यसकल्प है या नही, इसका प्रमाण उसे कैसे मिल सकता है? जिस सकल्पको सिद्ध करना हो, उसका ही ध्यान रहे, उसकी ही उसे लगन लगी हो, उसीमे वह ओतप्रोत हो गया हो, तभी वह सिद्धिका द्वार देख सकता है। योगाभ्याससे सिद्धिया प्राप्त होती है और योगकलाका कुछ चमत्कार है, ऐसा कुछ लोग मानते है; और दूसरे मानते है कि ये दोनो वस्तुए झूठी है। वस्तुत यह सकल्पमे तद्रूप होनेका केवल स्वाभाविक परिणाम है।

(३) सकल्प सिद्ध होगा या नही, इस दिशामे सशय-वृत्तिका होना सकल्प-सिद्धिमे दूसरा विघ्न है। आत्माके विषयमे अश्रद्धा, अविश्वास ही हमारा शत्रु है। सशय प्राणीकी इच्छाशक्तिको बलवान नही होने देता।

(४) अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले सकल्प सिद्ध करना हमारे हाथमे है, बाहरकी वस्तुसे सम्बन्ध रखनेवाले सकल्प सिद्ध करना विशेष कठिन है, और अन्य जनोसे सम्बन्ध रखनेवाले सकल्प सिद्ध करना इससे भी अधिक कठिन है। उदाहरणार्थ मुझमे अहिंसा-वृत्तिका विकास हो, यह सकल्प मै शीघ्र सिद्ध कर सकता हू। मुझे खूब धन मिले, इस संकल्पके सिद्ध होनेमे अधिक देर लगेगी और इसमे अन्य सयोगो पर अवलबन होनेसे पूर्ण सिद्धि होनेमे रुकावट भी आ सकती है। मै अनेक मनुष्योको अमुक वस्तु दिलाऊ अथवा उन्हे अमुक प्रकारके बनाऊ, यह इससे भी अधिक कष्टसाध्य है, क्योकि इसमे समस्त प्रजाके सकल्प-बलकी मदद चाहिये।

(५) सकल्प-सिद्धिमे दूसरे विघ्न त्रिगुणके वेग है। निराशा, आलस्य, प्रमाद इत्यादि वेग उत्पन्न होकर हमारे सकल्पको कमजोर बना डालते है। ये तमोगुणी वेग है। खाने-पीने तथा देखने-सुननेकी बलवान वृत्तिया, काम, क्रोध, मान, ईर्षादि भाव हमारे सकल्पके बलको नि शेष कर डालते है। ये रजोगुणी वेग है।

यद्यपि सकल्प-सिद्धिके लिए साधी जानेवाली एकाग्रता खुद सात्त्विक वेग है, फिर भी दूसरे सात्त्विक वेग उसमे विघ्नरूप हो सकते है। बुद्धिका अहकार यह एक विघ्नरूप वेग है। कभी कभी मानो हमारा सकल्प सिद्ध हो गया हो, इस तरह हम सकल्पकी तरगोमे फंस

कर उसके वादके विचार करना शुरू कर देते हैं। शेखचिल्लीकी तरह चवन्नी मिलनेके पहले चवन्नीकी व्यवस्था और उसके दूर दूरके परिणामोकी कल्पना करके सारे सकल्पको ही नष्ट कर डालते है। यह मानना भूल है कि ऐसे वेग अर्वमूर्ख मनुष्योमे ही पैदा होते हैं। वड़े चतुर आदमी भी इसमे फस जाते है और उन्हे इसका पता भी नही रहता। क्योकि यह वेग सुखकी भावना उत्पन्न करनेवाला है, मनोहर स्वप्न जैसा है। एक तरहसे वह आत्मा सत्यसकल्प है—इस कथनको सिद्ध करनेवाला है, क्योकि इसमे काल्पनिक सिद्धि निहित है, और तात्त्विक दृष्टिसे स्थूल सिद्धि या काल्पनिक सिद्धि समान महत्त्वकी है।

परन्तु जिसे स्थूल सिद्धिकी आकाक्षा हो, उसे इस वेगको भी जीतना ही चाहिये।

ये सकल्प-सिद्धिके नियम है। इन नियमोका अनुसरण् किये विना कोई भी सकल्प सिद्ध नही हो सकता। स्वराज्यका संकल्प भी इसी नियमसे सिद्ध होनेवाला है। दूसरी भाषामे इस नियमको समझना हो, तो ऐसा कह सकते हैं कि इष्ट वस्तुको सिद्ध करनेके लिए व्याकुलता होनी चाहिये। जैसे पानीके वाहर पडी हुई मछली पानीके लिए व्याकुल होती है, जिस तरह पतिव्रता स्त्री या माता अत्यन्त वीमार पति या वालकके लिए व्याकुल होती है, जिस तरह भक्त भगवानके दर्शनके लिए व्याकुल होता है, उसी तरह जव स्वराज्यके लिए सारी प्रजामे व्याकुलता उत्पन्न होगी, तव स्वराज्य दूर नही होगा और उसे प्राप्त करनेमे कोई रुकावट नही डाल सकेगा।

नवजीवन, ५-११-१९२२

टिप्पणी

इसमे एक चेतावनी जोड देना मै जरूरी समझता हू।

आत्मा सत्यकाम-सत्यसकल्प है, यह विश्वास इस लेखको लिखनेके वाद भी उत्तरोत्तर वढता गया है। यह जैसे एक अनुभव-सिद्ध श्रद्धा हो गई है, वैसे ही इसके साथ एक दूसरा अनुभव भी लिख देना चाहिये। वह यह है -

प्राणीका सकल्प सिद्ध होता है, इसका अर्थ यह नही है कि वह तत्काल सिद्ध होता है। आज की हुई कामनाके सिद्ध होनेमे पचीस वर्ष या इससे भी अधिक समय निकल जाता है। कोई सकल्प तत्काल सिद्ध होता है, कोई आमके वृक्षकी तरह बहुत वर्षोके बाद फल देता है।

इससे, यह सभव है कि जिस समय वह सकल्प सिद्ध हो, उस समय तक मनुष्यके सकल्प बदल गये हो या वह दूसरी कामनाओका सेवन करने लगा हो। इससे पुराने सकल्पकी सिद्धि सभवत उसे सुखदायक न मालूम हो, बल्कि विपत्तिरूप लगे। स्वय उसने ऐसा सकल्प किया था, इसे वह शायद भूल भी गया हो। इसलिए परिणाम रूपसे जो कुछ आया हो, उसे वह आपत्ति—दुर्दैवरूप भी समझे।

और सकल्प तत्काल सिद्ध हो या कालान्तरमे हो, परन्तु हो सकता है कि जिस रीतिसे वह सिद्ध हो, उस रीतिकी उसने कभी कल्पना भी न की हो। इससे यह सकल्प-सिद्धि उसके लिए सकल्प करनेके प्रायश्चित्तका रूप भी ले सकती है।

कुछ उदाहरणोसे यह स्पष्ट होगा।

मै बम्बईसे साबरमतीके बीच कार्यवश बार बार आता जाता था, परन्तु एक बार भी मै बडोदा नही गया था और वहा जानेकी इच्छा हुआ करती थी। वह इच्छा पूर्ण हुई। परन्तु किस तरह? मेरा एक छोटा भतीजा एक मित्रके यहा बडोदा गया हुआ था। वहा सीढियों परसे गिर जानेसे उसे गहरी चोट आई। उसका साबरमती तार आया! तुरन्त ही हमे जागरण करके बडोदा दौडना पडा, और दूसरे दिन सध्याके पहले ही दौडादौड करके वापिस आना पडा। इस तरह बहुत दिनोका सकल्प सिद्ध तो हुआ, परन्तु उसमे से किसी तरहका सुख प्राप्त नही हुआ। बडोदेमे किसी दर्शनीय स्थानको तो मै देख ही कैसे सकता था?

इसके बहुत वर्ष बाद जल-प्रलयके कारण फिर बडोदा जाना पडा। छह महीने तक वहा रहा। परन्तु छह महीने रहने पर भी बडोदा सुखरूप सिद्ध नही हुआ। क्योकि इस निमित्तसे मुझे बडोदाका दर्शन हो, ऐसी मैने इच्छा नही की थी। पहले तो कामका बहुत ज्यादा बोझ रहा और बादमे बीमारीका बोझ भी बढ गया!

वहुतसे मनुष्य कुवारे होने पर ब्याह करनेकी इच्छा करते हैं, और ब्याह करनेके बाद स्त्रीके त्राससे छुटकारा पानेकी इच्छा करते हैं। परन्तु यह दूसरा सकल्प फले इस बीच ,चार-पाच बच्चे हो जाते है और युवावस्थाका अस्त होने लगता है। परिणामस्वरूप चालीस वर्षके वाद जव विधुर होनेका सकल्प सिद्ध होता है, तब आधे रास्तेमे गृहस्थी टूटनेका दु ख उसे भोगना पडता है।

इस तरह सकल्पकी सिद्धि और सुखका अनुभव ये दोनो वस्तुए स्वतत्र है।

लेखमे कहनेका तात्पर्य यह है कि आत्मा सत्यसकल्प है। परन्तु इसका अर्थ यह नही हैं कि सकल्प-सिद्धिका परिणाम हमेशा सुखदायी ही होता है।

इसमे से यह आदर्श उत्पन्न हुआ है कि कभी सकल्प करने ही नही चाहिये, सकल्प-मात्रका सन्यास करना चाहिये। परन्तु यह आदर्श बलात्कारसे सिद्ध होनेवाली वस्तु नही है। धीरे धीरे क्रमसे यह स्थिति भी आती है। तब तक सकल्पोका उत्तरोत्तर सशोधन साधन-मार्ग कहा जा सकता है।

२०–४–'३६

७

जप

पिछले कुछ महीनोमे जपके विषयमे दो-चार उल्लेख करने योग्य पत्र आये। तीन भाइयोने अपने काम-विकारके शमनके लिए और एकने हस्त-मैथुनके दोषके लिए उसे सफल इलाज पाया। उनमे से एक भाई लिखते है :

"मेरी उम्र पचाससे ऊपर है। फिर भी मै काम-विह्वल रहा करता था। आखिर कुछ दिनके लिए मै एकान्त जगलमे चला गया। सात दिन तक उपवास या फलाहार करके रामनामका अनुष्ठान किया। इतने दिनो तक जमीन पर ही सोया। एक दिन मैने अतीव शातिका अनुभव किया। मुझे निश्चय हो गया कि काम-विकार अब शात हो गया है और मै दूसरा ही व्यक्ति बन गया हू। बस, इतना अनुभव आपसे निवेदन करके समाप्त करता हू।"

यह कहना मुश्किल है कि यह शाति स्थायी रहेगी या कुछ दिनके बाद फिर उसके भग होनेकी सभावना है। लेकिन इसमे शक नही कि जपमे यह शक्ति है और काम-प्रकोप वगैरा कई दोषोके शमनके लिए इससे बढकर दूसरा कोई इलाज नही है। इसके मानी यह भी नही कि जीवनको सात्त्विक और व्यवस्थित बनानेवाले दूसरे सारे प्रयत्नोके अभावमे भी यह उपाय कामयाब हो सकता है। परन्तु इसके बगैर दूसरे प्रयत्नोसे ज्यादा सफलता मिलनेकी सभावना नही है।

एक सज्जन, श्री श्रीनिवास पोद्दार, आज कई दिनोसे गाधीजीको खुली और व्यक्तिगत चिट्ठिया लिखकर यह आग्रह कर रहे है कि हरएक सत्याग्रही पर किसी न किसी नामका जप करनेकी शर्त लगानी चाहिये। गांधीजीको जपमे श्रद्धा होते हुए भी वे उसे सत्याग्रहकी शर्त क्यो नही बना सकते, यह समझानेकी कोशिश वे करते रहे है। लेकिन गाधीजीके समझाने पर भी इन सज्जनका समाधान नही होता।

हरएक मजहबके श्रद्धालु भक्तोने नामजपकी महिमा गाई है और गीतामे भी उसे सबसे श्रेष्ठ यज्ञ बतलाया गया है। दूसरी तरफ तर्कपरायण लोगोको ऐसी बातोमे श्रद्धा नही होती। उन्हे इस विषयमे इतना अविश्वास होता है कि ऐसी सूचना देनेवालोको वे पागल ही मानते है।

इसलिए जीवनमे जपका क्या स्थान है, उसकी किस क्षेत्रमे और कितनी उपयोगिता है, और क्या मर्यादा है—इसका थोडा विचार करना उचित होगा।

इसे मै एक रूपक द्वारा समझानेकी कोशिश करता हू

मान लीजिये कि एक मनुष्यने एक बडा भारी जगल खरीद लिया। उसमे तरह-तरहके असख्य बडे-बडे पेड है और हजारो किस्मके छोटे-छोटे पौधे भी है। इनमे से कुछ उपयोगी तथा रखने लायक और दूसरे कई बेकार और उखाड फेकने लायक है। अनायास खडे हुए इस जगलमे कोई व्यवस्था तो भला कहासे होती? उपयोगी वनस्पतियो और वृक्षोके साथ-साथ अनुपयोगी दरख्त और झुरमुट भी उग आये है। कई जगह अनुपयोगी वनस्पतिया उपयोगी वनस्पतियोको हटा-हटाकर खुद पनप रही है।

उस मनुष्यके सामने यह सवाल खडा हुआ कि इस जगलको किस तरह साफ करके खेतीके लायक बनाया जाय।

पहले तो उसने कामके और निकम्मे, सभी बडे-बडे पेड़ोको ज्योके त्यो रखकर छोटे-छोटे तमाम पौधे काटनेका तरीका आजमाया। उसमे कामके और बेकार पौधोमें कोई भेद करना मुश्किल था, क्योकि सब एक-दूसरेके साथ बुरी तरह उलझे और गुथे हुए थे। इसलिए उसे सब पौधोको एक सिरेसे काट डालना ही आसान मालूम हुआ। उसने प्रतिदिन एक-एक एकड़ जमीन साफ करना शुरू किया। लेकिन कुछ समयके बाद ही उसने देखा कि वह एक तरफ साफ करता हुआ मुश्किलसे जगलके मध्य तक पहुचा था कि इधर साफ किये हुए हिस्सेमे नई-नई वनस्पतिया फिर उगने लगी है और फिर वही पुराना दृश्य नजर आने लगा है। इतना ही

नही, वरन् छोटे-छोटे पौधोके हट जानेके कारण वडे वृक्ष और ज्यादा पनपने लग गये है।

तव उसे अपना तरीका वदलना पडा। अव उसने वडे-वडे पेडो पर कुल्हाडी चलाना शुरू किया। वडे वृक्षो पर ही जव उसने ध्यान दिया, तो उनमे से कुछ उसे वहुत ही कीमती और उपयोगी मालूम हुए और कुछ विलकुल निकम्मे या उखाडे जाने पर उपयोगी सिद्ध होनेवाले। इसलिए उसने इस दूसरे किस्मके पेड काटना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि उसे पैसा भी मिलने लगा और जंगल भी साफ होता हुआ नजर आया। ज्यो-ज्यो एक-एक भाग साफ होता गया, त्यो-त्यो वहासे घास-मोथा और झाडी-झुरमुट हटाकर खेती करना सभव होता गया।

अथवा एक दूसरा रूपक लीजिये। एक वड़ा वस्तुभडार—स्टोररूम—है। उसमे सैकड़ो तरहकी चीजे भरी पडी है। मगर किसी तरहकी व्यवस्था नही है। एक चीज लेने आइये, तो दस चीजे लुढक पडती है। पैरोके नीचे आती है। उन्हे ठोकर लगती है। निकम्मी चीज हाथोमे आती है और कभी कभी आवश्यक चीज कई दिन तक खोजनी पडती है। चीजोकी अपेक्षा कमरा वडा होते हुए भी चीजोकी मानो भीड़-सी लगी रहती है। उनका हिसाव लगाना तो असम्भव-सा मालूम होता है। उदा०, रूमालोमे से कुछ कम्वलोंके नीचे दवे पडे है, कुछ छातोके डेरके नीचे पडे है, कुछ दवाइयोकी आलमारीमे और कुछ पुस्तकोकी आलमारीमे। हरएक जगह कई तरहके रूमाल पड़े है। थर्मामीटरका एक वक्स रूईकी गाठके नीचे पडा हुआ है। दूसरे कोनेमे तेजाव और कागज एक साथ रखे हुए है। ऐसे भडारमे काम करनेवालोको भी क्या किसी तरह सुख और शातिका अनुभव हो सकता है? क्या इसमे कोई शक है कि कुछ दिन उस भडारको व्यवस्थित करनेके लिए ही खर्च करने होगे?

मनुष्यका चित्त भी इसी तरह अच्छे-वुरे सकल्पो और भावनाओका एक घना जगल अथवा भडार है। अधिकाश लोगोका यह जगल या भडार वहुत ही अस्तव्यस्त स्थितिमे होता है। वे जिन

चीजोकी रक्षा और वृद्धि करना चाहते है, वे टिकने नही पाती। और जिन्हे हटाना चाहते हैं, वे वहीकी वही वनी रहती हैं। जिन चीजोको याद रखना चाहते है, उन्हे वार वार कोशिश करने पर भी भूल जाते हैं। जो चीज वे भूलना चाहते है, वह विना प्रयत्नके वरवस याद आती है। वे किसी विचार या सकल्प पर देर तक स्थिर नही रह सकते। किसी सकल्पको पूरा करनेमे वे सफलता अनुभव नही कर सकते। क्योकि उस अव्यवस्थित चित्तमें वे जिस सकल्पको पकडना चाहते है, वह कही दव जाता है और दूसरे सकल्प-विचार चित्तमें चक्कर काटते रहते है। क्या इसमें शक है कि कभी न कभी आवश्यक समय देकर इस भडारको व्यवस्थित किये विना उन्हे सुख और सतोषका अनुभव नही हो सकता?

इसे किस तरह व्यवस्थित किया जाय? तर्कपरायण लोगोका खयाल है कि अगर हम अपने हरएक भाव और सकल्पकी वुनियाद तथा औचित्य और अनौचित्यको वुद्धिसे परख कर निश्चित निर्णय कर लें, तो चित्तमे व्यवस्था आ जायगी। परतु जीवनका अनुभव वताता है कि इसमे न तो प्रकाण्ड विद्वत्ता, न दर्शनोका अध्ययन, न सूक्ष्म तर्क-कुशलता काम आ सकती है और न भावनाकी प्रधानता ही कामयाव हो सकती है। धार्मिक ग्रथोंके नित्य पाठ और अध्ययनसे तथा मदिरो और आश्रमो, मठो या वन-उपवनोमे रहनेसे भी कोई स्थायी लाभ होता नजर नही आता। उलटे आदत पड जाने पर इन वातोके लिए आरभमे जो पवित्रताकी भावना रहती है, वह भी क्षीण हो जाती है। जिस तरह भडारमे कौन-कौनसी और कितनी चीजे है, इसकी फेहरिस्त रखने-भरसे भडारमे व्यवस्था नही आ जाती, सिर्फ उनका हिसाव व्यवस्थित हो जाता है, ठीक उसी तरह इन सव साधनोंसे हमारे चित्तमें कौन-कौनसे भाव भरे हुए है और वे क्यो है, इसका पता तो चलता है, पर इन भावो और सकल्पोकी व्यवस्था नही हो पाती।

इतना होते हुए भी जिस तरह जगलमे वरगद-पीपल जैसे कुछ वडे तगडे पेड होते है और उनकी हिफाजत न करने पर भी

वे बढते चले जाते है, उसी तरह आदमीमे भी एकाध-दो भावनाए या सकल्प इतने प्रबल होते है कि उनका उसे स्पष्ट रूपसे स्मरण रहे या न रहे, वे रात-दिन अपने-आप पनपते ही जाते है। व्यवस्था स्थापित करनेके लिए इनकी तरफ पहले ध्यान देना चाहिये। वे वढाने योग्य है या उखाडकर फेक देने लायक है, इसका विचार करना चाहिये। अगर वे निकम्मे हो तो उन पर कुल्हाडी चलानी चाहिये। और अगर कामके हो, तो उनके आसपासका घासफूस हटाकर उन्हे पनपनेके लिए अनुकूलता कर देनी चाहिये। मतलव यह कि वढाने योग्य सकल्पो और भावोको वढनेकी सुविधा देनेके लिए या तो सामान्य सकल्पों और भावो पर अथवा उखाड़ने योग्य सकल्पो और भावो पर कुल्हाडी चलानी चाहिये ।

जप एक प्रकारकी ऐसी मानसिक कुल्हाडी है। मान लीजिये कि एक आदमीको काम-वासना वहुत सताती है और वह उसका निराकरण करना चाहता है। दूसरे आदमीकी यह प्रवल इच्छा है कि वह अपने इष्टदेवका हृदयमे दर्शन करे। तीसरा मनुष्य वहुत ही दरिद्र है और चाहता है कि खूव मालदार वन जाय। चौथे आदमीका अपने आपको देगकी सेवामे खपा देनेका दृढ सकल्प है। परतु इनमे से हरएक किसी न किसी भीतरी विघ्नके मारे परेशान है। पहलेके पूर्वजन्मके कुसस्कार वार वार उभर आते है और कुसस्कार जाग्रत करनेवाले निमित्त जीवनमे रोज ही पैदा होते रहते है। दूसरेका मन निकम्मा भटकता रहता है और तरह तरहकी स्मृतिया जाग्रत होकर इष्टदेवको भुला देती है। तीसरे और चौथेको अनुकूल वाह्य परिस्थिति नही मिलती। सामाजिक, पारिवारिक आदि अनेक कठिनाइयोके कारण वे अपनी मर्जीके मुताविक काम नही कर पाते।

फिर भी हरएकका सकल्प वलवान है। जिस समय उसे उसका स्मरण होता है, उस समय तो वह प्रधान होता ही है, पर जव वह दूसरे कामोमे व्यस्त रहता है तव भी अगर उसका चित्त टटोला जाय, तो वही सकल्प सवमे ज्यादा जोरदार मालूम होगा।

हरएकके सामने समस्या यह है कि उसका सकल्प सिद्ध कैसे हो? वुद्धिसे जो कुछ वाहरी उपाय सूझ पडते है, उन्हे तो हरएक

आजमाता ही है, फिर भी अकसर निराशाके कीचडमे फस जाता है। उसे जरूरत किसी ऐसे साधनकी है, जिसमे वाह्य परिस्थिति वदल देनेकी और चित्तको निर्धारित सकल्प पर स्थिर रखनेकी शक्ति हो। शास्त्रोके अनुसार अखण्ड नाम-स्मरण ऐसा साधन है। उसके पीछे एक तो अनुभवगम्य आध्यात्मिक आधार है और दूसरा तर्कसिद्ध वौद्धिक आधार है। अनुभवगम्य आधार यह है कि आत्मा सत्यकाम-सत्यसकल्प है। इसीकी दूसरे शब्दोमे यह व्याख्या है कि परमात्मा सत्यसकल्पका दाता है। सरल भापामे इसका मतलव यह है कि कोई भी वलवान सकल्प सिद्ध होकर ही रहता है। उसकी सिद्धि प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर प्रयत्नों पर जितनी निर्भर है उतनी ही, वल्कि उससे भी ज्यादा, चैतन्यकी अप्रत्यक्ष इन्द्रियातीत शक्ति पर भी निर्भर है। यह इन्द्रियातीत शक्ति सिर्फ सकल्पके अनुकूल वुद्धि ही नही देती, वल्कि किसी अगम्य रीतिसे वाह्य जगत्मे भी अनुकूल परिस्थिति निर्माण कर देती है।

जगलके पेडोको नही मालूम कि वे आकाशके वादलोको किस तरह अपनी ओर खीच लेते है और उन्हे वरसनेके लिए प्रेरित करते है। पर वे प्यास जरूर महसूस करने लगते हैं और जव वारिश होती है तव अपनी कामना-सिद्धिका सुख भी अवश्य अनुभव करते है।

इसी तरह मनुष्यको यह पता नही होता कि वाहरी परिस्थिति ऐसी अनुकूल कैसे वन जायगी, जिससे वह अपने मनकी कामना पूरी कर सकेगा। कभी-कभी तो चारो तरफ अधेरा ही अधेरा नजर आता है। लेकिन यदि उसका सकल्प तीव्र और दृढ हो, तो न केवल उसके अपने पुरुपार्थकी वदौलत किन्तु दूसरे कई कारणोकी सहायतासे भी वह परिस्थितिको आहिस्ता-आहिस्ता अनुकूल होती हुई देखता है। जिस किसीने अपने जीवनमे प्रतिकूल परिस्थितिमे भी सफलता प्राप्त की होगी वह अगर आत्म-निरीक्षण करेगा, तो उसे इस कथनकी सत्यताकी प्रतीति जरूर मिलेगी। सभव है कि वह इसका कोई वैज्ञानिक कारण न जानता हो और जव जव अनुकूल परिस्थिति पैदा हुई हो तव तव उसने उसे ईश्वर-कृपा, दैवयोग, सौभाग्य या ग्रहोकी अनुकूलता माना हो।

अपने बलवान सकल्पको निरन्तर जाग्रत रखने और उसे धक्के देते रहनेका सबसे बढिया उपाय उसका सतत स्मरण रखना है। परतु किसी सकल्पकी व्याख्या खासी बडी हो जायगी और इतनी लबी-चौडी व्याख्याका निरतर स्मरण करते रहना सुविधाजनक नही है। इसलिए जिस तरह लम्बे भावको सक्षेपमे व्यक्त करनेके लिए हम 'साकेतिक शब्द' (कोड-वर्ड) गढ लेते है, उसी तरह अपने सकल्पके लिए कोई छोटा-सा साकेतिक शब्द बना लेनेसे बहुत सुविधा होती है। ॐ, हरि, राम, कृष्ण, खुदा, अल्लाह आदि इसी प्रकारके साकेतिक शब्द है। इनका जप करना हरएकके लिए अपने सकल्पको पुष्ट करनेका वैज्ञानिक साधन है। यह समझना गलत है कि जब कोई मनुष्य 'राम-नाम'का जप करता है, तब वह 'भगवान'का ही स्मरण करता है। उसके जपका वैज्ञानिक अर्थ केवल इतना ही है कि वह अपने मनके सबसे बलवान शुभ या अशुभ सकल्पको पुष्ट करता है। जब कोई काम-पीडित मनुष्य काम-विकारसे छूटनेके लिए 'रामनाम' जपता है, तब यह मानना चाहिये कि वह 'निष्कामता, निष्कामता'का जप कर रहा है। जब कोई धनेच्छु मनुष्य राम-राम रटने लगे, तब समझना चाहिये कि वह धनका ही जप कर रहा है। दोनोके बाह्य प्रयत्न भी उसी सकल्पको पूरा करनेके लिए होते है। यही बात दूसरे सकल्पोके लिए भी लागू होती है।

लेकिन चूकि भक्तोने जपके इन शब्दोको वास्तवमे आध्यात्मिक साधनाका अग बनाया और माना है, इसलिए जब कोई आदमी धनकी या दूसरी किसी सासारिक कामनाके लिए नाम-स्मरण करता है तब वे बिगड पडते है। कबीरने इसी तरह बिगडकर कहा है.

"माला तो करमे फिरे, जीभ फिरे मुख माहि।
मनुवा तो दस दिश फिरे, यह तो सुमिरन नाहि।।

और दूसरे किसीने कहावत चला दी है कि 'मुखमें राम बगलमें छूरी'। वास्तवमे यह असगति केवल भक्तकी दृष्टिसे ही है। भक्त 'राम' शब्दका सकेत अपने विशेष अभिप्रायसे करता है। मगर बगलमे छूरी रखनेवाले या दूसरे व्यक्तियोके दिलमे कुछ और ही अभिप्राय होता है।

साराश, नाम-स्मरण या जपयोग सकल्प-सिद्धिका एक वैज्ञानिक साधन है। परतु मनुष्य जिस सकल्पका सकेत करके जप करता है, उसीको सिद्ध कर सकता है। दस आदमी एक ही नामका जप करे, तो भी यह न मानना चाहिये कि वे सब एक ही सकल्पसे प्रेरित है। जो मत्र किसी निश्चित हेतुसे बनाये गये हैं और सिर्फ उसी सकल्पकी सिद्धिके उद्देश्यसे अपनाये जाते हैं, वे अपवादरूप है।

दूसरे, नाम-स्मरणकी सफलताके लिए उसका अखड जप करनेका अभ्यास जरूरी है। किसी एक निश्चित समय पर जप करके बाकीके समयमे उसे भूल जानेसे न तो जपमें सफलता मिलती है और न सकल्प ही सिद्ध होता है।

तीसरे, जो नाम जपा जाता है, उसे हमने किस सकल्पका वाचक माना है, इसका हमे स्पष्ट खयाल होना चाहिये। दिलमे अगर अनेक सकल्पोकी खिचडी हो और उनमे से किसी एकको भी मुख्य माननेमे मनुष्य अपने आपको असमर्थ पाता हो, तो उसे जपका क्या लाभ हुआ, इसका ठीक-ठीक पता भी शायद ही चलेगा। वह जप सर्वथा निष्फल तो नहीं होता, लेकिन उसकी सिद्धि कुछ अव्यवस्थित जरूर रहेगी। कभी कभी यह भी अनुभव होगा कि सकल्पकी पूर्ति होते होते उस सकल्प परसे दिल उचट जाता है और कोई दूसरा ही सकल्प दिल पर काबू कर लेता है।

चौथी बात, जपका और पुरुष-प्रयत्नका विरोध नही है। जप सकल्पका स्मरण दिलानेवाला साधन है। स्मरणके निरतर कायम रहनेसे दिमाग हमेशा उसकी सिद्धिके उपायोकी तलाशमे रहता है। जब कोई उपाय खयालमे आ जाता है, तब उसे आजमाना स्वाभाविक होता है। दूसरी तरफसे जिस चैतन्य-शक्तिसे वह सकल्प उत्पन्न होता है, वह शक्ति स्मरणके कारण जिस मात्रामे एकाग्र होती है, उस मात्रामे बाह्य जगत्को भी वह अनुकूल बनानेमें लगी रहती है।

जहा तक हो सके, जप मन ही मन—यानी बिना जीभ हिलाये ही—करना अच्छा है। जपके शब्द भी निश्चित ही होने चाहिये। कभी एक और कभी दूसरे शब्दोका प्रयोग करना ठीक नही

है। यह चचल और अस्थिर चित्तका लक्षण है। वचपनमे जिस मत्रका अभ्यास या श्रद्धा हो गई हो, वह अधिक अनुकूल होता है। उसके अभावमे किसी एक मत्रका निश्चय कर लेना चाहिये। जव हम स्वय निश्चय न कर सके, तो किसी श्रद्धेय व्यक्तिसे निश्चय करा लेना चाहिये। दूसरेसे मत्र लेनेका यह भी एक अभिप्राय है।

एक निश्चित समयके लिए स्थिरासन होकर एकान्तमे चित्तकी धारणा द्वारा जप किया जाता है, तव उसे विशेष साधना अथवा योगाभ्यास कहते है। यह एक अलग चीज है। उसकी चर्चा करना यहा जरूरी नही है।

इस तरह सभी प्रकारके लोगोके लिए जप उपयोगी हो सकता है। आजकलके सार्वजनिक आन्दोलनोमे उसके आधुनिक स्वरूपको नारा (घोष या स्लोगन) कहते है। किसी एक ध्येय पर सारी जनताको एकाग्र करनेके लिए आन्दोलनके सचालक अपना 'स्लोगन' या 'नारा' वना लेते है। इस जमानेमे यह एक फैशन-सी हो गई है। वास्तवमे यह जपयोगका ही एक उदाहरण है। उसकी तुलना राम-नामकी उस धुनके साथ की जा सकती है, जो वडे समूहोमे गाई जाती है। ऐसी धुनका गान अकसर निश्चित सकेतसे रहित होता है और इसलिए सात्त्विक मनोरजनसे अधिक परिणामदायी नही होता। लेकिन निश्चित अर्थके द्योतक होनेके कारण 'स्लोगन' अपने अल्प जीवनकालमे अपनी सामर्थ्य स्थूल रूपमे प्रगट करते है और जपकी महिमा तथा उपयोगिताका प्रमाण पेश करते है। ये 'स्लोगन' प्राय अल्पजीवी होते है, इसलिए उनकी सिद्धि भी अल्पजीवी होती है।

सर्वोदय, अक्तूवर, १९४१

८

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्[1]

भाई पाण्डुरग देशपाण्डेने शरद्-अकमे 'कवयोऽप्यत्र मोहिता'[2] इस शीर्षकके नीचे कुछ नात्त्विक शकाये उठाई है। यह वस्तु ही ऐसी है कि इसका सक्षिप्त लेखोसे या वहुत वार वडे ग्रथोसे भी निवारण नही हो पाता है। इसके लिए तो

'तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।'[3]

यही मार्ग है। फिर भी दो चार प्रश्नोका खुलासा भाई देशपाण्डे तथा अन्य विद्यार्थी ववुओको उपयोगी होगा, ऐसा समझकर उनकी चर्चा यहा करता हू:

"सदाचार किसने निश्चित किया है", यह कहना सर्वथा शक्य नही है। कई वार तो भौगोलिक परिस्थितियो, ऐतिहासिक घटनाओ, सामाजिक आवश्यकताओ इत्यादिके कारण सदाचारके नियम अमुक स्वरूप ग्रहण करते है। ये सव नियम हमेशा प्राणीमात्रके कल्याणके लिए ही होते है, ऐसा नही कहा जा सकता; तथा प्रत्येक नियम सनातन कालके लिए स्वीकार करने योग्य है, ऐसा भी नही कहा जा सकता। सदाचारकी भावनाओका भी देशकालानुसार सकोच और विकास हुआ है।

परतु "सदाचारके कानून कौन वनावे", यह वताया जा सकता है। जगत्के प्राणीमात्रके कल्याणके लिए (अर्थात् शातियुक्त सुखके लिए) सदाचारके कानून है, इसलिए यह वात स्पष्ट है कि

१. . . . जिसे जानकर तू पापसे छूटेगा। गीता, ४–१६

२. . . . इस विषयमे पण्डितोको भी परेशानी हुई है। गीता, ४–१६

३. तू सेवा करके, नम्रभावसे प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त कर। गीता, ४–३४

जो प्राणीमात्रका मित्र हो, उसे ही सदाचारके कानून निश्चित करनेका अधिकार है। जिसके मनमे किसी व्यक्ति या (छोटे-बडे) वर्गके लिए पक्षपात या वैरभावकी वृत्ति ही न हो, वही सदाचारके कानून बनावे यह उचित है, मेरे खयालसे ऐसा स्वीकार करनेमे किसीको आपत्ति न होगी।

जन्म, सामाजिक परिस्थिति और सस्कारोके कारण जिस वातावरणमे मनुष्य पल-पुसकर वडा हुआ है, उस वातावरणके अनुकूल (और उससे स्वाभाविक रूपमे प्राप्त होनेवाला) नित्य-नैमित्तिक कर्म भक्तिभावसे, दृढतासे, अपनी सर्व भोगेच्छाओ और अनावश्यक भोगोका त्याग करके, अपनी सर्व शक्तियो और भावनाओके शुभ विकासकी दृष्टिसे, विवेकसहित—जितने अशमे खुद निष्कामता समझ सकता हो उतने अशमे—निष्काम भावसे किया हुआ हो, तो वह मनुष्यको ऊचेसे ऊचा पद प्राप्त करानेमे समर्थ है। इस दशाके लिए पुरुषोत्तम-पद, सच्चिदानन्द-पद, कैवल्य-पद, निर्वाण, जीवन्मुक्ति या दु खनाश जैसे शब्दोमे से किस शब्दका प्रयोग किया जाय, यह महत्त्वपूर्ण वात नही है।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर ।'[४] तथा

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ।'[५] उसी प्रकार

'कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय .।'[६]

इसमे से मै ऐसा अर्थ करता हू।

(कर्म और धर्म शब्दोका मै यहा पर्यायरूपमे उपयोग करता हू। जो कर्म धर्मसे आवश्यक नही होता, वह निष्काम भावसे नही हो सकता।)

---

४ स्वय अपने कर्ममे रत रहकर मनुष्य सनिद्धि प्राप्त करता है। गीता, १८–४५

५ उसे स्वकर्मसे पूजकर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। गीता, १८–४६

६ जनकादिकने कर्मसे ही परम सिद्धि प्राप्त की। गीता, ३–२०

"मनुष्यका अतिम ध्येय आत्म-साक्षात्कार है", यह विधान भी मुझे अधूरा लगता है। इस दृष्टिसे आध्यात्मिक मार्गकी ओर जो झुकाव होता है, वह बहुत वांछनीय नही लगता। मैं तो यह कहता हू कि मनुष्यका अतिम ध्येय (अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु) चित्तशुद्धि है। स्वरूपनिष्ठा इसका स्वाभाविक फल है। (साक्षात्कार—दर्शन, अनुभव ये शब्द मेरे हेतुके लिए यहां भ्रामक मालूम होते है, इसलिए मैं स्वरूपनिष्ठा शब्दका उपयोग करता हूं।) इसके लिए बादमें विशेष पुरुषार्थ करनेकी जरूरत नही रहती।

"ईश्वरकी लीलाके मार्ग अनत है। तो फिर अहिसा, सत्य या ब्रह्मचर्य इत्यादि एकागी तत्त्व लेकर उनमे ही ईश्वरको बांधनेका क्यो प्रयत्न करना चाहिये?" पुण्य-पाप, देव-दानव सबमे ईश्वर समान रूपसे है यह बात ठीक है।

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय.।'[७]

परतु इस वस्तुको केवल बुद्धिसे स्वीकार करने मात्रसे शाति नही मिलती; इस सत्यमे निष्ठा हो तभी शाति मिलती है। और इस शातिका मार्ग तो यम-नियमोके द्वारा ही प्राप्त होता है।

'ये भजति तु मा भक्त्या मयि ते तेषु चाऽप्यहम्।'[८]

और एक सतके कहे अनुसार इन्द्रिय-निग्रह भजनका शरीर है और एकाग्रता भजनकी आत्मा है।

आत्मसमर्पण, ब्रह्ममे लय, शक्तिकी उपासना, भावना (abstract idea) का दास्य इत्यादि सबधी विचारोके पीछे मै अनेक प्रकारके वादो (theories) और कल्पनाओके स्तर देखता हू। इसलिए इस विषयमे यहा कुछ भी लिखना और अधिक गडबडी बढानेवाला होगा।

परतु इन भाईसे तथा दूसरे विद्यार्थियोसे भी मै नम्रतापूर्वक इतना कह सकता हूं कि अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह

---

७ सब प्राणियोमे मैं समभावसे रहता हू। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नही है। गीता, ९–२९

८ लेकिन जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते है, वे मुझमें और मैं उनमे हू। गीता, ९–२९

इत्यादि यमों तथा तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, शौच इत्यादि नियमों और मैत्री, करुणा, (पूज्य जनोके विषयमे) मुदिता और (हठी पापियोके प्रति) उपेक्षा, इन भावनाओके अनुशीलनके विना शातिकी, एक तुच्छ प्राणीका किसी भी कार्यक्षेत्रमे हित करनेकी या अपनी शुभ शक्तियोका विकास करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। मनुष्यको दुर्बलता अच्छी न लगे यह इष्ट है, परतु उसकी शक्तिकी उपासना हमेशा शुभ ही होती है ऐसा नही। सारे जगत्को पादाक्रान्त करनेकी इच्छा रखनेवाले सम्राट् भी शक्तिकी ही उपासना करते है और सारे जगत्का सद्धर्म द्वारा उद्धार करनेकी इच्छा रखनेवाले बुद्धने भी शक्तिकी ही उपासना की थी। किस शक्तिका विकास इष्ट है, इसका विवेकबुद्धिसे विचार करने पर ही यह अपने आप समझमे आ जायगा कि उसके लिए यम-नियमके अनुशीलन और भावना-शुद्धिका कितना महत्त्व है। 'सत्त्वाद् ब्रह्मदर्शनम्'[१] यह श्रुति व्यर्थ नही है।

अनेक प्रकारके तत्त्वज्ञानों, वाद-विवादो, योगकी रूढियो और कल्पनाओकी मायामे जीव फसा हुआ है। परमेश्वरकी साक्षात् भौतिक मायाकी अपेक्षा शास्त्रियो और पडितोकी वाङ्मायाका जाल विशेष बलवान होता है। इसमे से किस पर श्रद्धा रखी जाय और किस पर न रखी जाय? श्रद्धेय गुरु या शास्त्र किसे समझा जाय? इसके उत्तरका आधार सारासारका निर्णय करनेवाली हरएककी विवेकशक्तिके विकास पर है। फिर भी जो इतनी सूचना स्वीकार करेगा, उसकी अवनति तो कभी नही होगी, ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। वह सूचना यह है कि जिन उपदेशोमे इन्द्रिय-सयम, मनोनिग्रह, शुभ भावनाओका विकास, माता-पिता और गुरुकी भक्ति, यम और नियमके प्रति पूर्ण आदरभाव न हो, वे उपदेश विद्वत्ता, योगारूढता या ज्ञानमे चाहे जितनी प्रसिद्धि पाये हुए पुरुषोकी ओरसे किये गये हो, तो भी उन्हे त्याज्य समझना चाहिये।

---

१ सत्त्व गुणके विकाससे ब्रह्मदर्शन होता है।

भक्ति वा ज्ञानमालम्ब्य स्त्रीद्रव्यरसलोलुपा ।
पापे प्रवर्तमाना स्यु कार्यस्तेषां न सगम ।।[१०]

(शिक्षापत्री, २८)

जो कोणी ज्ञान बोधी। समूळ अविद्या छेदी।
इन्द्रियदमन प्रतिपादी। तो सद्गुरु जाणावा।।

ज्ञानवैराग्य आणी भजन। स्वधर्म कर्म साधन।
कथानिरूपण, श्रवण, मनन। नीति, न्याय, मर्यादा।।
या मधे एक उणे असे। तेणे ते विलक्षण दिसे।
म्हणोनी सर्व ही विलसे। सद्गुरुपाशी।।
सदुपासना आणि सत्कर्म। सत्क्रिया आणि स्वधर्म।
सत्सग आणि नित्यनेम। निरतर।।
ऐसे हे अवघेचि मिळे। तरीच विमळ ज्ञान निवळे।
नाही तरी पापाड सचरे बळे। समुदायी।।[११]

(दासबोध, ५–२३)

मैं इन सब वचनोको यहा मान लेनेके लिए उद्धृत नही करता हू। परतु विवेकसे विचार करने पर ये ही वचन श्रद्धेय मालूम होते है या नही, इसे जाचनेके लिए उद्धृत करता हू। सब प्रकारकी दलीलोंसे

---

१०. भक्ति अथवा ज्ञानका बहाना बताकर जो लोग स्त्री, द्रव्य या रसमे लुब्ध होकर पापमें प्रवृत्त होते है, उनका सग नही करना चाहिये।

११. जो ज्ञान देता है, अज्ञानका जडसे नाश करता है, इन्द्रिय-दमनका समर्थन करता है, उसे सद्गुरु जानना चाहिये। . . . ज्ञान, वैराग्य, भजन, स्वधर्माचरण, साधना, कथानिरूपण, श्रवण, मनन, नीति, न्याय, मर्यादा इन सबमे से यदि एक भी कम हो, तो पूर्णतामे उतनी त्रुटि समझना चाहिये, इसलिए सद्गुरुमे ये सभी गुण होने चाहिये। . . . सदुपासना और सत्कर्म, सत्क्रिया और स्वधर्म, सत्सग और नित्य नियमितता ये सब इकट्ठे हो तभी हृदयमें शोभा पाते है, नही तो समाजमे जरूर पाखण्ड फैलता है।

'ईश्वरके सिवा दूसरा मौलिक (absolute) तत्त्व नही है' ऐसा सिद्ध करनेवाला विशेप शाति प्राप्त करेगा और दूसरोको भी करायेगा, या इस तत्त्वके वाद-विवादमे न पड कर सन्मार्ग पर चलनेसे और दैवी सपत्तिके विकाससे प्राप्त होनेवाला दलीलोसे परे जो ज्ञान है उसे अपने हृदयमे प्राप्त करनेवाला विशेष शाति प्राप्त करेगा और दूसरोको करायेगा —इस पर विचार करनेका काम मैं पाठको पर ही छोडता हू।

सावरमती, अप्रैल, १९२३

९

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

कुछ दिन पहले लोकसेवकोका एक छोटासा दल वर्धामे इकट्ठा हुआ था। जो व्यक्ति अपना जीवन जनता-जनार्दनकी सेवामे विताना चाहता हो, वह निजी परिग्रह रखे या न रखे, ऐसा एक प्रश्न वहा उपस्थित हुआ था। बहुतसे भाइयोंकी ऐसी राय मालूम हुई कि अगर अक्षरश न हो सके तो कम-से-कम जितना हो सके उतना तो लोकसेवकको अवश्य अपरिग्रही होना चाहिये। उसका परिग्रह ऐसा और इतना अधिक न होना चाहिये कि उसके कारण उसकी सेवामे किसी तरहकी वाधा पैदा हो और उसे अपने परिग्रहकी रक्षा तथा उसकी वृद्धिकी ओर ध्यान देना पडे।

यह तो हुई व्यावहारिक दृष्टि। आध्यात्मिक दृष्टिसे भी नव भाइयोका यही अभिप्राय था कि ईश्वरके सहारे रहनेवाला लोक-सेवक किसी तरहका परिग्रह नही रख सकता। अपना या अपने वाल-वच्चोका भविष्यमे क्या होगा, इसकी चिन्ता जिसने भगवान पर ही छोड दी है, उसे परिग्रह रखनेसे क्या मतलव?

ये सव विचार मुझे भी स्वीकार है। लेकिन इसके वाद और जो वाते हुई, उन परसे मुझे इन विचारोमे कुछ सशोधन करनेकी जरूरत मालूम होती है।

जनताका सेवक ब्रह्मचारी होना चाहिये या नही, यह एक दूसरा प्रश्न विचारार्थ रखा गया था। प्राय सब भाइयोकी इस विषय पर यही सम्मति दिखाई दी कि इस व्रतको हम अनिवार्य नही बना सकते। आदर्शके रूपमे यह ठीक है, लेकिन इसे अनिवार्य कर देनेसे इसका पालन नही हो सकता। उलटा, उससे दभ और अनाचार ही बढता है। इसलिए इस विषयमे प्रत्येक सेवकको अपनी शक्तिके अनुसार अपना प्रगतिक्रम निश्चित करनेकी छूट दे देनी चाहिये।

इन बातोको भी मै मानता हू। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो व्रतोमे यदि क्रम निश्चित करना हो, तो हमे पहले ब्रह्मचर्यकी ओर बढना चाहिये या अपरिग्रहकी ओर ?

इन बातोकी चर्चा यहा जिस ढगसे हुई, उससे मुझे ऐसा लगा कि बहुतेरे भाइयोका जोर जितना अपरिग्रहकी ओर दीखता था, उतना ब्रह्मचर्यकी ओर नही दीखता था।

यदि यह सच हो तो यह विचारकी भूल है ऐसा मेरा नम्र मन्तव्य है। यह सच है कि परिग्रह छोडनेकी अपेक्षा ब्रह्मचर्य रखना ज्यादा मुश्किल काम है। इसमें कोई आश्चर्य लगने जैसा भी नही है। परिग्रह छोडना स्थूल त्याग है, ब्रह्मचर्य पालना सूक्ष्म त्याग है। चोर या डाकू बलात्कारसे हमे अपरिग्रही बना सकता है। इस प्रकारकी समाज-रचना भी बनाई जा सकती है, जिससे धीरे-धीरे समाजका परिग्रह कम होता जाय और थोडे लोगोको छोडकर शेष सब अकिंचन बन जाय। किन्तु कोई हमे बलात्कारसे स्थिरवीर्य नही कर सकता। इसलिए ब्रह्मचर्यके मार्गमे बडी कठिनाइया हैं, इसे मै स्वीकार करता हू।

परतु इस बातका भी हमे विचार करना चाहिये कि बिना ब्रह्मचर्यके परिग्रह-त्याग अशत. एक वृथा चेष्टा है, और समाज-हितकी दृष्टिमे हानिकर भी है। जो मनुष्य एक ओर तो सन्तान-वृद्धि किया करता है और दूसरी ओर परिग्रह छोड बैठता है, उसका अपरिग्रह अन्त तक नही टिकेगा, और अगर टिका भी तो न तो उसकी या उसकी सततिकी उस अपरिग्रहसे विशेष आध्यात्मिक उन्नति होगी और न उसकी ईश्वर-श्रद्धा ही अन्त तक टिकेगी और उसे शाति देगी।

मनुष्यका प्रथम और विशेष महत्त्वका परिग्रह तो उसका परिवार है; और यह तो चेतन परिग्रह है। वह जव तक नही छूट सकता तव तक केवल जड और आर्थिक परिग्रहके त्यागसे क्या लाभ हो सकता है?

हमे यह वात न भूलनी चाहिये कि जनताका सेवक जनताका ही एक अश है। इसलिए जो नियम सर्वसाधारणके लिए हानिकर हो, वह जनताके सेवकके लिए भी हानिकर ही होगा। क्या हम सर्व-साधारणको यह सलाह दे सकते है कि तुम सतति-वृद्धि तो करो, किन्तु अर्थकी वृद्धि और सरक्षण करनेकी कोई आवश्यकता नही? कुछ विद्वानोकी यह राय हो, तो भी कम-से-कम मानव-समाजकी आजकी परिस्थितिमे न तो हम समाजके सामने ऐसा आदर्श रख सकते है और न उसकी स्वीकृतिकी आशा कर सकते है। उलटा यह कहा जा सकता है कि आज हमारी प्रधान चिन्ता यह है कि हम कोई ऐसा मार्ग निकालें, जिससे निर्धनोको अधिक धनप्राप्ति हो, ताकि वे कुछ तो अधिक सुख-सौभाग्य प्राप्त कर सके। हमारे चरखा-सघ, ग्राम-उद्योग-सघ, हरिजन-सेवक-सघ और हमारा अन्य रचनात्मक कार्यक्रम—सभीका प्राय एक ही ध्येय है कि गरीबोका आर्थिक अभ्युदय किया जाय। जनताको आर्थिक सुख पहुचाये विना हम उसकी आध्यात्मिक उन्नति नही कर सकेगे।

यही सिद्धान्त जनताके सेवकोके लिए भी है। यदि उन्हे परि-वार रखना और वढाना स्वीकार है, तो स्पष्ट है कि वे परिग्रह-त्यागकी दिशामे अमुक मर्यादा तक ही वढ सकेगे। कुछ-न-कुछ परिग्रह करना, रखना और उसे वढाना उनके लिए अनिवार्य ही होगा।

अव दूसरा एक सवाल यह खडा होता है कि अगर लोकसेवक सपरिवार है, और आज वह अपने भीतर ब्रह्मचर्य-पालनकी शक्ति नही पाता, तो क्या उसे लोकसेवाका कार्य छोड देना चाहिये? या धनो-पार्जनमे लगकर अपना परिग्रह वढाना चाहिये?

मेरे कहनेका मतलव यह नही है। मै तो देशके सेवकोका ध्यान इस वातकी ओर खीचना चाहता हू कि स्थूल परिग्रहका त्याग सिद्ध करनेसे पूर्व उन्हे ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता समझ लेनी चाहिये और

उस दिशामें आगे बढ़नेका कोई-न-कोई क्रम सोच लेना चाहिये तथा प्रयत्न आरंभ कर देना चाहिये।

मेरी यह मान्यता है कि विद्याकी ही उपासना करनेका आदर्श सामने रखने और उस ओर स्वाभाविक अभिरुचि होने पर भी ब्राह्मण वर्णकी हमारे देशमे जो अवनति हुई है और ब्राह्मणोका बहुत बडा भाग केवल नाममात्रका ही ब्राह्मण रह गया है, इसका प्रधान कारण यही है कि ब्राह्मण धर्ममे जितना अपरिग्रह पर जोर दिया गया उतना ब्रह्मचर्य पर नही दिया गया। दूसरे, अपरिग्रहका अर्थ केवल धन-सग्रह न करना ही नही समझा जाता था, बल्कि धन-निर्माण न करना भी माना जाता था। इसके कारण ब्राह्मण-समाज अत्यन्त परावलबी और शेष समाजके लिए भार-सा बन गया। पर यदि इसके साथ ही उसने कुछ ब्रह्मचर्य-पालनका नियम भी बनाया होता, तो आजकी तरह उच्च सस्कारकी परंपरा ब्राह्मण वर्ण खो न बैठता। परतु ऐसे किसी नियमके अभावमें बढती हुई ब्राह्मण-प्रजाके लिए शेष समाजसे पोषण पाना अधिकाधिक कठिन बनता गया और इस कारणसे उसकी उच्च सस्कार प्राप्त करनेकी तथा उनका पोषण करनेकी अनुकूलता क्रमश घटती गई। अगर देशसेवक भी केवल अपरिग्रह पर जोर देंगे और ब्रह्मचर्यको कठिन समझकर उसमे ढिलाई करेंगे, तो उनकी सन्ततिकी भी वही दशा होगी जो उन ब्राह्मणोकी सन्ततिकी हुई।

फिर, अपरिग्रहका अर्थ धनका असग्रह इतना ही करना चाहिये। सेवक ब्रह्मचारी हो या भोगी, उसके अपरिग्रहका मतलब यह न होना चाहिये कि वह कुछ भी अर्थोत्पत्ति न करे या स्वाश्रयी भी न हो। वस्तुत उसे यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्यका — चाहे वह अपनेको जनताका एक साधारण व्यक्ति मानता हो या उसका सेवक मानता हो — कर्तव्य है कि वह कुछ नया धन निर्माण करे; और अपना जो भी काम वह आज दूसरोके हाथसे कराता है, उसे खुद करने लग जाय, और इस तरह धनके अपव्ययको भी रोक दे।

हरिजनसेवक, २८–१०–'३४

१०

गलत तितिक्षा[1]

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदिको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करना एक प्रकारकी सिद्धि है। भगवद्‌गीताके उपदेशके आरंभमें ही कहा गया है कि

> मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
> आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
> यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
> समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥[2]
>
> (गीता, २–१४, १५)

---

१ सन् १९३५में जब गांधीजीने ग्राम-रचनाके कार्यको तेजीसे आगे बढ़ाया, उस वक्त इस बारेमें चेतावनी देनेके लिए मैंने दो लेख लिखे थे कि हम गांवोंके गलत आदर्शों और दोषोंकी पूजामें न पड़ें। उन्हें सुधार कर ये दो प्रकरण बनाये गये हैं। गांवोंमें अनेक उद्योग चल सकते हैं। अनेक उद्योगोंका प्राथमिक ज्ञान रखनेवाले कारीगर हर गांवमें हैं। लेकिन यह बात ध्यानमें रखना जरूरी है कि उनमें से बहुतेरे अनपढ़, अनगढ़ और आलसी भी हो गये हैं। उनकी सेवा हमें करनी हो तो उनकी कारीगरीमें हमें सुधार करनेकी जरूरत पड़ेगी ही। उनके जीवन और घरोंमें भी सुधार करनेकी जरूरत है। गांवोंमें शहरोंकी चीजें ले जाकर उन्हें बंबईके छोटे छोटे उपनगर बनाना एक सिरेकी गलती होगी। ग्रामोद्योगके नाम पर वे जैसे हैं वैसे ही उन्हें रखकर उनका पोषण करना दूसरे सिरेकी गलती होगी। हमारा ध्येय यह होना चाहिये कि गांवोंमें जो चीजें बनें, वे गांवोंमें मिलनेवाले साधनोंसे ही यथाशक्ति मेहनत करके व बुद्धि लगाकर सुन्दर बनाई जायं। जो असुविधा या अड़चन गांवोंके साधनोंसे दूर हो सकती हो, उसे गरीबी या ज्ञानयुक्त त्यागको छोड़कर दूसरे किसी कारणसे दूर

इस प्रकारकी तितिक्षा केवल सामान्य व्यायाम आदिके द्वारा शरीरको तालीम देनेसे प्राप्त होती है, ऐसा हमेशा देखनेमे नही आता। यह भी नही कि हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले मनुष्यमें वह पाई जाती है और दुबले-पतलेमें नही पाई जाती, या दरिद्रमे वह रहती है और धनिकमे नही रहती। कभी-कभी नाजुक गरीब भी देखे जाते है और कष्ट सहनेकी शक्तिवाले धनिक भी पाये जाते है। लेकिन यह कह सकते है कि गरीब लोगोको मजबूरन ये कठिनाइयां सहन करनेकी आदत बना लेनी पडती है, और इस कारण उनमें अधिक तितिक्षा रहती है। मन सहन न कर सकता हो तो भी शरीरको सहन किये सिवा कोई चारा नही रहता।

परतु जिस तरह दान, दया, तप आदि सद्गुणोंके बारेमे गीतामे कहा गया है, उसी तरह तितिक्षाके विषयमे भी कहा जा सकता है कि वह भी सात्त्विक (ज्ञानयुक्त), राजस (लोभसे प्रेरित) और तामस (जडता, आलस्य और प्रमादके कारण बढी हुई) —तीन प्रकारकी हो सकती है। और जिस तरह हमारी प्रजामें दूसरे बहुतसे गुणोंके बारेमें हुआ है, उसी तरह तितिक्षाके बारेमे भी हुआ है। अर्थात् तितिक्षाके नाम पर हमने जडता, आलस्य और प्रमादको ही पोसा है।

जब हम यह मान लेते है कि एक वृत्ति अच्छी है, तब स्वाभाविक ही उससे चिपके रहनेका हमारा आग्रह बन जाता है, और उसका विकास करनेके लिए कृत्रिम उपाय काममे लेनेकी प्रवृत्ति होती है। और सभव है जिसमे यह गुण न हो या कम हो, उसके प्रति हमारे मनमें अनादर पैदा हो या समभाव न रहे। और उसके मूलमें यदि लोभ, जडता, अज्ञान आदि हो, तो उस वृत्तिको बढानेका प्रयत्न जनताको आगे ले जानेके बदले पीछे हटानेवाला साबित हो सकता है।

न करेंगे, तो उससे केवल आलस्य, प्रमाद और जड़ताको ही पोषण मिलेगा।

२. हे अर्जुन, इन्द्रियोके विषय सर्दी, गर्मी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे आते है और चले जाते है और अनित्य हैं। उन्हें तू सहन कर। हे नरश्रेष्ठ, सुख-दुःखमें सम रहनेवाला जो पुरुष इन बातोंमे व्याकुल नही होता, वह मोक्षका अधिकारी होता है।

धर्मग्रथोके अवलोकनसे मालूम होता है कि तितिक्षा बढानेका प्रयत्न हमारे देशमे बहुत प्राचीन समयसे होता आया है। अनेक प्रकारके तपोकी योजनाका उद्देश्य यही दीख पडता है कि सहनशीलताकी वृद्धि हो। पञ्चाग्नि-सेवन, गरमीमे धूपमें बठना, सर्दीमे खुलेमे रहना, वर्षामे बरसातमे बैठना, जान-बूझकर भूखे रहना, पानी न पीना इत्यादि तपके प्रकारोका एक हेतु हमारे कोमल ज्ञानतंतुओको धीरे-धीरे कठोर बनाना भी रहा है। इससे मनुष्यके तीन बलवान विकार —काम, क्रोध और लोभ—कहा तक जीते जाते होगे, इसमे मुझे सदेह ही है। कारण तपस्वी क्रोधी न हो, ऐसा शायद ही देखा जाता है। व्यापारियोमे अतिलोभ और अतितितिक्षा एकसाथ देखे जाते है। 'डोरी और लोटे' की ही पूजीसे अपना जीवन शुरू करने-वाला बनिया 'गादी और तकिये' वाला बननेके समय तक तितिक्षाकी जो पराकाष्ठा करता है, वह तपस्वी भी शायद न दिखा सके। जेबमे पैसा होते हुए भी एक ही बार खानेका निश्चय करना, घरका दूध-घी होते हुए तथा किसीका कर्ज न होते हुए भी सूखी रोटी खाना और घीको बेच देना, सर्दी लगती हो और नया कम्बल पासमे हो तो भी उसको मैला न करनेके विचारसे ठड सहन कर लेना—इस तरह वह लोभवश होकर अपनी हरएक इन्द्रियको सहनशील बनाता है। मुझे कई बार लगता है कि ऐसी सहनशीलताकी अपेक्षा दुःख बरदाश्त करनेकी शक्ति कुछ कम होना ज्यादा अच्छा है। यदि हमारी तितिक्षा-शक्ति कुछ अशमे कम रहती, तो टीनकी दीवारो और छप्परवाले मकानमे हलवाईकी दुकान चलाने जैसा आरोग्य-नाशक, सौन्दर्य-नाशक और देशके कारीगरोके उद्योगका नाशक दृश्य कभी दिखाई न देता। आठ-दस हजार या उससे भी अधिक कीमतके मकानोमे कुछ किफायत करनेकी दृष्टिसे दिखनेमें भद्दे, गर्मीमे भट्टीकी तरह तपनेवाले और सर्दीमे बर्फके समान ठड हो जानेवाले टीनके परदे, छप्पर या छज्जे मेरी नजरमे पडते है, तब मेरे मनमें क्लेश होता है। उसमे रहनेवालोकी तितिक्षा-शक्तिके लिए मुझमे प्रशंसा या प्रसन्नताका भाव नही पैदा होता।

किसानको गर्मी, सर्दी और वर्षा तीनो ऋतुओमे खेत-खलिहानमे घटो खुलेमे काम करना पडता है। इस कारण उसे सर्दी-गर्मी-बरसात और भूख-प्यास-जागरणके कष्ट सहने पडते है। यह सच है कि उसे भी कुछ प्राप्तिकी आशा रहती है, फिर भी काम पूरा होने पर खानेके लिए पास होते हुए भी भूखो सोनेका और ओढनेको पास होते हुए भी कडाकेकी सर्दीमे खुले बदन सोनेका यदि वह आग्रह रखे, तो कहना होगा कि वह लोभवश होकर ही यह सब दुःख सहता है।

जिस प्रकार लोभसे वढाई हुई तितिक्षा कोई वडा गुण नही है, वैसे ही जडता या आलस्यसे वढाई हुई तितिक्षा भी कोई सद्‌गुण नही है।

दरवाजेमे एक छोटीसी दरार है। उसमे से ठडे पवनकी लहर हमेशा आया करती है, और जब आती है तब छातीमे तीरकी तरह चुभती मालूम होती है। उस दरारको वन्द करना आवश्यक है। शिशिरका आरभ है। गलेको ठडी हवा लग गई है। शाम या सबेरे हवा लगती है तव खासी शुरू हो जाती है और रातभर परेशान करती है। गले पर एक कपडा लपेट रखनेकी आवश्यकता है। वरसातमे एक खिडकीमे से पानीकी बौछार घरमे आती है और उससे घरकी हवामे नमी रहती है। एक छज्जेकी जरूरत है। घरमे एक मनुष्य दमेसे वीमार रहता है, आधी रातको या वडे सबेरे उसे शौचादिके लिए उठना पडता है। सारी रात तो वह खुदको वचा रखता है। किन्तु दो-चार मिनिटके लिए उसको खुलेमे जाना पडता है और ठडी हवा या वरसात सहन करनी पडती है। उसके हाथ-पैर ठडे हो जाते है, अथवा पीठ या छातीको हवा लग जाती है, और एक क्षणमे उसका श्वास रुध जाता है। फिर सारा घर उसके पीछे परेशान होता है। मित्र आकर दया वताते है। लेकिन रातके समय उसको वाहर न निकलना पडे, ऐसी उसके विछौनेके पास ही पानी-पेशावकी व्यवस्था रहनी चाहिये — इस जरूरतको न तो वह स्वय समझता है, न उसके सगे-सबधी समझते है। दरवाजेकी दरारको वन्द करना, गलेको कपडा लपेटना, झोपडी-जैसे मकानको

छज्जेसे सुशोभित वनाना, बिछौनेके पास वर्तन रखना या पेशावघर बनाना — ये सब सुकुमारताके लक्षण माने जाते है। ऐसा करनेवाला बडा नाजुक समझा जाता है। और यह सब करनेमे आलस्य भी आता है। इन बातोमे खर्चका सवाल शायद ही उठता है। परतु अकसर यह देखनेमे आता है कि इन कठिनाइयोको सहन कर लेना कुलधर्म-सा माना जाता है। इसलिए ऐसी अडचनोको सहन करना सद्‌गुण माना जाता है। यह तितिक्षा तो है, परतु प्रशसनीय नही।

इस प्रकारकी गलत तितिक्षाके कारण सहन करनेवालेको जो असुविधाए उठानी पडती है, उनका विचार हम छोड दे। परतु इसका उसके मानसिक विकास पर कैसा असर होता है, उसका हम थोडा विचार करे। प्राय. देखा गया है कि इस तरहकी असुविधाए सहन करना जिसका स्वभाव बन जाता है, और ऐसा करने-करानेमे ही एक प्रकारकी शिक्षा है इस तरहकी जिसकी मान्यता हो जाती है, वह दूसरोके कष्टोके लिए विशेष सहानुभूति अनुभव नही करता। जो मनुष्य ठड लगने पर भी अपने पासके बिछौने और कवलका उपयोग नही करता, और उनका उपयोग न करनेमे ही विशेषता मानकर विना कुछ ओढे-बिछाये सोनेकी आदत बना लेता है, उसको यह खयाल ही नही आता कि दूसरेके लिए सोनेकी कैसी व्यवस्था करनी चाहिये। वह यह भी नही समझ सकता कि जिनके पास बिछाने और ओढनेके पूरे साधन नही है, उनको क्या कष्ट होता होगा।

दया-धर्म और अहिंसा-धर्मकी महिमा गानेवाले हमारे हिन्दू धर्ममे हरिजनादि दलित और दरिद्र जातियो एव मूक प्राणियोके प्रति व्यवहारमे जो अत्यत लापरवाही नजर आती है, उसका कारण मेरी समझमे यह नही है कि सवर्णोमे स्वाभाविक निष्ठुरता होती है या अधिक स्वार्थवृत्ति होती है, मगर बहुतोके लिए तो इसका कारण केवल यही होता है कि दु खोकी कल्पना करनेके विषयमे वे बहुत जड होते है। यह जडता वे स्वयं अपनी जीवन-चर्यामे भी दिखाते है। अग्रेज लोगोमे तितिक्षा कम है, ऐसा उनके परिचय या इति-

हाससे पाया नही जाता। परतु असुविधाओको दूर करनेके विपयमे वे उदासीन नही रहते। इस कारण यदि कष्ट देनेका उनका इरादा न हो, तो वे दूसरोके शारीरिक कष्टोके प्रति हमसे अधिक सहृदयता वताते है। जेलमें मेरा दोनो वार (१९३० और १९३२) यह अनुभव रहा कि खुलेमें नहानेके कारण हवा लग जानेसे मुझे खासी हुआ करती थी, अत नहानेके लिए मुझे थोडी-सी ओटकी आवश्यकता थी। स्नान-घाट पर एक टट्टा वाध देनेसे यह हो सकता था। परतु जेलके भारतीय डॉक्टरोके मनमें यह न आ सका कि ऐसा कर देना आवश्यक है। लेकिन अग्रेज सुपरिण्टेण्डेण्टके मनमे यह वात वैठ गई और उसने यह व्यवस्था करा दी। इसी तरह जव रातको मुझे दमा उठा करता था और वैठा रहना पडता था, तव पीठके लिए किसी सहारेकी आवश्यकता मालूम होती थी। लोहेकी चारपाईके साथ लगा हुआ पतरा या भीत अधिक ठडी होनेके कारण काम नही दे सकती थी। एक मोटेसे लकडीके तख्तेकी जरूरत थी। परतु डॉक्टरोकी समझमे यह वात भी नही आती थी। इसमे भी सुपरिण्टेण्डेण्टने समझदारी वताई। इसकी वजह यह नही थी कि डॉक्टर कम सहृदय थे, या ऐसा करनेका उन्हे अधिकार नही था। परतु उनको स्वानुभवसे मालूम था कि जेलके वाहर भी हम लोग ऐसी असुविधाए सहन कर लेते है, और ऐसी सहनशीलताको वे स्वय उचित तितिक्षा समझते थे। इसलिए इन असुविधाओको सहन करनेमे वे कोई विशेष कष्ट मान ही नही सकते थे। लेकिन ये मिसाले छोड दे, क्योकि आखिरमे तो इनमे अधिकारियोसे हमारा सवध था, और सो भी जेलमे। लेकिन वाहरी समाजमे तो रिश्तेदार और मित्र भी इसी प्रकारकी अयोग्य तितिक्षाका आदर्श रखनेवाले होते है। इसलिए जिनके प्रति उनका प्रेम होता है उनके साथ भी वे इसी प्रकारका व्यवहार करते है।

कार्यालयो और दुकानोमें जो क्लर्क और अन्य कर्मचारी काम करते है, वे कितने घण्टे तक किस तरह वैठते है, खडे रहते है, उनके लिखने वगैराके लिए क्या व्यवस्था है, उनको वायु और

प्रकाश मिलता है या नही, उनके पास मेज है या नही, है तो वह बराबर मापकी है या नही, इन वातोके प्रति मालिक लापरवाह होता है। वह स्वय तो इस तरफ ध्यान देता ही नही, और यदि कर्मचारी इन सुविधाओके विषयमे लापरवाह न हो तो वह उनका दोष माना जाता है। विद्यार्थियोके विषयमे भी हम इस तरह लापरवाह रहते थे, पर अब उनकी ओर कुछ ध्यान दिया जाने लगा है। लेकिन सामान्यत तो यही उत्तर दिया जाता है—"हम तो आज तक इन साधनोके विना ही काम करते आये है, हमारा काम कभी इनके विना रुका नही है।" यह उत्तर गलत भी नही है। पर प्रश्न तो यह है कि इस तरह काम चलाते आना कहा तक उचित था?

'स्विस फेमिली रॉबिन्सन' नामक उपन्यास कई पाठकोने पढा होगा। उसमे एक यूरोपीय परिवारके एक द्वीपमे फस जानेका वर्णन है। वह वहा अपने परिश्रमसे यूरोपीय ढगकी सुविधाए धीरे-धीरे किस तरह उत्पन्न करता है इसका उसमे सुन्दर वर्णन है। चम्मच और कुरसीके बिना भी उसका काम नही चलता था। जगलमे भी उनके बिना काम चला लेनेमे उसने सतोप न माना। सीपसे चम्मच और पत्थर या मिट्टीकी कुर्सी वनानेका परिश्रम करने पर ही उसे सतोष होता है। मै कई वार सोचता हू कि इसकी जगह कोई भारतीय उपन्यासकार 'हिन्दू परिवार रविसेन' का चित्र खीचे, तो उसमे जगलमे मगल करनेकी अपेक्षा वडे महलमें रहते हुए भी वह परिवार किस प्रकारकी असुविधाये भोगता था, इसीका रसमय वर्णन करनेमे वह अच्छी सफलता प्राप्त कर सकेगा।

११

सात्त्विक तितिक्षा

पिछले प्रकरणमे तितिक्षाके अयोग्य प्रकारोकी कल्पना हमने कराई है। अव यहा इस वातका विचार करेगे कि उसके योग्य या सात्त्विक प्रकार क्या है। कोई ऐसा न समझे कि जिस गुणका महत्त्व वतलाते हुए गीताने यहा तक कहा है कि उसके होनेसे मनुष्य मोक्षपदके योग्य वनता है, उसे मै तुच्छ समझता हू।

मनुष्य चाहे जितना वनाढ्य और समृद्ध हो और अपने गारीरिक स्वास्थ्यके लिए वह चाहे जितना प्रवव करे, तो भी ऋतुओके फेर-फार और परिस्थितिके भेदसे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदिके सुख-दु ख और उनके फलस्वरूप जरा, व्यावि आदिके कष्ट प्रत्येक मनुष्यके जीवनमे आते ही रहते है। हुमायू वगैरा वडे वडे वादशाहोके जीवनमे कैसी कैसी क्रातिया हुई, और उनके कारण उन्हे किस प्रकार सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, आकस्मिक विपत्तियो आदिसे परेशान होना पडा, यह हम सवने इतिहासमें पढा है, अनेक वार देखा भी है और हम सवको उसका थोडा-वहुत अनुभव भी होगा। यह तो हम जानते ही है कि वादगाह सप्तम एडवर्डकी मृत्यु सर्दी लग जानेसे हुई थी, और पचम जॉर्जको जुकाम होनेके समाचार तो हमने कई वार पढे है। हम यह नही कह सकते कि उन्हे सर्दीसे वचनेके साघनोकी कोई कमी थी इस कारण वे वीमार पडे। परतु जीवनमे ऐसे प्रसग आते ही रहते है, और कालके अवीन रहनेवाला कोई भी प्राणी इनसे सर्वथा मुक्त नही रह सकता। इससे यह सृष्टिका नियम ही है, ऐसा हमे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और ऐसे प्रसग हमारे जीवनमे भी कभी न कभी आने सभव है यह मान लेना चाहिये। यह जरूरी है कि इन विपत्तियोंके खयालसे और इनके आ जाने पर हम अवीर न वने, कर्तव्यसे हटनेका विचार न करे,

ईश्वरकी कृपा हम पर नही है, अथवा हम पर उसकी अवकृपा हुई है यह न माने, अथवा यह न सोचे कि ईश्वर हमारे साथ अन्याय करता है या दूसरोके साथ पक्षपात करता है। दु.ख आने पर जो मनुष्य इस प्रकारका धैर्य धारण नही कर सकता, अथवा दु खके भयसे अपना कर्तव्य करनेको तैयार नही होता, उसमे तितिक्षाका अभाव है और यह अभाव जीवनके उत्कर्षमे बाधक होता है।

फिर ऐसे कष्टोके आ जाने पर उनको दूर करनेके लिए मनुष्य जिस प्रकारके उद्यम-उपाय करते है, उनमे प्राय. विवेक, न्याय और धर्म नही रहता। मै भूखा हू, मेरी पत्नी भी भूखी है। दोनोके लिए पर्याप्त अन्न घरमे नही है। जो कुछ थोडा-सा अन्न पडा है, उसे मै खा लेता हू और पत्नीको उसके भाग्यको दोष देनेका उपदेश करता हू। मै और मेरा एक साथी यात्रा कर रहे है। मेरे साथीने अपने साथ ओढनेके लिए एक कम्बल रख लिया है। मै ठहरा आलसी। जहां पहुचूगा वहा कुछ-न-कुछ तो मिल ही जायगा, इस विचारसे साथमे कुछ नही रखता। अब हम एक जगह पहुचते है। वहा मुझे कम्वल नही मिल पाता। तव मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मै सर्दीको सहन कर लू। लेकिन आलस्यके साथ स्वार्थ न हो ऐसा कम ही देखनेमे आता है। अपने मित्रकी अनुपस्थितिमे मै उसका कम्वल ओढ़कर सो जाता हू। वह जब सोनेके लिए आता है तो मुझे अपना कम्वल ओढे सोता हुआ देखता है। फिर वह वेचारा खुद सर्दीमे ठिठुरता हुआ पडा रहता है। मेरा तितिक्षाका यह अभाव दोषरूप है। और भी एक उदाहरण लीजिये। अत्यत गर्मी पड रही है। मै कमरेमे वैठा हू। दरवाजे पर खसकी टट्टी लगा रखी है और सिर पर एक पखा टगा हुआ है। एक लडका वाहर गर्म लूमे वैठा हुआ टट्टी पर थोडी-थोडी देरमे पानी छिडकता है और पखा चलाता रहता है। उसके भी तो सर्दी-गर्मीका अनुभव करनेवाली ज्ञानेन्द्रियां है, इस वातका मुझे कभी खयाल ही नही आता। गर्मीसे उसे नीदका झोका आ जाता है। टट्टी सूख जाती है और पखा वन्द हो जाता है। मुझे गर्मी मालूम होती है। मै लडके पर गुस्सा होता हूं। कष्ट-निवारणका यह उपाय दोष-

रूप है। मेरा यह कार्य मेरी अतितिक्षाका परिणाम है। हममे इतनी तितिक्षा तो अवश्य ही होनी चाहिये कि इस प्रकार अपना कष्ट-निवारण हम न करे।

अतितिक्षाका एक और भी उदाहरण देता हू। दूध और फल अपने स्वास्थ्यके लिए मै आवश्यक समझता हू। मै एक ऐसी जगह अतिथि होकर जाता हू, जहा इन पदार्थोंका मिलना असभव तो नही परन्तु महाकठिन है। तीन मीलके अदर दूध नही मिलता, फलोके लिए २५ मील दूरके शहरमे ही आदमी भेजा जाय तव काम वन सकता है। मेरा यजमान भावुक होने पर भी निर्धन मनुष्य है, परन्तु स्वाभिमानी है। यदि मै इस तरहका भाव दिखाऊ कि बिना दूव और फलके मुझे अत्यत असुविधा होगी, तो वह अपना यह धर्म मान लेगा कि उसे हर तरहका प्रयत्न और खर्च करके अतिथिके लिए दूव और फल मगाने ही चाहिये। ऐसे समय मेरा यह फर्ज है कि मै दूव और फलकी गरज न रखू—न वताऊ, जो कुछ वहा मिल जाय उस पर ही अपना गुजारा कर लू और स्वास्थ्यको हानि पहुचाना भी मजूर कर लू। यह तितिक्षा आवश्यक है। अमुक प्रकारके कर्तव्य स्वीकार किये जाय तो इस प्रकारकी असुविधाए सहन करनी होगी, इस विचारसे यदि हम उन कर्तव्य-कर्मोसे दूर भागते हैं तो वह भी अतितिक्षा है। कर्तव्य-कर्मके समय जो व्यक्ति इस प्रकारकी असुविधाओका खयाल किया करता है, वह मोक्ष—श्रेय—पानेके योग्य नही हो सकता, गीताका यह वोव विलकुल ठीक है।

लेकिन ऊपरके दृष्टान्तोसे कोई ऐसा मान ले कि आधा पेट भोजन करके, या सर्दीमें विना कंवलके ही सोकर, अथवा गर्मीमे लूमे वैठकर और दूव व फलोका परित्याग करके ही जीवन-निर्वाह करनेकी आदत डालनी चाहिये, तो मेरी नम्र समतिमें वह भूल है। जहा तक जीवन-धारण करनेका हमारे लिए कोई प्रयोजन है, वहा तक पर्याप्त अन्न प्राप्त करना, स्वास्थ्यके लिए आवश्यक और उपयुक्त अन्न, वस्त्र, गृह आदि प्राप्त करना और सव लोगोको ये प्राप्त हो ऐसा प्रयत्न

करना हमारा धर्म है। जिस गावमे दूध-फलादि प्राप्त नही होते, वहासे भाग जाना भी धर्म नही है। दो-चार रोज ही ठहरना हो, तो उतने दिन भी उनके बिना न चला सकना धर्म नही कहा जायगा। लेकिन रोज वही रहना हो तो उस गावमें दूध-फल पैदा करनेका—और अपने ही लिए नही वल्कि सबके लिए पैदा करनेका—प्रवध न करके तितिक्षाका सवक सिखाना भी धर्म नही है। किसी उदात्त ध्येयको सिद्ध करनेके लिए हम उस पर इस तरह मुग्ध हो जाय कि 'रूखा सूखा रामका टुकडा, चिकना और सलोना क्या' वाली वृत्ति हमारी बन जाय, तो यह तितिक्षा आवश्यक है। लेकिन जव जनताके रूखे-सूखे टुकडे पर घी और नमक किस तरह लगाया जा सकता है, इस प्रश्नका हल करना ही कर्तव्य हो जाता है, तव तितिक्षाका विचार करना कर्तव्य नही माना जा सकता।

तितिक्षा शौर्यवृत्तिका एक प्रकार है। शूरवीर सिपाही शत्रुके वाणोसे विद्ध होने तथा युद्धके अन्य कष्टोकी कल्पनासे काप नही उठता, किन्तु उनका सामना करनेमे ही वह अपनी शोभा समझता है। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि वह युद्धके कष्टोसे वचनेका कोई प्रवन्ध नही करता। वह ढाल रखता है, जिरहवख्तर पहनता है और दूसरे साधन भी रखता है।

पेशवाई जमानेके एक मराठा सरदारकी बात प्रसिद्ध है। एक वार वह नाईसे हजामत वनवा रहा था। नाईकी लापरवाहीसे सरदारको उस्तरा लग गया। इससे सरदारने नाईको डाटा। नाई बोलनेमे पीछे रहनेवाला न था। उसने ताना मारा, "उस्तरेके इतनेसे घावसे आप घबराते है, तो लडाईमे तलवारके घाव कैसे सहेगे?" सरदार तुरन्त खडा हो गया और उसने नाईके पावको अपने पावसे दवाकर एक भाला अपने पावके और दूसरा भाला नाईके पावके आरपार भोक दिया! नाई तो चीखने-चिल्लाने लगा। सरदारने उसी हालतमे शात खडे रहकर कहा, "क्यो, तुझे मेरी सहनशक्ति देखनी थी न? लेकिन लडाईमे तलवारके घाव सहन करने पडेगे, इसके लिए विना कारण तेरे उस्तरेका घाव मुझे क्यो सहन करना चाहिये?" नाई

क्षमा मागकर अपने पावसे भाला खीचनेके लिए सरदारसे प्रार्थना करने लगा। तव सरदारने अपने और नाईके पावसे भाला निकाला।

मै यह तो नही कहूगा कि तितिक्षा केवल मनोवलका ही परिणाम है और उसके लिए थोडी आदत डालनेवाली तालीमकी विलकुल जरूरत नही है। लेकिन अगर वह आदतकी ही तालीम हो, तो वह जड तितिक्षा हो जाती है।

१२

त्यागका आदर्श

१

निम्नलिखित आगयका एक पत्र मेरे पास आया है:

"जगत्‌में मनुष्यकी जो औसत आमदनी हो, उससे अविक खर्च करना मै एक तरहका अपराध समझता हू। इस मुख्य तत्त्वका अनुसरण करके मैने अपने आहारके सवधमे नीचे लिखे कुछ नियम वना लिये है:

(१) किसी भी प्रकारका पकवान न खाना, (२) किसी भी प्रकारकी साग-भाजी न खाना, (३) दूध, दही, छाछ, घी और तेल न खाना, (४) पिछले आठ माससे ग्रामोद्योगके अन्नोके अतिरिक्त अन्य अन्न न खाना, (६) शक्कर और गुड न खाना।

"इन नियमोको मै जेलसे छूटा तभीसे—करीव दो सालमे—पाल रहा हू। पर इन्हे अभी मैने स्थायी व्रतोके रूपमे ग्रहण नही किया है। ऐसा करनेके पहले मै आपकी राय ले लेना चाहता हू। अभी हालमे मै चावल, जुवार, वाजरा या गहूका आटा, मिर्च, खटाई और नमक, इतनी ही चीजे खाता हू; नमक छोड़ दू या नही, इस विचारमें पडा हुआ हू। एक ही समयके भोजनमे भात और रोटी एक साथ नही लेता। फल खा सकता हू, पर यह नही कि हमेशा खाता हू; प्याज खाता

हू, क्योंकि यह सबको सुलभ है, सस्ता है और पौष्टिक भी है। पकवान, शक्कर, भैंसका दूध और ग्रामोद्योगी अन्नके अलावा दूसरे अन्न, इतनी चीजें तो मैंने स्थायी रूपमें छोड दी है, ऐसा समझिये। लेकिन दूसरी चीजोंके बारेमें आप जैसी सूचना देंगे वैसा उनमें फेरफार कर लूगा।

"और भी कुछ नियम मैंने ले रखे हैं। वे ये हैं:

(१) नाटक, सिनेमा आदि राग-रगसे दूर रहना; (२) उन मदिरोमें दर्शन करने न जाना जहा हरिजन न जा सकते हो; (३) जो धार्मिक समझी जानेवाली विधिया केवल रूढ़ि पर ही अवलवित हो, उनका बहिष्कार करना, (४) राष्ट्रहित-विरोधी कामोमें सम्मिलित न होना।

"आजकल मैं बढईका काम सीख रहा हू। थोडे दिन बाद इस कामकी परीक्षा होगी। उसके बाद किसी गावमें बैठ जानेका मेरा विचार है। मुझे अग्रेजी नही आती। मैं महाराष्ट्री ब्राह्मण हू।"

इन सज्जनको मैंने स्वतत्र उत्तर दे दिया है, और मेरी सलाहके अनुसार अपने आहारमें इन्होंने फेरफार भी किया है। पर इस प्रकारके कितने ही पत्र आते हैं। इसलिए उनमें बताई हुई विचार-पद्धतिकी चर्चा मैं यहा जरा विस्तारसे करना चाहता हू।

एक जमाना वह था, जब साधारणतया लोग श्रीमत होनेका ही आदर्श अपने सामने रखते थे। दूसरोंके जितना पैसा हमारे पास भी हो, यह उनकी कामना रहती थी। पैसे पर ही दृष्टि रखकर उसीकी आराधना की जाती थी। गरीबको लोग घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। वह एक अनिष्ट वस्तु मानी जाती थी। आसपासके धनवान स्पृहणीय मालूम होते थे, और लोगोका मनोरथ यह रहता था कि ऐसी शक्ति प्राप्त की जाय, जिससे कि हम भी उनकी पक्तिमें बैठ सकें। पर आज तो उस भावनाका प्रवाह उलटी दिशामें बह रहा है। आज पैसा आवश्यक भले ही मालूम होता हो, पर आदरणीय और पूजनीय मालूम नहीं होता। गरीबी भले ही कष्टप्रद लगती हो, पर उसके

प्रति अब आदर या समभाव मालूम होता है। सेवाभावी, आदर्शवादी और महत्त्वाकाक्षी युवक गरीबोके साथ अधिकाधिक एकरूप होनेकी इच्छा कर रहे हैं। धन प्राप्त करनेके लिए जो साहसके काम किसी समय किये जाते थे, उनसे भी अधिक कठिन साहसके काम करनेका —अपना शरीर रोगी और समयसे पहले ही वृद्धावस्थाका शिकार बन जाय, अपने सगे-सबधी भी सदा कष्ट भोगते रहे, ऐसे ऐसे जोखिम उठानेका — उत्साह आज युवकोमे पाया जाता है। गाधीजीने जीवनके आदर्शके सबधमे समाजके दृष्टिबिंदुमे यह कितनी भारी क्रान्ति कर दी है! जैसा कि अभी सावलीमे उन्होने कहा था, किसी सेवकको अगर ५० या ७५ रुपया मासिक लेना पडता है, तो वह इस अभिमानसे नही लेता कि वह खुद उतने रुपये लेनेके लिए योग्य है, उसका उतने रुपये लेनेका अधिकार है, या इतने रुपये लेकर वह कोई त्याग करता है, वह तो इतना रुपया दुःख मानकर लेता है। इससे कममें उसका काम नही चल सकता, यह बात उसे काटेकी तरह चुभती रहती है। सरकारी या धधेवाले सेवककी मनोवृत्ति इससे उलटी ही होती है। जिसे ५० मिलते है उसे अगर ७५ नही दिये जाते तो वह ऐसा समझता है कि उसके साथ अन्याय किया जा रहा है। और ७५ पानेवाला अपनेको १०० का अधिकारी समझता है।

इस तरह उक्त सज्जनके त्यागके पीछे जो एक उदात्त भावना है वह सराहनीय है। दरिद्र जनताके प्रति अपनी करुणा-वृत्ति किसी भी प्रत्यक्ष रीतिसे दिखानेकी उत्कण्ठा तो सदा ही आदरणीय मालूम होती है। तो भी मुझे लगता है कि इस त्यागके पीछे थोडी गलत विचार-पद्धति भी है।

धनवान बननेका आदर्श जिस प्रकार गलत है, उसी प्रकार अविवेकसे दारिद्र्यको छातीसे लगाये रखनेका आदर्श भी गलत है। यह सही है कि खुद धनवान बनने या कुटुबियोकी सुख-समृद्धिके लिए दिन-रात चिन्तामे पडे रहना हमारा ध्येय नही है, पर इसके साथ ही यह याद रखना चाहिये कि समाजको दारिद्र्यमे सडने देना भी हमारा ध्येय नही है। हमारा ध्येय उस दारुण दारिद्र्यको दूर करना

है, जो आज दुनियाको पीस रहा है, यानी हमारा ध्येय दारिद्र्यकी पूजा करना या उसे टिकाये रखना नही है, किन्तु उसे हटाना है। दारिद्र्यके टिके रहने या बढनेमे हमारा भोगमय जीवन जिस अश तक कारणरूप हो, उतने भोगका त्याग करना आवश्यक ही समझा जाना चाहिये; धनवानोका धन पर अधिकार जितने अशमे इसका कारण है, उतने अशमे उनसे उसका त्याग कराना भी आवश्यक है। जमीन या आमदनीका अन्यायपूर्ण विभाजन जितने अशमे इसके लिए कारण-भूत है, उतने अशमे उसे भी जरूर सुधारना पडेगा, उत्पादन तथा व्यापारकी पद्धति जितने अश तक विषमताका पोषण करती है, उतने अशमे उसे भी बदलना पडेगा, पर इसके साथ ही हमे यह भी न भूलना चाहिये कि जितने अशमे उत्पादनकी कमी, अज्ञान, आलस्य, निरुद्यम, व्यसन, अतिभोग, उडाऊपन, खर्चीली रूढिया, अप्रामाणिकता, अनीति, परतंत्रता, साधनो या बुद्धिकी कमी आदि दारिद्र्यके कारण है, उतने अशमे उन्हे भी दूर करना होगा।

अर्थात् जिस स्तर पर आज दरिद्र लोग जीवन बिताते है उसकी अथवा दुनियाकी औसत आमदनीके आकडोकी मर्यादा निश्चित करके* उतनेसे जीवनका जो स्तर निश्चित किया जा सके वही उचित स्तर है, यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता। दरिद्रोका स्तर एक हीन स्तर है, इसीलिए तो हमे उन पर दया आती है। इसलिए इस स्तरको

* औसत आमदनीके आकडोके आधार पर अकसर कल्पनाएं करनेमे भूल होती है। एक सामान्य कल्पना करनेके लिए ये आकडे ठीक होते है। पर अधिकाश मनुष्य इसी स्तर पर जीते है, ऐसा हम न माने। यह तो गणित है, और बहुत ही स्थूल गणित है। शास्त्रार्थ करनेमे ही इसका उपयोग होता है तब तक तो वह निर्दोप है। लेकिन जब इसके आधार पर जीवनके नियम निश्चित करनेका प्रयत्न होता है तब भारी भूल ही होती है। हिन्दुस्तानमे मनुष्यकी औसत आयु २३ बरसकी मानी जाती है। इसलिए क्या हम २३ बरससे अधिक न जीनेका आदर्श बना सकते है? इस गणितका हमे इस तरह उपयोग नही करना चाहिये।

जीवनका सच्चा स्तर नही समझना चाहिये। हम यह इच्छा करे कि इस स्तर पर कोई न रहे, किसीको न रहना पडे। जो हम दूसरोके लिए चाहे, उसीकी इच्छा हमे अपने लिए और अपने कुटुम्वियोके लिए भी करनी चाहिये। नही तो खुद हमारे हाथोसे हीन स्तर ठहरानेका या उसे अधिक हीन बनानेका भी परिणाम आ सकता है।

इसलिए हमे यह नही भूलना चाहिये कि दरिद्रोके साथ एकरूप होनेके लिए हमे खुद दारिद्रय-पीडित नही बनना है। साथ ही यह भी सत्य है कि स्वय लक्ष्मीपति बनकर या रहकर दरिद्रोके साथ एकरूप होनेकी बात नही की जा सकती। इसलिए उचित मार्ग रहा अब बीचका और विवेकका। दोनो रुग्ण दशाओको छोड़कर हमे स्वतत्र नीरोग जीवनका नियम खोजना चाहिये। हम यह इच्छा करे कि जगत्मे हरएक मनुष्य दीर्घायु भोगे, जब तक जीये शरीरसे नीरोग और बलवान रहे, परिश्रम कर सकने लायक शक्ति उसके शरीरमे हो, यदि काम-वासना हो तो गृहस्थ बनकर वह ऐसी सतानका पिता और पालक बने, जो मानव-जातिके लिए भूषणरूप कही जा सके और बुद्धिमान बनकर समाजका एक आवश्यक और उपयोगी अग सिद्ध हो सके।

इस तरहके जीवनके लिए कितना और किस प्रकारका आहार चाहिये, कैसे और कितने कपडे चाहिये, कैसा और कितना बड़ा मकान चाहिये, कितनी और कैसी शिक्षा चाहिये, कितनी अन्य सुख-सुविधाए चाहिये, इस सबका एक बिलकुल निश्चित स्तर न हो तो भी एक स्थूल और कामचलाऊ स्तर ठहराना अशक्य नही है। अर्थात् यह स्तर केवल काल्पनिक न हो, बल्कि हमारे विचारके अनुसार यदि समाज चले तो थोडे वर्षोंमे उस पर अमल हो सके ऐसा व्यावहारिक वह होना चाहिये। मानव-जीवनके आवश्यक धारण-पोषणका यह हमारा कम-से-कम स्तर समझा जाय। इस सम्बन्धमें थोडा मतभेद हो सकता है। उदाहरणार्थ, गाधीजीने आजके बाजार-भाव पर गावोके ऐसे कुटुम्बके लिए, जिसमे दो जन काम करनेवाले हो और तीन जन आश्रित हो, तीस रुपये मासिकका स्तर बतलाया है। सभव है किसीको

यह बहुत नीचा मालूम हो, और किसीको यह विचारसे भारी नही, पर अव्यावहारिक-सा लगे। हम भले ही कोई दूसरा स्तर ठीक और व्यावहारिक माने; पर हम जो भी स्तर निश्चित करे, उससे उतरता हुआ स्तर अपने खुदके लिए भी न रखे। खास कर जिसे शरीरके प्रति तुरन्त ही आत्महत्या कर डालने जैसा वैराग्य पैदा नही हुआ है, जिसके जीवनमे कुछ भी रस बाकी रहा है, जो गृहस्थाश्रमी है, या जिसने दूसरोका उत्तरदायित्व ले रखा है, उसे अपने धारण-पोषणके नियम ऐसे नही बनाने चाहिये, जो इन हेतुओके सिद्ध होनेमे विघ्नरूप बन जाय।

हरिजनसेवक, २५–४–'३६

२

दरिद्रोके साथ एकरूप होनेका दृष्टिबिन्दु क्या है, इस विषयमे साधारणतया मै अपने पिछले लेखमे कह चुका हू। उसमे किफायतशारी, सादगी, उद्योग आदिके लिए अवश्य स्थान है। परन्तु एक विचित्र प्रकारकी विचारसरणीके परिणाम-स्वरूप हमे एक ऐसी टेव पड़ गई है, जिससे मितव्ययिता तथा व्रत-नियमका क्षेत्र हमे केवल खाने-पीनेकी चीजोमे ही सूझता है। भोजन-खर्च कम करनेकी मानो जनसेवकोमे आज एक प्रतिस्पर्धा ही चल रही है! एक आश्रमने एक वर्ष तक साढे तीन रुपये मासिकमे खानेका प्रयोग किया और अभिमानपूर्वक इस बातका उल्लेख भी किया। मैंने पूछा, "इससे आप लोगोको क्या अनुभव हुआ?" व्यवस्थापकने कहा, "सबके शरीर बिगड गये, अत. हमे यह प्रयोग छोड़ देना पडा।" एक ब्राह्मण ग्रेज्युएट सज्जनने दूध-घी छोड दिया। शुरूमे कई साल तक उन्होने अध्यापकका काम किया, फिर वे जेल गये। बादमे उनकी आते ऐसी बन गई कि दाल अब उन्हे पच ही नही सकती। नतीजा क्या हुआ? अर्श आदि अनेक बीमारियोसे वे पीडित हो गये। मलेरियाने अलग घर दबाया। अभीसे बूढे जैसे दिखने लगे हैं। बुखार तो चला गया है, पर शरीरमें शक्ति नही आ रही है। खेती वगैरा मेहनतका काम खुद करनेका उत्साह

तो बहुत है, पर करे तो किस तरह? दूसरे एक सज्जन आध्यात्मिक दृष्टिसे इसी प्रकारके प्रयोग करके क्षयरोगके शिकार हो गये है।

मेरी राय है कि भोजन-खर्च १० या १२ रुपया मासिक हो तो भी महगा नही। अन्य अनावश्यक खर्चोमें काट-छाट की जाय, तो भोजन-खर्च कभी भारी नही पड सकता। 'यह पापी पेट ही तो सब कुछ कराता है' ऐसा दोषारोपण भले ही बेचारे पेट पर किया जाय, पर आजके जमानेमें मैने तो यह हिसाब लगाया है कि मनुष्य पेटके लिए जितना पैसा खर्च करता है उससे कही ज्यादा वह दूसरी, और वह भी अनावश्यक, चीजो पर खर्च करता है। बहुतसे गरीब आदमी भी इसके अपवाद नही है। हमारे बुजुर्ग तो हमेशा यह कहा करते थे कि किसी गृहस्थके यहा दो आदमी भोजन कर जायं, तो वे उसे कभी भारी मालूम नही पडते, भारी तो दूसरे-दूसरे खर्च ही पड़ते है। यह बात आज विशेषतः सत्य है।

त्याग-वैराग्यकी, विषय-विकारोके शमनके लिए देह-दमनकी या दरिद्र भाई-बहनोंके प्रति अनुकपाकी भावनासे प्रेरित होकर खाने-पीनेमे त्यागके भारी भारी नियम बना लेनेसे व्यक्ति या समाजको कोई लाभ नही होता, क्योकि ऐसे नियमोका लम्बे समय तक पालन नही किया जा सकता। एक बात जरूर याद रखनेकी है। वह यह कि जब तक मनुष्यके जीवनका अंतिम ध्येय सिद्ध नही होता, कुछ जानने, पाने या करनेको जीवनमें बाकी रह जाता है, तब तक वह अपने शरीरको जान-बूझकर मरने नही देता। विकारवश या भावनावश होकर वह अमुक हद तक मरने या शरीरको बिगडने देनेका प्रयत्न जरूर कर डालता है। पर उसके बाद उसका साहस रुक जाता है, और फिर जीवित रहने या शरीरको फिरसे ठिकाने पर लानेका प्रयत्न उसे करना पडता है। ऐसा करनेके लिए उसे इतना मिथ्या प्रयत्न करना पडता है, जो उसकी स्थितिके मनुष्यके लिए अयोग्य माना जाता है, दूसरोका आश्रय खोजना पडता है और सभी नियमो, व्रतो और सिद्धान्तोको समेटकर एक तरफ रख देनेका भी मौका आ जाता है। और इतना सब करने पर भी शरीरकी रक्षा करनेमे उसे सफलता

नही मिलती। दरिद्रोके साथ पूरी तरहसे एकरूप होनेमे या आध्यात्मिक साधनमे कमी रहनेकी अपेक्षा इस तरहका जो परिणाम आता है, उसमे मैं अधिक आध्यात्मिक, सामाजिक एव आर्थिक हानि देखता हू।

और किफायतकी दृष्टिसे भोजन-खर्चमे काट-छाट करना मुझे तो घरके दरवाजे खुले रखकर मोरीको बन्द कर देने जैसी बात लगती है। आज नवयुवकोका — जिनमे अधिकाश कार्यकर्ता और उनकी संस्थाए भी आ जाती है — तार, डाक, यात्रा, कागज-पत्रोकी छपाई, फाउन्टेन पेन, केमेरा, टॉर्च, सुगधित साबुन, बालोकी कटाई आदिका खर्च इतना अधिक बढ गया है कि अगर उसमे वे काफी काट-छाट कर डाले, तो वे और उनके साथी तथा आश्रित बिना किसी तरहकी कठिनाईके बडे मजेमे खा-पी सकते हैं। पर ज्यादातर सस्थाओमें इस तरहके खर्च हर साल बढते ही जाते है। मेरे पास अनेक सस्थाओकी रिपोर्टे आती रहती है। शायद ही कोई ऐसी रिपोर्ट मेरे देखनेमे आती है, जिसमे दो-चार फोटो न हो। गवर्नर सस्था देखने आते है तो उनके साथ ग्रूपका फोटो खिचाना जरूरी हो जाता है। महात्माजी आते है तो उनकी सभाका फोटो भी होना ही चाहिये। मेरे जैसा कोई साधारण मनुष्य अध्यक्ष बना हो, तो उसका भी फोटो तो चाहिये ही। सब लोग साथमे कातने बैठे तो उसका फोटो, साथ भोजन करने बैठे तो उसका भी एक फोटो और कुदाली-फावडा लेकर सफाई करने चले तो वहाका भी फोटो। अमुक जगह हरिजन-बालकोको नहलाया जाता है। व्यवस्थापक महाशयको लगता है कि इतनी-सी बात रिपोर्टमे लिख देनेसे काम कैसे चल सकता है — फोटो तो देना ही चाहिये! मानो हमने ऐसा मान लिया है कि हमारे हरएक काममें कोई-न-कोई ऐसी अलौकिकता होती है, जिसका चित्र-प्रदर्शन करना भी समाजकी एक सेवा ही है। यह यहा तक होता है कि किसी जगह जब आग लगती है तब उधर तो कुछ तरुण पानीकी बालटी लेकर दौडते है और इधर कुछ युवक उनका फोटो खीचनेके लिए केमेरा लेकर दौड पडते है! भले हम यह मान लें कि सार्वजनिक फडोकी एक पाई भी ऐसे फोटो पर खर्च नही होती, फिर भी यह धनका अपव्यय तो है ही।

यही स्थिति तार, डाक और प्रवासके खर्चकी भी है। पहले जिन खबरोंके लिए पोस्टकार्ड पर्याप्त समझा जाता था, उन खबरोके लिए अब तार दौडाये जाते है। कोई तारसे आशीर्वाद मागता या भेजता है, तो कोई पुत्रजन्मकी बधाई ही तारसे भेज देता है। कोई कोई तारसे लेख तक भेजते है, मागते तो है ही। राजा-महाराजाओ और बडे-बडे नेताओके लिए यह आवश्यक या अनिवार्य हो सकता है, परन्तु हर कोई उनका अनुकरण करने लगे तो यह फिजूलखर्ची ही समझी जायगी। इस अपव्ययको बचाकर सस्थाए अपने भोजन-खर्चके लिए दस रुपया मासिक भी खर्च करे या ईंट-चूनेके पक्के मकानमे रहे, तो मै मानता हू कि वह पैसा काममे आ गया। परन्तु खर्च कम करनेकी दृष्टिसे खाने-पीनेके जो नियम और प्रयोग आज चल रहे है, वे घबराहट पैदा करनेवाले है।

सृष्टिके आदिकालसे कोई भी देहधारी अन्नमय कोशकी उपासनासे सम्पूर्णतया मुक्त नही हो सका। किन्तु हम हिन्दुओने इसकी उपासना वैरभावसे ही करनेका धर्म सीखा है। मानो शरीर ही हमारे लिए आत्म-स्वरूपमे रहनेमे विघ्नरूप है, इस तरह वैराग्यके नाम पर, स्वराज्यके नाम पर, चित्तशुद्धिके नाम पर, ब्रह्मचर्य-रक्षाके नाम पर, अहिंसाके नाम पर हम खासकर अन्नसे सबध रखनेवाले व्रतोकी ही खोज कर सकते है। इसमें दरिद्रोंके प्रति हमदर्दीका एक हेतु और जोड दिया गया है बस इतना ही। असलमें जब हम घबरा जाते है और कोई दूसरा उपाय खोज नही पाते, तब अपने आहारमे कुछ फेरफार करना हमें सबसे पहले सूझता है। कोई स्नेही मर जाता है तो हम दूध छोड देते है, बीमार पडता है तो चावल छोड देते है, व्यापारमें नुकसान आता है तो रविवारका व्रत करने लगते है, चौमासा आया कि एक बार भोजन करनेका नियम ले लेते है—ऐसी ऐसी बाते हमे सहज ही सूझ जाती है। अपने स्नेहीका तमाम उत्तरदायित्व खुद अपने ऊपर ले ले, व्यापारमे नुकसान आये तो मेहनत-मजदूरी करे, चौमासेमे असामियोका व्याज छोड दे, सावनमे क्रोधका सयम करें और चैतमे कामका सयम करे—इस प्रकारके व्रत शायद

ही कोई लेता है। इसका कारण यह है कि हमने अन्नमय कोशको ही आत्माका शत्रु मान लिया है। पर जिस तरह केवल यह मान लेनेसे कि सामने दिखाई देनेवाली दीवारका कोई अस्तित्व ही नही, वह तो एक मायिक आभास-मात्र है, कोई दीवारके आरपार नहीं जा सकता, उसी तरह यह मान लेनेसे कि देह और आत्मा भिन्न है, देहसे कोई अलग नही हो सकता या देहका ममत्व छूट नही सकता। फिर भी यह उलटा योगाभ्यास हम करते चले आ रहे है, और इससे हम स्वय ही कष्ट भोगते रहे है। अन्नमय कोशको तो त्यागनेमे हम सफल नही हुए, पर अन्नमे वास करनेवाले ब्रह्मके साथ द्वेप करके हम अपने देशमे ढेरो अन्नके बीच आज भूखो मर रहे है और हमारे भावुक तरुण सहज ही प्राप्त होनेवाले अन्नके साथ कुछ समय द्वेप करके वादमे सारी जिन्दगी इसी चिन्तामे पडे रहते है कि कमजोरीकी हालतमे भी शरीरको टिकाये रखनेके लिए अन्न और आतोके बीच किस तरह मेल कराया जा सकता है, अथवा जव इस भूलका उन्हे पता चलता है तव तमाम सयमोको छोडकर मिष्टान्न आदि खाने-खिलानेको ही वे साधुसेवा तथा एक महान धर्मकार्य समझ वैठते है।

तव इस सम्बन्धमे उचित वृत्ति क्या है? इसका विचार हम अगले लेखमे करेगे।

हरिजनसेवक, २–५–'३६

३

पिछले दोनो लेखोमे मैने अपनी सामान्य विचारसरणी रखी है। उसे व्यावहारिक रूपमे परिणत करके मैने इन सज्जनको जो सलाह दी, वह नीचे लिखे अनुसार है

हमारा धर्म न तो पिण्ड-पोपक वननेका है, न देह-दमनके मार्ग पर जानेका है। शरीरको नीरोग और परिश्रम करने योग्य रखनेके लिए जितने और जिस प्रकारके आहारकी आवश्यकता होती है उतना हमे अवश्य लेना चाहिये। जहा अपनी ही गरीबी ऐसा करनेमे आडे आती हो, वहां लाचारी समझी जाय। लेकिन उस स्थितिमे हमारा

धर्म ईमानदारीसे दरिद्रताको दूर करना है, उसे आदर देने योग्य मानना नही।

शरीरको ठीक स्थितिमे रखनेके लिए शरीर-श्रम करनेवाले मनुष्यको दाल, तेल, साग-तरकारी और कभी कभी गुडकी भी जरूरत होती है। जिस मनुष्यका शरीर-श्रम थोड़ा हो, या किसी दूसरे कारणसे उसे दाल ठीक तरहसे न पचती हो, अथवा शरीर-श्रमके साथ साथ दिमागी श्रम भी करना पडता हो, उसके लिए दालकी जगह या दालके अलावा दूधकी जरूरत होती है। बढती उम्रमे, बीमारीमे, कमजोरीमे, बुढापेमे और दवाके साथ भी दूध चाहिये। जिसे तेल अनुकूल न पडता हो, उसके लिए मक्खन या घी जरूरी है। वैज्ञानिक भले ही कहते हो कि भिन्न भिन्न प्रकारके तेल सब एक समान ही है, अथवा घीकी जगह तेलसे काम चलाया जा सकता है, पर हमारे अपने अनुभवकी अपेक्षा ऐसे वैज्ञानिक मतोका मूल्य अधिक न समझा जाय। धनिया, जीरा, मेथी, हलदी, वगैरा कुछेक मसालोकी सहायतासे दाल और कितने ही साग अधिक पचने योग्य बन जाते है, ऐसा अनुभव है। इसके कारण हम भले ही न बता सके या कारण मानसिक भी हो, पर इस अनुभवको केवल वैज्ञानिक मतसे कम महत्त्वका नही समझना चाहिये।

दूध, घी, गुड, आटा, चावल, धनिया, जीरा आदि वैभोगकी चीजे नही है। पर इनके द्वारा वैभोग हो सकता है। यह आहार है, वैभोग नही। हलुवा, पूरी, खीर, लड्डू, बरफी आदि मिठाइयां, भजिया, सेव, दाल-मोठ, दहीवडा और खूब तेल, मिर्च, मसाला — ये सब वैभोग है। चाय, काफी, बीडी, तम्बाकू, सुपारी आदि व्यसन है। वैभोगो और व्यसनोका त्याग करनेमे कोई हानि है ही नही। इनका त्याग न करनेवाला मनुष्य विवेकी होगा, तो इन्हे प्राप्त करनेका प्रयत्न कभी न करेगा। खानेका प्रसग आ ही जाय, तो एकदम वह फिसल न पडेगा। खाते हुए इनमे रस न लेगा, इनके लिए बहुत हाय हाय न करेगा। इनमे जो चीज अपने शरीरके अनुकूल न हो, उसे खानेके मोहमे न पड़ेगा। अध्यात्म, आरोग्य तथा सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे भी ये स्वर्ण-नियम है।

इसमे ग्रामोद्योगकी वस्तुए ही उपयोगमे लानेका निश्चय उचित है। ग्रामोद्योग-सघकी सूचनाओमे दोहरी दृष्टि है. गावोकी आर्थिक दृष्टिसे सेवा करना और जनताको आरोग्यवर्धक आहार वतलाना।

सवको ऐसा आहार नही मिल सकता, यह हमारा दुर्भाग्य है। यह दुर्भाग्य दूर करनेके लिए हमे तनतोड प्रयत्न करना चाहिये। यानी जितना हमने खाया हो उससे अधिक पैदा करनेके लिए हम मेहनत करे। इस मेहनतमे भले ही सारी उम्र खप जाय। पर सामाजिक दुर्भाग्यको सामने रखकर हम पूरा आहार न ले, यह हमारे प्रयत्नका स्वरूप नही होना चाहिये। प्रयत्न तो पूरा आहार दिलाने और प्राप्त करनेका ही होना चाहिये। श्री विनोवाजीने सावलीमे समझाया था कि डूवते हुए मनुष्य पर तरस खाकर हम उसके साथ डूव जाय, यह हमारा धर्म नही, हमारा धर्म तो उसे वचानेका प्रयत्न करना है। इस प्रयत्नमे भले हम भी डूव जाय। इसमे कोई दोष नही है। पर हमारा उद्देश्य डूवनेका नही हो सकता, हमारा उद्देश्य तो स्वय तरकर तारनेका ही हो सकता है।

लेकिन यह कैसे हो सकता है कि मेरा भाई तो भूखो मरे और मै खाऊ? भूखेको खिलाकर मै खाऊ, क्या यह मानव-धर्म नही है? मानव-धर्म तो है, पर इसकी मर्यादा हरएक व्यक्तिके लिए अलग-अलग है। धर्म-राज्यमे 'गृहमत्री' का ऐसा धर्म हो सकता है कि जब तक राज्यमें कोई प्रजाजन विना किसी अपराधके भूखा रहे तब तक वह खुद न खाये। यही धर्म एक गावके पटेलका हो सकता है, पर उसकी मर्यादा गाव तक ही होगी। गृहमत्री और पटेलके हाथमे अपनी-अपनी क्षेत्र-मर्यादामे प्रत्येक मनुष्यके लिए किसी-न-किसी तरह भोजन जुटानेकी व्यवस्था करनेका अधिकार है। यह उनका कर्तव्य और अभिवचन भी समझा जायगा। अत. देश या गावकी भुखमरीके लिए वे जवावदार भी समझे जायगे। यही धर्म कुटुम्ब या सस्थाके वडे-बूढोको अपने कुटुम्वी, सम्वन्धी, साथी, अतिथि, नौकर-चाकर और घरके प्राणियोकी मर्यादामे पालना है। इसके अलावा आकस्मिक प्रसगमे मनुष्यमात्रके लिए यह धर्म है। हमें यह पता चले कि किसी गाम

आदमीको सारे दिन खाना नही मिला और हम इतने पास रहते हो कि उस व्यक्तिको भोजन पहुचाया जा सके, तो हमारे लिए खुद भूखे रहकर भी उसे खिलानेका धर्म उत्पन्न हो जाता है। कोई मनुष्य केवल अपने गुजारे जितना ही प्राप्त कर सकता हो, तो भी यदि वह रोज एक भूखे मनुष्य या प्राणीकी परवरिश करता है और इस कारण वह खुद हमेशा ही अधपेट रह जाता है, तो उस पुरुषको वन्दनीय और उसके त्यागको एक महान जीवन-यज्ञ समझना चाहिये। पर दूसरोकी परवरिश किये वगैर या अन्न पैदा करनेके लिए कोई श्रम किये विना अथवा वैसा श्रम टालनेके लिए — केवल इस ज्ञानसे कि दुनियामे कुछ मनुष्योको भूखो मरनेका कष्ट सहना पड रहा है — यदि कोई मनुष्य अधपेट रहनेका व्रत ले ले, तो उसका वह त्याग भूलभरा है। क्योकि उसका न खाया हुआ अन्न किसी अन्नार्थीके पास ही जायगा, ऐसा विश्वास नही है। इन दोनो त्यागोके पीछे कृपणताका दोष छिपा हुआ है।

"अन्नकी निन्दा न करना, अन्नको खराव न होने देना; अन्नको वढाना, अन्नार्थीको खाली हाथो न लौटाना, यह व्रत हम ले" — इस आशयका उपनिषद्में एक उपदेश है और वह उचित है।

हरिजनसेवक, २३–५–'३६

१३

लाचारी और आदर्श

'त्यागका आदर्श' शीर्षक मेरे लेखसे कुछ गलतफहमी पैदा हुई है। उसकी मै सफाई कर देना चाहता हू। मेरे पास एक मित्रका पत्र आया है, जिसका कुछ अश मै नीचे उद्धृत करता हू

"आपको यह मालूम है कि हमारा उत्कल प्रात बेहद गरीब है। औसतन् ९० फीसदी आदमियोको यहा घी-दूध नही मिलता। ज्यादा-से-ज्यादा ३।। रु० मासिक उनका भोजन-खर्च आता है। इस परिस्थितिमे जो ग्रामसेवक (जो कि टॉर्च, केमेरा आदि पर एक पाई भी खर्च करना पाप समझता है) इसी वर्गके लोगोकी सेवा करेगा और अपने खाने-पीनेके लिए उन्हीके ऊपर निर्भर होगा, वह यदि उन ग्रामवासियोंसे १० या १२ रु० मासिककी आशा रखेगा, तो क्या यह उसकी हृदयहीनता न होगी? . . . अगर तीन आनेके दैनिक खर्चमे विज्ञान-सम्मत खुराककी व्यवस्था हो सकती है, तो फिर आप क्यो एक ग्रामसेवकको १० या १२ रु० मासिक खर्च करनेका उपदेश देते है?"

मेरे कहनेका मतलव यह नही है कि हमे भोजनके लिए १० या १२ रु० मासिक खर्च करना ही चाहिये, और जब तक भोजन-खर्च उस हद तक नही पहुंचा है तव तक हमारा सारा भोजन-खर्च निर्दोष है। वास्तवमे १२, १०, ५, ३ या २ रुपयेसे कोई मर्यादा वताना भ्रमोत्पादक है। जो भोजन उडीसाके गावमे रु० ३।। मे मिल जाता है, उसी पर वम्बईमे ८–९ रुपये खर्च हो सकते है और गुजरातमे ५–६ रुपये। मतलव यहा पैसेमे नही, परन्तु आरोग्यवर्धक अन्नमे है। अगर रु० १ मासिकमे ही आरोग्यवर्धक भोजन मिल जाता हो, तो रु० १। तक जानेकी भी जरूरत नही है।

उडीसामे रु० ३।। मे मनुष्यका गुजारा हो जाता है और सावली (मध्यप्रात) मे कुछ लोगोका गुजारा सिर्फ एक रुपये मासिकमे ही हो

जाता है। इतनी खुराक पर वे जिन्दा रहते हैं, परिश्रम करते हैं और प्रजावृद्धि भी करते हैं। फिर भी यह खुराक शरीरके उचित धारण-पोषणके लिए पर्याप्त नही मानी जायगी। इतनी ही खुराक पर गुजारा करना यह हमारे लिए आपद्-धर्म या लाचारीकी खुराक हो सकती है। क्या ग्रामसेवक और क्या साधारण जनता, सभीके लिए यह लाचारीकी खुराक लेना आवश्यक हो सकता है। पर इसे हम आदर्श नही बना सकते, न बनाना चाहिये। आदर्श खुराकका मतलब यह होता है कि उससे अधिक प्राप्त करनेके लिए न तो हम खुद पुरुषार्थ करे, न जनताको ही उसके लिए प्रेरित करे; और अधिक प्राप्त हो भी जाय तो उसे स्वीकार न करे। बरफी, पेड़ा, लड्डू आदि पदार्थ आदर्श खुराकमें नही आ सकते। अर्थात् सहज ही मिल जाने पर भी उनका परित्याग करनेमे दोष नही है। दूध आदर्श खुराकमे त्याज्य नही है। उसे स्वय प्राप्त करना और जनताको भी वह प्राप्त हो इसके लिए प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य हो जाता है, और वर्तमान अवस्थामे तो अवश्य ही हमारा कर्तव्य है। लेकिन सबको दूध नही मिल सकता, इसलिए उसे छोडनेका व्रत लेकर बैठ जाना उचित नही है। इसी तरह यदि भिन्न-भिन्न प्रकारके गेहूं, चावल आदि धान्य उत्पन्न होते हो, तो जो गुणमे बढिया हों उन्हे प्राप्त करना और जनताको उन्हें उत्पन्न करने तथा उपयोगमें लानेके लिए प्रेरित करना हमारा कर्तव्य है, न कि हीन गुणवाले अन्नसे निर्वाह करनेका व्रत लेना।

मेरा मतलब यह नही कि हम जनतासे यह कहे कि दूध-घी तथा दूसरी उत्तम खुराक प्राप्त होने पर ही हम उसकी सेवा करेंगे। सूखे चने फाककर भी हम सेवाकार्यमे डटे रहें। पर उसी खुराक पर गुजारा करना चाहिये, ऐसा आदर्श हम न मान ले। आदर्श तो जनताको उत्तम और पर्याप्त खुराक पर ले जानेका ही होना चाहिये।

उस लेखके द्वारा मैं दूसरी बात यह समझाना चाहता था कि अपने जीवनकी आवश्यकतायें पूरी करनेमें सबसे पहले हम उत्तम अन्न, वस्त्र और घर प्राप्त करने पर ध्यान दें, बादमे दूसरी चीजो पर। हो सकता है कि टॉर्च, केमेरा आदि पर उडीसाके ग्रामसेवक एक पाई भी खर्च न

कर सकते हों। अन्न, वस्त्र और घरके सिवा दूसरी चीजो पर उडीसाके सेवक या लोग कुछ भी खर्च नही करते और अच्छे अन्न, वस्त्र और घर प्राप्त करनेमे और रखनेमे ही सर्वप्रथम वे अपनी शक्ति और धनका व्यय करते है, ऐसा कहा जाय तो उस पर मुझे जरूर शका होगी। कभी मुझे उडीसा जानेका मौका मिला और ऐसा अनुभव हुआ, तो मुझे वडी प्रसन्नता होगी। यदि उडीसाकी जनताका और सेवकोका स्वभाव ही यह हो, तो वहांकी प्रख्यात दरिद्रताका कुछ और कारण होना चाहिये। यह लेख मै विहारके देहातोमे घूमते हुए लिख रहा हू। यहाके ग्रामसेवकोका भोजन-खर्च भी रु० ३ या ३।। के अन्दर ही होता है। और भी वहुतसी कठिनाइया वे वरदाश्त करते है। इतनी खुराक भी वे लोग ज्यादातर मुट्ठी मुट्ठी अनाज मागकर ही प्राप्त करते है या किसी गृहस्थके घर जाकर भोजन कर लेते है। फिर भी इसमे वे कष्ट नही मानते। यह उनकी आदत-सी हो गई है। इसलिए इस परिस्थितिमे सुधार करनेकी ओर उनका वहुत ध्यान गया है, ऐसा मालूम नही होता। मेरा नम्र निवेदन यह है कि हम इस परिस्थितिको कष्ट समझकर सहन करे, न कि उसे आदर्श व्यवस्था समझकर उसीको ग्रहण करने योग्य मानें। प्रकृतिकी अत्यत कृपावाले इस प्रान्तमे भी वेचारे वैल धानके सूखे पुआल पर जिन्दा रहते है, और वैल इतने पर गुजारा कर सकता है इस खयालसे इतना ही उसके लिए काफी है ऐसा लोगोने मान लिया है। इसके फलस्वरूप इस 'सुजला सुफला' भूमिमे भी वैलको देखकर मन प्रसन्न नही होता। उलटे आसू वहानेकी इच्छा होती है। लेकिन जहा मनुष्य भी अपने लिए उसी पैमानेको योग्य मानकर जीवन व्यतीत करता हो, वहा वैलकी हालत कैसे अच्छी हो?

मेरे कहनेका आशय यह नही है कि देहाती जनतासे ग्रामसेवक अपने भोजन-खर्च लिए रु० १० या १२ की माग करे। पर यह खयाल गलत है कि देहाती जनता जिस खुराक पर अपना निर्वाह करती है वह पर्याप्त है। जिस पत्रके उत्तरमे मैने ये लेख लिखे थे, वह वम्वईमे रहनेवाले एक युवकका पत्र था। रु० ३।। मे हिन्दुस्तानकी अधिकाश जनता अपना निर्वाह कर लेती है, इसलिए वम्वईके

उस युवकके लिए उतने खर्चमे जितनी खुराक प्राप्त हो सके उतनीसे ही गुजारा करनेका व्रत लेना और यह मानना कि इसीसे जनताकी सेवा होती है, गलत है। यही मुझे वताना था। जनताके साथ रहते हुए उसके कष्टोंको स्वय सहन करना और सहन करते हुए उन्हे मिटानेका प्रयत्न करना एक वात है, और केवल सहानुभूतिके कारण दूरसे अपने घरमे वैठे वैठे कष्ट सहनेका व्रत लेना दूसरी वात है। यह दूसरी वात गलत है।

आशा है, इससे मेरा अभिप्राय स्पष्ट समझमे आ जायगा और उसका अनर्थ न होगा।

हरिजनसेवक, ३०-५-'३६

१४

कार्यकर्ता, सावधान!

मैंने 'त्यागका आदर्श' शीर्षक लेखमे यह लिखा था कि कुछ कार्यकर्ता भोजनादिमे तो वहुत ही अल्प व्यय करते है, लेकिन डाक, केमेरा, टॉर्च आदिमे अधिक अपव्यय करते है। इस विचार पर एक सज्जनने प्रश्न किया था कि देहाती कार्यकर्ताओंके पास वैसे ही खर्चके लिए गुजाइश नही रहती, तव भला वे इस प्रकारका फिजूल खर्च कैसे करेगे? अर्थात् मेरा कहना उन्हे कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम हुआ।

अभी मेरे सामने पाच-छह उदाहरण ऐसे तरुण कार्यकर्ताओंके है, जिनमे मै सिनेमा आदिका शौक वढता हुआ देखता हू। छोटे शहरमे अथवा उसके आसपासके गावोमे कार्य करनेवाले तरुणोमें—और कभी कभी प्रौढोमें भी—अपने दिलको इस तरह वहलानेकी अभिलाषा उत्पन्न होना—जिस परिस्थिति और प्रलोभनोके वीच आज हम रहते है उनका विचार करे तो—आश्चर्यकी वात नही है। पर सयम और सेवामय जीवन व्यतीत करनेकी अभिलाषा रखनेवाले सेवकोको इस व्यसनसे खूव सावधान रहना चाहिये। एक तरफ तो

जनता पैसे-टकेसे तगदस्त हो रही है और दूसरी ओर उसके सामने नाटक-सिनेमा वगैराके प्रलोभन दिनोदिन ज्यादा तादादमे पेश किये जा रहे है। यह कोई मामूली आर्थिक सकट नही है। लेकिन सेवा-भावी युवकोके लिए तो आर्थिक सकटसे भी अधिक अवपतनकी सामग्री लेकर यह चीज उपस्थित हो रही है।

यों तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो नाटक और सिनेमा दिल-बहलावके निर्दोप साधन ही माने जाते है। इतना ही नही, बल्कि अनेक बार ये ज्ञानवर्धक और कभी कभी शुभ भावनाओके पोषक भी होते है। पूज्य गाधीजीने खुद अपनी आत्मकथामे लिखा है कि बरसो पहले उन्होने हरिश्चन्द्रका नाटक देखा था और उसका उनके दिल पर अमिट असर हुआ था। और भी कई लोग इसी तरहका अनुभव सुना सकते है। इसका अर्थ यही है कि नाटक और सिनेमामें मनुष्यके दिल पर असर पैदा करनेकी बडी तीव्र शक्ति होती है। पाठशाला-ओकी पढाईका भी इतना असर नही होता। पर इसी कारण नाटक और सिनेमा जहा एक तरफ अमृत-तुल्य है, वहा दूसरी तरफ वे हलाहल भी सिद्ध हो सकते है।

नाटक और सिनेमाका आकर्षण बढानेके लिए वस्तु (विपय) के अतिरिक्त रगभूमि और पात्रोकी सजावट व श्रृगारका भी हमेशा महत्त्व माना गया है। फिर भी ३०–४० वर्ष पहले यह सजावट उस समय उपलब्ध होनेवाले सीधे-सादे और थोडेसे साधनो तक ही मर्यादित थी। पर आज तो इस कलाका इतना विकास हो गया है कि अपने पुरखोको हमने एक तरफ बैठा दिया है। इसलिए हम यह नही कह सकते कि आजके हरिश्चन्द्र नाटकका अभिनय ३०–४० वर्ष पहलेके हरिश्चन्द्रके अभिनयके समान ही सात्त्विक होता है।

और नाटक तो आखिर नाटक ही ठहरा। नाटकका अभिनय कम्पनिया जनताको सुसस्कारी बनानेके लिए थोडे ही करती है। वे तो धन कमाना चाहती है। इसलिए वे उन तमाम तरकीबोसे काम लेती है, जिनसे लोग आकर्षित होकर वहा आवे। इसलिए सात्त्विक नाटकोमे भी थोडी-बहुत ऐसी राजस सामग्री रहती ही है, जिससे कि

हल्की वृत्तिवाले लोगोकी रुचिका भी अनुरजन हो। "रंग भंगका लोटा" वाला गायन तो हरिश्चन्द्र नाटकमे ही है न? कहा सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रका जीवनादर्श और कहां भग पीनेसे "मन मैल मिटे, तन तेज चढे" वाला उपदेश! परन्तु यदि अभिनय करनेवाले हरएक नाटकमे ऐसी थोड़ी-बहुत मनोरजक सामग्री न रखे, तो उनका काम चल ही नही सकता।

इस विषयमे भी ३०–४० वर्ष पहलेके मुकावलेमे आज वेहद तरक्की हो गई है। नाटकका स्थान अब सिनेमाने ले लिया है। और सिनेमामे एकाध ऐसा सात्त्विक खेल हो, तो भी उसके आरभ और अन्तमें हीन वृत्तियोको उत्तेजित करनेवाले प्रहसन रहते ही है।

नाटक, सगीत वगैरा सब कलाये हैं। कला अपना हृदयगत आनद व्यक्त करनेका एक स्थूल साधन है। पर जब वह अपने इस रूपको छोड़कर आजीविकाके लिए लोक-रजन करने निकल पड़ती है, तब वह मायाका रूप धारण कर लेती है। सीताजीको सोलहो आने शुद्ध बतानेके लिए तुलसीदासजीने रामचरित-मानसमे यह कल्पना की है कि रावणके आनेसे पहले असली सीताजी अतर्धान हो गईं और अपने स्थान पर एक मायिक सीताको छोड़ गईं। रावणने जिनका हरण किया, वह असली सीताजी नही थी। पर इस बातको सिवा राम-चद्रजीके और कोई जान ही नही सका। इसी तरह पैसे कमानेके लिए जब कलाका उपयोग होता है तब वह असली कला नही होती, किन्तु कलाकी मायिक छायामात्र होती है।

इसलिए नाटक या सिनेमामे श्रीराम, सीताजी, तारा, तुकाराम, एकनाथ आदि बननेवाले लोग इन महान विभूतियोका अभिनय करने पर भी ज्यो-के-त्यो कोरे ही रहते है। कलाकी नही बल्कि कलाकी मायिक छायाकी उपासना करनेके कारण इन पेशेवर लोगोमे से अधिकाशका चरित्र भी दिनोदिन हीनताकी ओर जा रहा है और वे अनेक व्यसनोके शिकार बनते जा रहे हैं। परिणाम-स्वरूप हरिश्चन्द्र और रामकी भूमिकारूपी शक्करके साथ-साथ इन अभिनेताओके हीन चरित्रका विष भी प्रेक्षकोको छुए बगैर नही रहता। इनकी आखो और

हाथ-पैरोसे व्यक्त होनेवाले हावभावोसे सात्त्विकता नही, किन्तु राजस वृत्ति ही प्रगट होती है।

इसलिए ये सात्त्विक कहे जानेवाले सिनेमा तथा नाटक भी उन युवकोके लिए खतरनाक है, जो अपने सयम और सेवावृत्तिकी रक्षा करना चाहते है। मुझे तो आजके थियेटरोमे दिखाये जानेवाले नाटक-सिनेमा शराब और तम्बाकूके विषोमे भी अधिक भयानक मालूम होते है। अनुभवी लोग कहते है कि तम्बाकू और शराबका व्यसन करनेवाले स्थिरवीर्य नही रह सकते। फिर भी इन व्यसनोका सेवन करनेके कुछ समय बाद शायद इनका कोई असर नही रहता होगा। पर नाटक-सिनेमाके एक बारके सेवनका असर शायद जीवनभर बना रह सकता है। और आजीवन न रहे तो भी काफी लबे समय तक तो वह रहता ही है। कोई-न-कोई विलासी दृश्य, हावभाव या सूक्ष्म सूचन युवकोके चित्त पर सस्कार छोड ही जाता है और इच्छा न होने पर भी उसकी स्मृति जाग उठती है और उनकी तमाम सयम-साधनाको मिट्टीमे मिला देती है, जिसकी उन्होने बडी मेहनतके साथ बरसो उपासना की है। उनकी वासनाए जागृत हो जाती है और कितने ही दिनोकी सगृहीत शक्तिका बाध टूट जाता है।

कितने ही युवक देशप्रेमकी भावनासे सेवाक्षेत्रमे आये है। मातृभूमिकी सेवामे ही हमारा सारा जीवन अर्पित हो जाय, ऐसी उदात्त साध वे अपने मनमें रखते है। इनमे से अनेकोने तो अपने परिवारका विरोध भी बरदाश्त किया है, द्रव्यार्जनके लोभ और अवसरोका जान-बूझकर त्याग किया है, कभी कभी कुटुम्बी जनोको रुलाया तक है। अगर वे अपने मनोरथोको सिद्ध करना चाहते है, अपनी मातृभूमिके लिए अपने सुखोकी कुरबानी करनेकी शक्ति सपादन करना चाहते है, उसकी रक्षा करना चाहते है और सेवाक्षेत्रमे डटे रहना चाहते है, तो उन्हे शराब और तम्बाकूके व्यसनोकी अपेक्षा नाटक-सिनेमा आदिके सेवनमे अधिक सावधान रहनेकी जरूरत है। अगर वे उन नरमा मनोरजन प्राप्त करना ही चाहे, तो सस्थाओके उत्सवो और सम्मेलनोमे प्राप्त कर सकते है।

इस्लाम और ईसाई धर्ममे मुहम्मद और ईसाके नाटक खेलनेकी सख्त मनाही है। हिन्दू धर्ममे ऐसी मनाही नही है। मेरी अपनी राय यह है कि धार्मिक व्यक्तियोके नाटक पेशेवर नटो द्वारा नही खेले जाने चाहिये, और न ऐसे नाटकोके प्रयोगो पर किसी प्रकारका टिकट होना चाहिये। नाट्यकलाके जानकार प्रौढ आयुके चरित्रवान स्त्री-पुरुष केवल भक्तिभावसे एकाध वार ऐसे नाटकोका अभिनय करके दिखाना चाहे, तो भले ही दिखावे। अगर ऐसे लोग न मिले, तो छोटे छोटे बच्चो द्वारा भी ऐसे प्रयोग हो सकते है।

हरिजनसेवक, २८-११-'३६

१५

कमजोर सात्त्विकता

हमारे देशमे एक अच्छासा वर्ग ऐसे पढे-लिखे और विचार करनेवाले लोगोका पाया जाता है, जो दिलसे भले है, भलाई चाहते है और भलाईकी राह पर चलकर अपने मन और कर्मोको ज्यादासे ज्यादा पवित्र बनाते रहना चाहते है। लेकिन साथ ही वे अपनेमे एक तरहकी कमजोरी भी महसूस करते है। वे अपने निश्चयो पर स्थिर रहने या उन पर अमल करनेकी अपनेमे शक्ति नही पाते। इसलिए वे चाहते है कि कोई ऐसा अच्छासा आधार उन्हे मिल जाय, जिसे पकड कर वे आसानीसे उन्नतिके मार्ग पर चल सके। अपने आसपास वे ऐसा कोई वायु-मण्डल नही पाते, जो उन्हे अच्छे कामो और विचारोकी हमेशा प्रेरणा देता रहे, उनका जोश और उत्साह बढा दे और उनकी सद्भावनाको अमलमे लानेका कोई तैयार उपाय और युक्ति उन्हे बता दे। उलटे वे अपने आसपासका वायु-मण्डल — घरमे, जातिमे, गावमे, मदिरोमे और मठोमे, सरकारी दफ्तरोमे तथा सार्वजनिक सस्थाओमे — स्वार्थ, तगदिली, दभ, छल-कपट आदिसे भरा हुआ देखते है। परिणाम-स्वरूप कही भी उनका मन शान्ति नही पाता।

ऐसे प्रतिकूल वातावरणसे परेशान होकर कुछ तरुण एक दिन जोशमे आकर घर छोड देते है और किसी दूरके स्थान पर किसी प्रसिद्ध पुरुष और उसके आश्रमका आश्रय खोजते है। उत्तरका तरुण दक्षिणमे जाता है और दक्षिणका उत्तरमे। प्राय. वहासे भी निराश होकर वे वापिस घर लौटते है और फिर भलाई तथा उन्नति परसे उनकी श्रद्धा ही उठ जाती है। "दुनियामे भलाई करनेमे कोई लाभ नही", यह उनके अनुभवका निचोड हो जाता है।

लेकिन इस तरह एक वार भी घर-वार छोड सकनेवाले लोग इने-गिने ही होते है। हजारो आदमियोके लिए यह रास्ता भी वन्द-सा होता है। वचपनसे ही पारिवारिक वधनोमे वे इस कदर फसे हुए होते है कि घरसे दूर जाना और अपने जीवनका रास्ता विलकुल निराला कर लेना उनके लिए असभव होता है। एक ओर उनमे इतना जोश और कर्तृत्व नही होता कि वे अपने आसपासकी कठिनाइयोका सामना करके उच्च ध्येयकी ओर अपने कदम स्थिरतासे वढा सके। दूसरी ओर उनमे उच्च जीवन और वायु-मण्डलकी भूख वनी रहती है। परिणाम-स्वरूप उनका जीवन "न मिला ही खुदा न मिला ही सनम, न इधरके -रहे न उधरके रहे" के अनुसार निराश, अतृप्त और अप्रसन्न रहता है और धीरे-धीरे उनका स्वभाव भी सात्त्विकता और सत्प्रवृत्तिकी ओर वढनेके वजाय क्रोध, आलस्य, कोरी तत्त्वचर्चा व थोथे वेदान्तकी ओर वढनेवाला, हरएककी कमियोकी सूक्ष्म खोज करनेवाला वनता जाता है और अकर्मण्यताके प्रति झुकता जाता है।

मै जहा तक सोच सकता हू, इन सवके जीवनकी मुख्य समस्या यह है—उनकी कर्तृत्व-शक्ति, त्यागशक्ति और आत्म-सयमकी शक्ति मर्यादित है, फिर भी उनकी उन्नतिकी अभिलाषा सच्ची है। वे किस तरह अपने इर्द-गिर्द ही उन्नतिकी ओर ले जानेवाला वायु-मण्डल पैदा करे?

विचार करने पर मालूम होगा कि इस मनोदशाके पीछे एक तरफ सात्त्विकता और दूसरी तरफ कमजोरीका मिश्रण है। हमारे समाजमें ऐसी वेमेल अवस्था पैदा होनेके कारण यदि हम खोजेंगे,

तो मेरा खयाल है कि अकसर नीचे लिखी परिस्थितियोमे से कोई एक या अधिक उसके लिए कारणभूत मालूम होगी

१ बचपनमे और जवानीके शुरूके दिनोमे प्रसन्नताके साथ शारीरिक मेहनत करनेकी रुचि और आदतका अभाव, घरके काम, खेल-कूद, व्यायाम, हाथ-पैर चलाकर कोई वस्तु बनाने या सुधारनेकी मेहनत और कलाके प्रति अरुचि।

२. दिनचर्याका बहुतसा हिस्सा पढने-लिखनेमे लगानेका शौक; फिर वह पढना-लिखना चाहे पाठशालाके विषयोंका हो, उपन्यासोंका हो या धार्मिक साहित्यका ही क्यो न हो।

३ अथवा उसमे भी अरुचि और केवल सुस्त बैठे रहने, बहुत सोने या निकम्मी ग्रामचर्चाए करनेकी आदत।

४ अपनेमे जो कुछ शक्तिया अथवा सद्गुण हो, उन्हे बढानेका विचार करनेके बदले अपनी कमियोका ही चिन्तन करते रहनेकी आदत।

५ सर्वत्र अनास्था, अश्रद्धा और भावनाओकी शुष्कता।

६ तत्त्वज्ञानके अन्तिम सिद्धातोकी निरीक्षण, अभ्यास और अनुभवके द्वारा प्रतीति पानेकी कोशिश करनेके बदले कल्पना, तर्क और शास्त्रार्थ द्वारा तथा अध्यास और केवल तोता-रटत करके निश्चय करनेकी कोशिश।

७ धार्मिक ग्रथोकी अत्युक्तिपूर्ण और एकागी कथाओको वर्तनका आदर्श समझनेकी भूल। उदाहरणके लिए, अतिथि-सत्कारके विषयमें कबीरका या चेलैयाका आख्यान, नाम-स्मरणके बारेमें अजामिलकी कथा आदि।

८. किसी एक गुण, धर्म या साधनको सब गुणो, धर्मों और साधनोको परिपूर्ण करनेवाला समझनेकी भूल। उदाहरणार्थ 'अहिसा परमो धर्म' कहा गया है। लेकिन इसके मानी यह नही कि दूसरे गुण, धर्म और साधनोकी कोई जरूरत नही है और एक अहिसाकी पराकाष्ठा हो जाय तो जैसे शरीरके साथ छाया आती है वैसे ही दूसरे गुण, धर्म या साधन अपने-आप ही पूर्ण हो जायगे।

९ व्रत-तप-सयमोके विषयमे एक ओर बहुत ही ऊचे और असाध्य आदर्शकी कल्पना और दूसरी ओर भोगोमे सामान्य नियमोका पालन करनेकी भी अशक्ति और मानसिक अस्थिरता।

१० ऐसा साधन या युक्ति खोजनेकी इच्छा, जिससे जीवन सुखसे बीते, बहुत पुरुषार्थ या त्याग न करना पडे, साधन-संयम आदिका कष्ट न उठाना पडे और फिर भी जीवनका पूर्ण उत्कर्ष और शाति प्राप्त हो।

११ "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥"*
(गीता, १८–६६)

यह कहकर ऐसी साधना और कर्तव्य-पालनके परिश्रमसे मुक्ति देनेवाले गुरुकी खोज।

और भी कुछ कारण बताये जा सकते है—जैसे असस्कारी, केवल धन-लोलुप और पुराने खयालोमे मशगूल परिवारके बीच जीवन, बाल-विवाह आदि।

अगर कमजोर सात्त्विकताका यह निदान सही हो, तो स्पष्ट है कि इन कारणोको जितनी हद तक एक आदमी हटा सकेगा, उतनी हद तक वह अपनी प्रगति कर सकेगा और जीवनमे सहेतुकता, प्रसन्नता और शातिका अनुभव कर सकेगा तथा अपने इर्द-गिर्द अपने और दूसरोके लिए भी एक अच्छा वायु-मण्डल पैदा कर सकेगा।

इन कारणोको हटानेके लिए तीन वस्तुओकी जरूरत है (१) कुछ बातोके विषयमे भ्रम-निरास, (२) धृति अर्थात् स्थिरतापूर्वक सतत प्रयत्न, और (३) अनुकूल कर्मयोग।

हरएकके विषयमे मै थोडासा यहा लिख देता हू।

१ **भ्रम-निरास**—धर्म और साधन-योगसे सबध रखनेवाली अनेक बातोमे हमारे दिल पर गलत तत्त्वज्ञान या सच्चे तत्त्वज्ञानकी

* सब धर्मोको छोडकर तू मेरी ही शरणमे आ। मै तुझे सब पापोसे छुटा दूगा। तू चिन्ता न कर।

गलत समझके और गलत आदर्श या सच्चे आदर्शकी गलत कल्पनाओके सस्कार पडे होते है। मेरे खयालसे मनुष्यकी कर्तृत्व-शक्तिके प्रवाहको सुखा देने या रोक देनेमे शुद्ध अज्ञानकी अपेक्षा भ्रमयुक्त ज्ञानका हिस्सा वहुत जवरदस्त होता है। उदाहरणके तौर पर कुछ ऐसे गलत खयाल ये है

(क) **ज्ञान और मोक्ष**—"ऋते ज्ञानान्न मुक्ति ।" ज्ञानके विना मोक्ष नही, ऐसा उपनिषद्का सूत्र है। सूत्र तो अच्छा है। लेकिन ज्ञान क्या और मोक्ष क्या—इसके वारेमे हमारे दिल पर विचित्र खयालोका सस्कार पडा हुआ है। ज्ञान परसे साक्षात्कार अथवा किसी अनोखी—गूढ वस्तुका दर्शन, चौबीस तत्त्वोकी सूक्ष्म छान-वीन, मायावाद, अलिप्तता आदिके खयाल वने हुए है। और मोक्षके मानी जन्म-मृत्युसे छुटकारा—इसे हमने जीवनका सबसे ऊचा और श्रेष्ठ पुरुषार्थ माना है। फिर जीवनसे सबध रखनेवाली सैकडो वातोके वारेमे घोर अज्ञान और भ्रम रखते हुए और मानव-उत्कर्षके लिए अनेक आवश्यक गुणोका अभाव होते हुए भी हम अपनी वासनाओका परीक्षण किये विना और उन्हे दूर करनेका उचित उपाय प्राप्त किये विना एकदम ज्ञान और मोक्षकी प्राप्तिको अपना ध्येय बनानेका खयाल करते है और कृत्रिम साधनोके पीछे लगते है।

हमे गर्व है कि हमारे देशने अध्यात्म-विद्यामे पराकाष्ठा प्राप्त की है और न सिर्फ आत्माका अविनाशित्व वल्कि उसका ब्रह्म या विश्वके मूल तत्त्वके साथ तादात्म्य भी सिद्ध किया है। फिर भी कितने आश्चर्यकी वात है कि जन्म-मृत्युका जितना डर हमे है उतना किसी दूसरी अज्ञान मानी हुई मानव या मानवेतर जातियोको भी नही है। वास्तवमें देखे तो जन्म तो हो गया और गर्भवास तथा जन्मके समयके दुःख-सुखका हमें कोई स्मरण नही है। सच तो यह है कि जन्मपूर्वकी परिस्थितिमें १० मासका गर्भवास ही जीवनके लिए सुरक्षित स्थान होता है और उसके वाद योग्य समय पर ही उसका वाहर आना हितावह है। लेकिन कल्पनासे हम भविष्य कालके जन्मोका चित्र खडा कर लेते है। और कविने गर्भवासकी यातनाओका

जो काल्पनिक वर्णन धार्मिक ग्रथोमे प्रस्तुत किया है, उसे सच्चा मानकर उससे बचनेकी चिन्ता करते हैं। यही बात मृत्युकी है। मृत्युका डर एक तरहसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। उसके लिए आत्म-अनात्म विवेक ठीक है। अगर उतना ही मनुष्य दृढ कर सके तो काफी है। वह न कर सके तो भी,

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुव जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्व शोचितुमर्हसि ॥"*

(गीता, २–२७)

—यह विचार वह पक्का कर ले तो भी बस है। लेकिन हमारे दिल पर तो इस देहकी मृत्युका नही, बल्कि अनेक जन्मोकी भावी मृत्युओका डर सवार रहता है और कल्पनासे बने हुए जन्म-मृत्युके भयसे छुटकारा पाना हमारे जीवनका लक्ष्य बन जाता है।

(ख) **नाम-स्मरण**—हमारे साधन-मार्गमे भी ऐसी बहुतसी कृत्रिमताये और विलक्षणताये पैदा हो गई है। चित्त-शुद्धिकी साधनामे नाम-स्मरण एक अच्छा सहारा अवश्य है और उसमे जपकी सख्याकी अपेक्षा सतत जागृतिका महत्त्व है। लेकिन कविने उसकी महिमाका वर्णन करते समय अनेक गलत दृष्टान्त खडे कर दिये है। इस कारण किसी भी तरह माला फेरते रहने और जप-बैंकमे जपोकी रकम जमा करानेको ही साधना माना जाता है।

(ग) **संयम**—मन, ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियोके सयम—नियत्रणके बिना कोई पुरुष या स्त्री अपना शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक विकास और गुणोत्कर्ष नही कर सकता। लेकिन इनकी एक एक बातका जब ब्योरेवार वर्णन दिया जाता है, तब हरएकका बडा विलक्षण आदर्श और माहात्म्य खडा कर दिया जाता है। स्वभावकी प्राकृतिक–नैसर्गिक प्रेरणाओको सुसस्कृत करने और उन पर अपना स्वामित्व जमानेका क्रम-मार्ग निर्माण करनेकी अपेक्षा इन प्रेरणाओको

---

* जो जन्मा है उसका मरण निश्चित है, और जो मरा है उसका जन्म निश्चित है। इसलिए जो बात टल नही सकती, उसका तुझे शोक न करना चाहिये।

नष्ट करनेका आदर्श रखा जाता है और तरह-तरहके इन्द्रिय-दमनके व्रत-तप और कृत्रिम नियम बरते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि इन प्रेरणाओंको दबाते रहनेके निष्फल प्रयत्नमे ही सात्त्विक वृत्तिके लोगोंकी बहुतसी शक्ति खर्च हो जाती है। जीवनके अन्त तक दमनमें पूरी सिद्धि तो मिलती ही नही। बीच-बीचमे जोरोसे प्रकृति अपना बल बताती है और एकाध भयकर और लज्जाजनक गलती कराके मनुष्यकी वर्षोंकी साधना और प्रतिष्ठा पर पानी फेर देती है और कभी-कभी दम्भके नरकमें फेक देती है। इसकी अपेक्षा जो लोग साधनाके पीछे न पडकर बर्तनकी एक धर्म्य मर्यादामे रहते हुए सयमी जीवन व्यतीत करते है, वे ज्यादा तेजस्वी, कर्तव्यनिष्ठ, प्रसन्नचित्त और नीरोग भी पाये जाते हैं।

"कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियै कर्मयोगमसक्त स विशिष्यते॥"*

(गीता, ३–६, ७)

इस तरह अनेक तरहके आदर्श, साधना, पूजा-विधि, सदाचार-दुराचारके नियम, पूर्णता-अपूर्णताके मापदण्ड वगैराके बारेमे गलत खयालोंके हमारे मन पर गहरे सस्कार पडे हुए है। वे हमारी शक्तिको नष्ट करते हैं और जिन प्रत्यक्ष अज्ञान, रोग, दारिद्र्य, आपसी वैर, छल-कपट, गुलामी वगैरा दु खोंसे मुक्त होनेमे हमारी सात्त्विक बुद्धिका उपयोग होना चाहिये और हमारी कर्तृत्व-शक्ति लगनी चाहिये, उनके लिए पुरुषार्थ करनेसे हमे रोक देते हैं। भ्रमोंकी शिलाके नीचे हमारे पुरुषार्थका स्रोत छिपा रहता है। इस शिलाको हटाये बिना वह स्रोत बाहर नही निकल पायेगा।

---

* कर्मेन्द्रियोंका सयम करके, इन्द्रियोके विषयोंका जो मूढ मनुष्य मनमे स्मरण किया करता है, उसका संयम मिथ्याचार है। परन्तु जो इन्द्रियोंको मनसे नियममे रखता हुआ, इन्द्रियोंके जरिये अनासक्ति-पूर्वक कर्मयोगका आचरण करता है, वह मनुष्य विशेष है।

२. धृति — यह दूसरी महत्त्वकी वस्तु है। गीतामे बुद्धि और धृतिके भेदोका पास-पास ही वर्णन है। फिर भी हमारे शास्त्रीय ग्रथोमें मनुष्यकी उन्नतिमे धृतिके महत्त्व और विकास पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। बुद्धिके नाम पर सूक्ष्म तार्किकताका हमारे विद्वानोमे बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है, लेकिन धृतिका बहुत कम खयाल पाया जाता है। धृतिके मानी है धारण-शक्ति। बुद्धिसे एक सिद्धान्तका निर्णय तो हमने कर लिया, लेकिन निष्ठासे उसी सिद्धान्त पर अपनी जीवन-व्यवस्था करनेके लिए जो दृढता चाहिये उसमे हम बडे ढीले है। सिद्धान्तमे हम सब वेद-धर्मी, जैन-धर्मी या बौद्ध-धर्मी प्राणीमात्रकी समानताके सिद्धान्तका इतने व्यापक रूपमे प्रतिपादन करेगे कि किसी मुसलमान या ईसाईकी तो वैसा करनेकी हिम्मत ही नही होगी।

"विद्या-विनय-सपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन ॥" *

(गीता, ५–१८)

इतने विशाल रूपमे समताका प्रतिपादन करनेकी साधारण मुसलमान या ईसाईकी हिम्मत न होगी। कमसे कम मनुष्य और इतर प्राणियोके बीच भेद-दृष्टि रखना शायद वह अपना फर्ज भी बतायेगा। लेकिन इतने बडे सिद्धान्तकी शिक्षा पाने पर भी न हमारे धर्मात्मा या ब्रह्मनिष्ठ पडितोकी और न हमारे अनेक सुधारवादी विचारशील — परतु बडे परिवारमे रहनेवाले — कार्यकर्ताओकी यह हिम्मत होती है कि वे अपने घरके भीतरके भागमे किसी अछूतको ले जाय और उसे अपने आसन पर बिठावे तथा उसके साथ भोजन करे। कारण यह है कि हमने बुद्धिको बढाया है, धृतिको नही बढाया। आचारके समय हम कदम-कदम पर व्यावहारिक मुश्किलोका खयाल करते है, परिणामोसे यानी अपने पर आनेवाली कठिनाइयोसे हम डरते है और कुछ न कुछ बहाना निकालकर सिद्धान्त पर चलनेको टालते है। हमारे देशमे अपनी धृतिशक्तिको बढानेकी न केवल अपने लिए बल्कि

---

* विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, कुत्ता, हाथी या चाण्डाल सबमे पडित समदृष्टि रखते है।

बुद्धिकी शुद्धि-वृद्धिके लिए भी बहुत बड़ी जरूरत है। क्योकि जब हम इस दृष्टिसे हरएक सिद्धान्तकी जाच करेंगे कि उस पर हम किस हद तक चल सकते हैं, तब हमारे सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमे अगर कुछ संशोधनकी जरूरत हुई तो हम उसे खोज सकेंगे और हमारे सिद्धान्त और वर्तनमे मेल बिठा सकेंगे। यह याद रहे कि जब तक सिद्धान्त और वर्तनमे मेल नही बैठता, तब तक कोई प्रामाणिक मनुष्य शान्ति नही पा सकता।

३. अनुकूल कर्मयोग——यदि हम वृत्तिके महत्त्वको समझ ले, तो उसके लिए अनुकूल कर्मयोगकी अनिवार्यता तुरन्त ही मालूम हो जायगी। एक सिद्धान्तको अगर हमने मान लिया और उस पर दृढ रहनेकी जरूरत स्वीकार कर ली, तो उसे——छोटे पैमाने पर ही क्यो न हो——शुरू करना लाजिमी हो जाता है। किसी बाह्य साधनकी जरूरत हो, तो उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाय, किसीके साथकी जरूरत हो, तो साथी ढूढा जाय; जानकारी हासिल करना हो, तो साहित्य खोजा जाय; शारीरिक शक्ति या सयमकी कमी हो, तो उसे बढानेकी कोशिश की जाय, उपासनाकी कमी हो, तो उसे तीव्र किया जाय। थोडेमे, मनुष्य बैठा नही रह सकता, वह उद्योग-परायण हो जाता है। वह अपने पासमे ही अनुकूल वायु-मण्डल बनानेमे सफल होता है।

मैं आशा करता हू कि ये थोडे विचार अपनी सात्त्विकताकी कमजोरी मिटानेकी इच्छा रखनेवाले मित्रोंके लिए कुछ मददगार होंगे।

१-१२-'४६

१६

कर्मक्षय और प्रवृत्ति

एक सज्जन मित्र लिखते है "कुछ साधु कहते है कि कर्मका सपूर्ण क्षय हुए विना मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती। और कर्मसे निवृत्त हुए बिना कर्मक्षयकी सभावना नही है। इसलिए निवृत्ति-मार्ग ही आत्मज्ञान अथवा मोक्षका मार्ग है। क्योकि जो भी कर्म किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। अर्थात् मनुष्य जव तक कर्ममे प्रवृत्त रहेगा तव तक, वह चाहे अनासक्तिसे कर्म करता हो तो भी, कर्मफलके भारसे मुक्त नही हो सकता। इससे कर्म-वधनका आवरण हटनेके बदले उलटा घना होगा। इसके फलस्वरूप उसकी साधना खडित होगी। लोक-कल्याणकी दृष्टिसे भले ही अनासक्तिवाला कर्मयोग इष्ट हो, परतु उससे आत्मज्ञानकी साधना सफल नही होगी। इस विषयमे मै आपके विचार जानना चाहता हू।"

मेरी नम्र रायमे कर्म, कर्मका वधन और क्षय, प्रवृत्ति और निवृत्ति, आत्मज्ञान और मोक्ष—इत्यादि की हमारी कल्पनाए बहुत अस्पष्ट है। अतएव इस सवधमे हम उलझनमे पड जाते है और सावनोमे गोते लगाते रहते है।

इस सववमे पहले हमे यह समझ लेना चाहिये कि शरीर, वाणी और मनकी क्रियामात्र कर्म है। कर्मका यदि हम यह अर्थ लेते है, तो जव तक देह है तव तक कोई भी मनुष्य कर्म करना बिलकुल छोड नही सकता। कथाओमे आता है उस तरह कोई मुनि चाहे सौ वर्ष तक निर्विकल्प समाधिमे निश्चेष्ट रहकर पडा रहे, परतु जिस क्षण वह उठेगा उस क्षण वह कुछ न कुछ कर्म अवश्य ही करेगा। इसके अलावा, यदि हमारी कल्पना ऐसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देहसे परे जन्म-जन्मान्तर पानेवाला जीवरूप है, तब तो देहके बिना भी वह क्रियावान रहेगा। यदि कर्मसे निवृत्त हुए विना कर्मक्षय न हो सके, तो इसका यह अर्थ हुआ कि कर्मक्षय होनेकी कभी भी संभावना नही है।

इसलिए निवृत्ति अथवा निष्कर्मताका अर्थ स्थूल निष्क्रियता समझनेमे भूल होती है। निष्कर्मता एक सूक्ष्म वस्तु है। वह आध्यात्मिक अर्थात् बौद्धिक, मानसिक, नैतिक, भावना-विषयक और इससे भी परे बोधात्मक (सवेदनात्मक) है। क, ख, ग, घ नामके चार व्यक्ति प, फ, ब, भ नामके चार भूखे आदमियोको एकसा अन्न देते है। चारो बाह्य कर्म करते है और चारोको समान स्थूल तृप्ति होती है। परतु सभव है क लोभसे देता हो, ख तिरस्कारसे देता हो, ग पुण्येच्छासे देता हो और घ आत्मभावसे स्वभावत देता हो। उसी तरह प दुःख मानकर लेता हो, फ मेहरबानी मान कर लेता हो, ब उपकारक भावसे लेता हो और भ मित्रभावसे लेता हो। अन्नव्यय और क्षुधातृप्ति रूपी सबका बाह्य फल समान होने पर भी इन भेदोंके कारण कर्मके बधन और क्षयकी दृष्टिसे बहुत फर्क हो जाता है। उसी तरह क, ख, ग, घ से प, फ, ब, भ अन्न मागे और चारो व्यक्ति उन्हे भोजन नही करावे, तो इसमे कर्मसे समान परावृत्ति है; और चारोकी स्थूल भूख पर समान परिणाम होता है। फिर भी भोजन न कराने या अन्न न पानेके पीछे रही बुद्धि, भावना, नीति, सवेदना इत्यादिके भेदसे इस कर्म-परावृत्तिसे भी कर्मके बधन और क्षय एकसे नही होगे।

यहा प्रवृत्ति और निवृत्तिके साथ परावृत्ति और वृत्ति शब्द भी याद रखने जैसे है। परावृत्तिका अर्थ निवृत्ति नही है। परतु बहुतसे लोग परावृत्तिको ही निवृत्ति मान बैठते है। और वृत्ति अथवा वर्तनका अर्थ प्रवृत्ति नही है। परतु बहुतसे लोग वृत्तिको ही प्रवृत्ति समझते है। वृत्तिका अर्थ है केवल बरतना। प्रवृत्तिका अर्थ है विशेष प्रकारके आध्यात्मिक भावोसे बरतना। परावृत्तिका अर्थ है वर्तनका अभाव; निवृत्तिका अर्थ है वृत्ति तथा परावृत्ति-सबधी प्रवृत्तिसे भिन्न प्रकारकी एक विशिष्ट आध्यात्मिक सवेदना।

कर्म-बन्धन और कर्मक्षयके विषयमे बहुतोका ऐसा खयाल मालूम होता है, मानो कर्म नामकी हरएकके पास एक तरहकी पूजी है। पांच हजार रुपये ट्रकमे रखे हुए हो और उनमे किसी तरहकी वृद्धि न

हो, परन्तु उनका खर्च होता रहे, तो दो-चार वर्षमे या पच्चीस वर्षमे तो वे सब अवश्य खर्च हो जायेगे। परतु यदि मनुष्य उन्हे किसी कारोबारमे लगाता है, तो उनमे कमीवेशी होगी और सभव है कि पाच हजारके लाख भी हो जाय या लाख न होकर उलटा कर्ज हो जाय। तो यह घाटा भी चिंता और दुख उत्पन्न करता है। सामान्य रूपसे मनुष्य ऐसी चिता और दुखकी सभावनासे घबराते नही और लाख होनेकी सभावनासे अप्रसन्न नही होते। वे न तो रुपयोका क्षय करना चाहते है और न रुपयोके बधनमे पडनेसे दुखी होते है। निवृत्ति-मार्गी साधु भी मदिरोमे और पुस्तकालयोमे बढनेवाले परिग्रहसे चितातुर नही होते। परतु कर्म नामकी पूजीकी हमने ऐसी कल्पना की है, मानो वह एक बडी गठरी है और उसको खोलकर, जैसे बने वैसे, उसे खतम कर डालनेमे ही श्रेय है, कर्मका व्यापार करके उससे लाभ उठानेमे नही। कर्मको पूजीकी तरह समझनेके कारण उसे खतम करनेकी ऐसी कल्पना पैदा हुई है।

परतु कर्मका बन्धन रुपयोकी गठरी जैसा नही है। और वृत्ति-परावृत्ति (अथवा स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति) से यह गठरी घटती-बढती नही है। जगत्मे कोई भी क्रिया हो — जानमे हो या अनजानमे हो, वह विविध प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म परिणाम एक ही समयमे या भिन्न भिन्न समयमे, तुरत या कालान्तरमे, एक ही साथ या रह रहकर, पैदा करती है। इन परिणामोमे से एक परिणाम कर्म करनेवालेके ज्ञान और चरित्रके ऊपर किसी तरहका रजकण जितना ही असर उपजानेका होता है। करोडो कर्मोके ऐसे करोडो असरोके परिणामरूप हरएक जीवका ज्ञान-चरित्रका व्यक्तित्व बनता है। यह निर्माण यदि उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाय और ज्ञान, धर्म, वैराग्य इत्यादिकी ओर अधिकाधिक झुकता जाय, तो उसके कर्मका क्षय होता है ऐसा कहा जायगा। यदि वह उत्तरोत्तर अशुद्ध होता जाय —— अज्ञान, अधर्म, राग इत्यादिके प्रति बढता जाय, तो उसके कर्मका सचय होता है ऐसा कहा जायगा।

इस तरह कर्मोकी वृत्ति-परावृत्ति नही परतु कर्मका जीवके ज्ञान-चारित्र्य पर होनेवाला असर ही बधन और मोक्षका कारण है। जीवन-

कालमे मोक्ष प्राप्त करनेका अर्थ है एक ऐसी उच्च स्थितिका आदर्श, जिस स्थितिके प्राप्त होनेके बाद उस व्यक्तिके ज्ञान-चारित्र्य पर ऐसा असर पैदा ही न हो कि उसमे पुन अशुद्धि घुस सके।

इसके लिए कर्तव्य कर्मोका विवेक तो अवश्य करना पडेगा। उदाहरणार्थ, अपकर्म नही करने चाहिये, सत्कर्म ही करने चाहिये, कर्तव्यरूप कर्म तो करने ही चाहिये, अकर्तव्य कर्म छोडने ही चाहिये, चित्तशुद्धिमे सहायक सिद्ध होनेवाले दान, तप और भक्तिके कर्म करने चाहिये इत्यादि। इसी तरह कर्म करनेकी रीतिमे भी विवेक करना पडेगा, जैसे ज्ञानपूर्वक करना, सावधानीपूर्वक करना, सत्य-अहिसा आदि नियमोका पालन करते हुए करना, निष्काम भावसे अथवा अनासक्तिसे करना इत्यादि। परतु यह कल्पना गलत है कि कर्मोसे परावृत्त होनेसे कर्मक्षय होता है। कर्तव्यरूप कर्मसे परावृत्त होने पर कदाचित् सकाम भावसे अथवा आसक्तिसे किये हुए सत्कर्मोसे भी अधिक कर्म-बधन होनेकी पूरी सभावना है।

इसकी अधिक सविस्तर चर्चाके लिए मेरी 'गीता-मथन' पुस्तक पढियेगा।

दिसम्बर, १९४१
('महावीर जैन विद्यालय रजत-स्मारक')

१७

धर्म और तत्त्वज्ञान*

यह सत्य है कि मै तत्त्वज्ञान और धर्मके विषय पर लिखता आया हू। परतु इससे यदि कोई यह कल्पना करे कि मैने इस विषयके बहुतसे ग्रन्थ देख लिये होगे और कुछ ग्रन्थोका तो अत्यन्त सूक्ष्मतासे अभ्यास किया होगा तो वह गलत होगा। 'नाऽमूल लिख्यते किंचित्' इस प्राचीन प्रणालिकाका पालन करनेकी योग्यता मुझमे नही है। इस प्रकार इस विषयमे विद्वत्ताकी कसौटी पर सभव है मै नापास हो जाऊ।

तत्त्वज्ञान और धर्मके विषयोका मैने साहित्यिक अभ्यासकी दृष्टिसे या धार्मिक वाचनके शौककी दृष्टिसे शायद ही विचार किया है। भक्तिमय जीवन मुझे माके दूधके साथ ही मिला था, परतु जब तक तत्त्वज्ञान और धर्मका गहरा विचार किये बिना मुझे अपना जीवन निस्सार जैसा नही लगा, तब तक मै इनमे अधिक गहरा उतरा नही था। जब मुझे पूरा विश्वास हो गया कि 'ज्या लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नही, त्या लगी साधना सर्व जूठी'—जब तक आत्मतत्त्वको पहचाना न जाय तब तक सारी साधना व्यर्थ है, तब मेरे लिए इनके पीछे लगे सिवा कोई चारा नही रह गया। इस प्रकार मुझे इनकी साधना और शोधमे लगना पडा। इसमे मुझे जितनी जरूरत महसूस हुई उतना ही मैने पढा। और जितना पढा उसमे से जितने उपयोगी मालूम हुए उतने सस्कार मैने ले लिये, बाकीका छूट गया।

इतनी मर्यादाओके साथ पाठकको मेरे विचार समझने चाहिये।

आज धर्म और तत्त्वज्ञानसे सबध रखनेवाले कितने ही प्रश्न विद्वानोको उलझनमे डाले हुए है। कुछ विषयो पर मेरे विचार आजकी

---

* दिसम्बर, १९३७ मे करांचीमे हुए गुजराती साहित्य सम्मेलनके धर्म और तत्त्वज्ञान विभागके सभापतिपदसे दिया हुआ व्याख्यान।

सामान्यत प्रचलित मान्यनाओसे भिन्न दिशामे वह रहे है। इन सवकी यहा सविस्तर चर्चा करना शक्य नही है। इसलिए मैने ऐसा विचार किया है कि अपने मतव्योको, दलीलोके विना, लगभग सूत्र-रूपमे और इसके परिशिष्टके रूपमे रख दू और उसकी प्रस्तावनाके रूपमे कुछ विचार यहा पेश करू।

पाश्चात्य सस्कृति भौतिक अथवा आसुरी है और पूर्वकी अथवा आर्योकी सस्कृति आध्यात्मिक अथवा दैवी है, हिन्दुस्तानकी प्रजा वहुत धर्म-परायण है और यही उसके पतनका कारण है, वगैरा वाते कहनेका हमारे देशमे रिवाज है। मै ऐसा नही मानता, यह कहने पर यदि किसीको चोट पहुचे तो मुझे क्षमा करे। यह वात सच है कि वेदान्तकी भाषा और जप-वाक्य (नारे) हमारे देशके कोने कोनेमे फैल गये है, हमारे देशमे वर्षाऋतुकी घासकी तरह सप्रदाय फूट निकलते है, साधुओके झुड सारे देशमे इधर उधर दिखाई देते हैं, राजनीतिक नेताओकी अपेक्षा ब्रह्मज्ञानियोकी सख्या अधिक होनेकी सभावना है और ससारके दु खोसे दग्ध कितने ही लोगोको भर जवानीमे वैराग्य आ जाता हैं। फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि कुछ नही तो लगभग एक हजार वर्षसे हमारे देशमे धर्मका ह्रास हो गया है, तत्त्वकी कहो या ईश्वरकी कहो, प्राण-वान निष्ठाका वहुत अशोमे लोप हो गया है, और हमारी सस्कृतिमे न तो अध्यात्मका, न धर्मका और न भौतिक विद्याका ही वल रहा है। परतु अध्यात्मका चोला पहने क्लोरोफार्म सूघती हुई किसी सस्कृतिका शरीर पडा हुआ है। ऐसे वड़े देशमे वीच वीचमे कवीर, नानक, सहजानद, दयानद या गाधीजी जैसे दो चार अलौकिक व्यक्ति निकल आवे और समाजको झकझोर दे, तो यह कोई वडी वात नही है। परतु इनमे से हरएककी देनके वारेमे विचार करनेसे मालूम पडेगा कि उन्होने प्रचलित तत्त्वज्ञान या धर्ममे जो कुछ नवीन वृद्धि की है उसकी अपेक्षा उस पर प्रहार ही ज्यादा किये है। जिस प्रकार खेतमे उगे हुए कुशको केवल ऊपर ऊपरसे काटनेसे वह नष्ट नही होता, उसे खोदना और जलाना पडता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञान और धर्मके क्षेत्रमे उगे हुए कुशको उखाडनेके लिए इनमे से कुछ लोगोने प्रयत्न किये और

उसीमे उनकी सारी जिन्दगी चली गई। उनमे से किसीको फसल लेनेका शायद ही अवसर मिला। उनके बाद रहनेवालोने तो फिर थोडे समयमे उतना ही कुश बढा दिया।

हिन्दुस्तानमे दिखाई देनेवाले भक्तिभावके विषयमें कबीर एक पदमे कहते है

ऐसी दिवानी दुनिया भक्तिभाव नही बूझेजी।
कोई आवे तो बेटा मागे यही गुसाई दीजेजी।
कोई आवे दुखका मारा हम पर किरपा कीजेजी।
कोई आवे तो दौलत मागे भेट रुपैया लीजेजी।
साचेका कोई गाहक नाही झूठे जगत खोजेजी।
कहे कबीर सुनो भाई साधो अबोको क्या कीजेजी।

परतु अध्यात्म और धर्मके विरुद्ध किये गये इन प्रहारोमे और आजके युनिवर्सिटियोसे निकले हुए विद्वानोके प्रहारोमें बहुत अतर है। सतोने अपने देशके लोगोको अधिक निकट और गहराईसे देखा था और वे खुद क्लोरोफार्मके नशेका अनुभव ले चुके थे। इसलिए उनका प्रयत्न सिर्फ क्लोरोफार्मका नशा उतारनेके लिए था। अर्वाचीन विद्वान ऐसा नही मानते। वे मानते है कि यदि अध्यात्म और धर्मका चोला फाड डाला जाय, तो क्लोरोफार्मका नशा उतर जायगा और हमारी प्रजामे नवीन प्राणोका सचार होगा। यह कपडे बदलकर साहब बनने जैसा है। इससे 'साहब' तो हम जरूर कहला सकते है, परतु यदि मनमे हीनताका सस्कार रह गया हो, तब तो गोरे साहबके आगे तेजोहीन होकर ही खडा रहना पडता है।

सब तरहकी ज्ञानप्राप्तिमें एक काल मस्तीका आता ही है। नया अग्रेजी सीखनेवाला लडका माताको 'ब्रिंग वॉटर', 'मी वॉण्ट हॉट हॉट ब्रेड' का हुक्म देता है, बादमे सस्कृत सीखना शुरू करता है तब वह 'जल आनय', 'उष्णा उष्णा गोधूमपत्रिका यच्छ' के हुक्म देता है। ऐसी ही मस्तीका काल तत्त्वज्ञानमे भी आता है। 'मै ब्रह्म हू, मै इस विश्वका आत्मा हू, मै ही राम हू, मै ही कृष्ण हू'—इस तरह बोलते बोलते साधक आनन्दमे झूमने लगता है। भौतिक

विद्याओंमें भी ऐसी मस्ती चढती है। जिस तरह कोई भक्त 'राम राम' या 'शिव शिव' कहता है, उसी तरह वह 'अणु, अणु' या 'मेटर, मेटर' कहता है। परतु मस्ती कभी ज्ञान नही हो सकती। वह वदहजमीकी निशानी है। आत्मामे मस्तीके लिए मुझे कही भी अवकाश दिखाई नही देता। यदि मै आत्मा या ब्रह्म हूं, तो क्या वाकीका जगत् ठीकरा है? यदि मै ही राम हू, कृष्ण हू, ईशु हू, मुहम्मद हू, तो जगत्के दूसरे प्राणी क्या हैं? और किसीको ऐसा कहनेकी मस्ती क्यो नही आती है कि 'मै ही रामा भगी हू, मैं ही काना चमार हू, जगत्की हीनसे हीन वस्तु मै ही हू?' यदि ऐसी दृढ प्रतीति हो गई हो कि सारा जगत् एक ही चैतन्य तत्त्व है, तो ब्रह्मानन्दकी खुमारीके लिए अवकाश कहा रहता है? चित्तमे मै और ब्रह्म इन दोनोके एक ही समय रहनेके लिए जगह ही कहा है?

सच्चाई यह है कि हमारे पूर्वजोने सारे जगत्मे एक अखण्ड, अविनाशी, अमेय चैतन्यके अस्तित्वका अनुभव किया, पर हमने उसे इस तरह साधा कि हमारा प्रत्यगभिमान मिटनेके वदले उलटा पक्का हुआ। हम पक्के व्यक्तिवादी बन गये। जो अपने ही हितकी अधिक चिंता रखता हो और जगत्के हितकी ओर बिलकुल उदासीन वृत्ति रखता हो, वह अधिक सच्चा मुमुक्षु कहलाता है!

हमने जिस तरहसे तत्त्वज्ञान सिद्ध किया, उसका परिणाम भक्ति-मार्ग पर भी अच्छा नही हुआ। इससे भक्तिमार्ग कृत्रिम बननेके साथ साथ व्यभिचारी भी वना। एकेश्वर-निष्ठा, अनन्याश्रय, एकान्तिक भक्ति, अहैतुकी भक्तिके बढनेके लिए वातावरण ही न रहा। वैदिक देवोसे भी देवोकी सख्या वढ गई और गुरुशाहीके लिए रास्ता ज्यादा खुला हो गया सो अलग। "छोडिके श्रीकृष्ण देव, औरकी जो करू सेव, काटि डारो कर मेरो तीखी तलवारसे" — ऐसी अनन्यता कुछ व्यक्तियोकी ही विशिष्टता वनी। और वह कुछ लोगोके मतानुसार अनुदारता भी मानी जाती है। ज्ञानी तो सबके स्तोत्र रचता है, सबको पूजता है और सबकी महिमा वढाता है, और दूसरे ही क्षण कहता है, "कौन देव और कौन भक्त, सभी अज्ञानियोका आचार है!"

इस स्थितिमे तत्त्वज्ञान और धर्म मूढ, अविकासशील और प्रगतिविरोधी बन जाय तो कोई आश्चर्य नही।

श्री शंकराचार्यने जिस प्रकार अनुभूतिमात्र आत्माका निरूपण किया है, और श्री वल्लभाचार्यने जिस तरह जगत्का ब्रह्मरूपमे वर्णन किया है, वह मुझे बहुत अंशमे मान्य है। परन्तु इनके मायावाद और लीलावाद मुझे स्थूल या सूक्ष्म किसी भी अवलोकनमे सच्चे नही लगते। इसकी अपेक्षा श्री रामानुजका 'जड और जीवरूपी शरीरधारी ब्रह्म' का निरूपण अधिक सरल और कमसे कम स्थूल अवलोकनमें सच्चा लगता है। 'शरीरधारी' के बदले 'स्वभावधारी' कहे, तो गीताके सातवे अध्यायके निरूपणसे वह मिल जाता है। जिस प्रकार व्यवहार-दृष्टिसे वेदान्तको सांख्य-दर्शनका निरूपण लगभग साराका सारा स्वीकार कर लेना पडा है, उसी तरह शांकरवेदान्ती तथा वल्लभवेदांतीके लिए जगत्के व्यवहारोमे विशिष्टाद्वैतकी भूमिका रखनी ही पडती है। विशिष्टाद्वैत अर्थात् आकाश जैसा एक नही, सफेद और काले जैसा द्वैत नही, परन्तु कडे और कुण्डल जैसी विशेषतावाला अद्वैत। दूसरी तरह कहे तो समानतावाला द्वैत भी कह सकते है। "मैं ही राम और कृष्ण हू" या "मैं ही रामा भंगी या काना चमार हू" ये दोनो अध्यासयोग है, कल्पनाका विहार है, साक्षात् अनुभव नही है। परन्तु जो राम है, जो कृष्ण है, जो भंगी है, जो चमार है तथा जो मैं हू, वे सब एक ही परम चैतन्यके रूप और घटक हैं और अनेक तरहसे एक ही शरीरके अवयवोकी तरह एक-दूसरेके साथ जुड़े हुए हैं, यह एक ऐसा सत्य है जो अनुभवमें आ सकता है, व्यवहारमें उतारा जा सकता है और साधारण बुद्धिके मनुष्यकी समझमें भी आ सकता है। सामनेकी दीवार जिसे दिखाई देती है वह 'दिखाई देती है' ऐसा कहे तो अज्ञानी है, 'है ही नही' ऐसा कहकर भी जो व्यक्ति दीवार है ऐसा मानकर व्यवहार करे वह ज्ञानी है। आत्मामें अज्ञान नही रह सकता, फिर भी अज्ञानके कारण जगत्का भास होता है, परन्तु उस अज्ञानका भी वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इस उपपत्तिने परमेश्वरको ऐसा गूढ बना दिया है कि जो वस्तु खुली आंखोंसे चारो

ओर फैली हुई दिखाई देनी चाहिये, वह लुप्त हो गई जैसी या केवल काल्पनिक और 'इनकार' करने जैसी लगती है।

"पानी विच मीन पियासी,
मोहि सुन सुन आवत हासी;
घरमे वस्तु नजर नहि आवत,
वन वन फिरत उदासी।"

इसका कारण मुझे यह लगता है कि तत्त्वज्ञान और धर्मका विकास आज कितनी ही सदियोसे हमारे देशमे केवल तार्किक तथा साहित्यिक विलासका विषय बन गया है, शोधनका नही। जो लोग उसका केवल शौक या धधेके लिए ही अभ्यास करते है, वे बच जाते है, परन्तु जो सत्यको प्राप्त करनेके लिए उसका आधार लेते हैं, वे वेचारे हैरान होते है। इसीलिए कबीर कटाक्ष करते है

"गौतम, कपिल, कणाद अरु शेप, जैमिनी, व्यास,
षड् धीवर षड् जाल रची डाले जीवको फास।"

जब तर्कशास्त्र और साहित्यका विकास इस प्रकारसे होता है कि जिस वस्तुको अविद्वान मनुष्य सरलतासे समझ जाता है, उसे समझनेमें विद्वान उलझनमे पड जाय अथवा उसे बहुत विस्तारसे समझाना पडे, तब यह मानना चाहिये कि उसके विकासमें कही बहुत बडा दोष रह गया है। विद्वानोकी बहुतसी चर्चाए इस प्रकारकी होती है। उदाहरणके लिए, अविद्वानोकी किसी सभामे जाकर हम पूछे कि गाधीजीको साहित्यकार कह सकते है या नही, तो वे कहेगे कि हम तो केवल उनके ही लेख पढकर मार्गदर्शन प्राप्त करते है और हमे उन्हीके लेख सबसे ज्यादा समझमे आते है। उन्हे यदि साहित्यकार न कहा जाय तो किसे कहा जाय? फिर भी, विद्वानोकी सभामें इस प्रश्न पर कमसे कम दो दो दिन तक चर्चा चलाना कठिन नही होगा। और ऐसा भी हो सकता है कि अन्तमें बहुमतसे वे इस निर्णय पर पहुचे कि गाधीजीको लेखक तो कह सकते है, परन्तु साहित्यकार नही।

इसी तरह किसी अविद्वानसे हम पूछे कि मिठास किसे कहते हैं, तो वह कहेगा कि गुडके जैसा स्वाद मिठास है। वह मान लेगा कि या

तो आपने गुड चखा होगा या चख कर जान लेंगे। और यदि उससे अधिक पूछे कि गुड मीठा क्यो लगता है, तो अधिक पिष्ट-पेषण किये बिना एकदम उत्तर देगा कि यह उसका स्वाभाविक धर्म ही है। परन्तु यदि किसी विद्वानसे यह प्रश्न पूछेगे, तो वह बहुत विचार करके कदाचित् यह उत्तर देगा. "पदार्थोमे रहनेवाले कुछ कार्बोहाइड्रेट तथा कुछ सल्फाइड रसायनोका जीभकी लारमे रहनेवाले अमुक निश्चित रसायनोके साथ सम्बन्ध होनेसे जीभके ज्ञानतंतुओ पर जो असर होता है, उसे लोग मिठासके नामसे पहचानते है। और उसका ऐसा ही असर क्यो होता है, इसके विषयमे अभी तक निश्चित रूपसे नही जाना जा सका है।" यह उत्तर बेचारा अविद्वान तो समझ ही नही सकेगा, और विद्वान समझकर भी ज्ञानमे अविद्वानसे आगे नही बढ सकेगा।

इसी प्रकार किसी अविद्वानसे हम पूछे कि पाप क्या है और वह कैसा होता है तो वह कहेगा कि हमारी विवेक-बुद्धि और अन्त -करण जो न करनेके लिए कहे उसे करना पाप है, अथवा ऐसा काम पाप है जिससे दूसरेके साथ अन्याय हो या दूसरेको पीडा पहुचे, और वह हममे रही हुई काम, क्रोध, लोभ इत्यादि बलवान वासनाओके कारण होता है। साधारण जिज्ञासु परन्तु अविद्वान मनुष्य इतने निरूपणसे व्यवहारोपयोगी नियम बना लेगा। परन्तु यदि किसी विद्वानसे ये प्रश्न पूछेगे, तो वह कहेगा कि पापके स्वरूपके विषयमे विद्वान लोग अभी तक छानबीन कर रहे है और किसी निर्णय पर नही पहुच सके है, क्योकि पाप-पुण्य सापेक्ष है या निरपेक्ष, सर्वदेशीय और सर्वकालीन है या देशकालानुसारी, इन प्रश्नोका अभी तक निश्चित निर्णय नही हो सका है। ऐसा क्यो होता है, यह निश्चित करना तो और भी कठिन है। क्योकि काम-क्रोध-लोभ इत्यादि वृत्तियोको इनमे जो खराब ही मान लेना पडता है, उसके लिए कोई आधार नही है। इस तरह विद्वान उलझनमें पड जाते है। अविद्वान उलझनमें नही पडता, क्योकि वह जानता है कि जिस तरह मनुष्यमे सफेद और कालेकी परीक्षा करनेकी स्वाभाविक नेत्रशक्ति है, उसी तरह काम-क्रोध-लोभ इत्यादिकी योग्य और अयोग्य वृत्तिया कौनसी है, उन्हे परखनेकी भी कुछ कुदरती

शक्ति उसमें रहती है। उसके निर्णयो पर आधार रखकर जीवनके सामान्य काम हल हो जाते हैं। जिस तरह अमुक रगको लाल कहना या हरा, यह उलझन शायद ही पैदा होती है, उसी तरह अमुक कामको पाप कहना या पुण्य, यह उलझन भी रोज रोज पैदा नही होती। किसी समय ऐसा प्रसग आने पर किसी अधिक अनुभवी और चतुर व्यक्तिसे पूछकर इसका निर्णय कर लिया जाता है।

सरल वस्तुको कठिन बनानेकी कलाका तत्त्वज्ञान और धर्मके विषयमें काफी विकास हुआ है। और यह कला ही बहुतसे धार्मिक झगडोका मूल है। जो वस्तु प्रत्यक्ष अनुभवसे या प्रयोग द्वारा जानी जा सकती है, उसे वाद-विवाद द्वारा सिद्ध करनेकी कोशिश करनेके ऐसे ही परिणाम आते हैं। चार्ल्स द्वितीयकी एक बात है। उसने रॉयल सोसायटीके सामने एक समस्या रखी कि लबालब भरे हुए पानीके बर्तनमें मरी हुई मछली छोडनेसे थोडा पानी बाहर निकल जाता है, परन्तु जीवित मछली छोडनेसे नही निकलता। इसका क्या कारण है? कहते है कि रॉयल सोसायटीके विद्वानोने इसके लिए अनेक प्रकारके खुलासे लिख कर भेजे। परतु किसीके खयालमे यह नही आया कि पहले इसका तो निर्णय कर लें कि जीवित मछली छोडने पर पानी बाहर निकलता है या नही! इसी तरह तत्त्वज्ञानका पचीकरणका विषय लीजिये। आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी होती है, इस तरह हम पिछले एक हजार वर्षसे रटते आये है। इस पर बडे बडे सस्कृत और प्राकृत विवेचन लिखे गये है। और एक पचपचीकृत गणित भी है। उसमें कहा गया है कि हरएक महाभूतमे उस महाभूतका आधा और दूसरे चार महाभूतोमे से हरएकका आठवा भाग है। यह कितना काल्पनिक गणित है? कपिलने अथवा जो कोई इसका मूल उत्पादक रहा हो उसने तो कुछ अवलोकन करनेके बाद इस कार्य-कारणकी परपराकी व्यवस्था की है। परतु उसके बाद शायद ही किसीने उसमे सशोधन-परिवर्धन करनेकी या उसके सत्यको कसौटी पर कसनेकी तकलीफ उठाई है। हां, उसे केवल अधिक दृढ बनानेके लिए कल्पना-विलास जरूर किया है।

इसी तरह साधारण मनुष्यको यह बात समझनेमें देर नही लगेगी कि जगत्मे निश्चित नियमाधीनता है। कुदरतके कुछ अचल नियम है। जगत्का तत्र हमारी इच्छानुसार भले न चलता हो, लेकिन उसमे अव्यवस्था नही है। सूखा पत्ता भी किसी नियमके वश होकर ही अपनी जगहसे खिसकता है। फिर भी योगवासिष्ठके विद्वान रचयिताने जगत् केवल मायिक है, इसमे किसी प्रकारकी निश्चित व्यवस्था है ही नही, यह सिद्ध करनेके लिए अरेबियन नाइट्सको भी मात कर देनेवाली आश्चर्यजनक कथाओकी कल्पना की है! उसने पत्थरमें कमल उगाये है, साख्य कार्य-कारण-परपरासे विभिन्न प्रकारकी परपराओवाली सृष्टियोका वर्णन किया है। प्रत्येक कल्पमे और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें राम, कृष्णादिके अवतारोकी आवृत्तिया निकाली है, और सयमी-स्वच्छदी, चतुर-पागल, दैवी-राक्षसी सब प्रकारके ब्रह्मनिष्ठ समाजके सामने रखे है। बेचारे साधकको इन सबका बारबार पारायण करना पडता है और यह सब ऐसा ही है, इस तरह अपनी बुद्धिमे उतारनेके लिए उसे प्रयत्न करना पडता है, और जब इसमे शकाये पैदा हो अथवा यह वस्तु अनुभवमे न उतरे, तब अपनी साधनामे कुछ न कुछ त्रुटि समझकर उसे उद्विग्न रहना पडता है! जो व्यक्ति इन सबका शास्त्रकी रीतिसे बार बार निरूपण कर सकता है, वह हमारे देशमें ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु बनता है!

तत्त्वज्ञानमें सूक्ष्मता और कठिनता जरूर है। बुद्धिमें न उतर सकें ऐसी अनेक विद्याए जगत्मे है। केवल तत्त्वज्ञान ही कठिन है ऐसा नही। परतु इसे गूढ (mysterious) मनवाने या बनानेके जो प्रयत्न होते है, उनमे मुझे कोई रुचि नही है। स्वामीनारायण सप्रदायमें इसे 'खूणियु ज्ञान'—गुप्त रीतिसे शिष्य पर अनुग्रह करके दिया जानेवाला ज्ञान कहा जाता है। ऐसे गूढ ज्ञानके प्रति शकाकी दृष्टिसे देखा जाता है। इसमे बहुतसी गूढता तो केवल शब्दाडम्बर बढाकर ही पैदा की जाती है। तीन देह, तीन अवस्थाये, उनके तीन अभिमानी, तीन सृष्टिया, तीन सृष्टियोकी अवस्थाये और उनके अभिमानी तीन ईश्वर, चार व्यूह, पाच कोश, सात भूमिकाए, चौदह प्रकारका ब्रह्मानद, स्वर्ग, वैकुण्ठ, गोलोक, अक्षरधाम, जीव-ईश्वर-माया-ब्रह्म-परब्रह्म, जीवन्मुक्ति, विदेह-

मुक्ति, इत्यादि इत्यादिके पीछे कितना शब्द-विलास हुआ है! यह शब्द-विलास मनुष्योंकी वास्तविक समस्याको हल करनेमें अधिक मदद नहीं देता। इन सबमें कुछ विचारने या समझने जैसा है ही नहीं, यह बात नहीं। परंतु इनके आसपास जिस गूढताका कुहरा छा जाता है, उससे तत्त्वज्ञान या धर्मको लाभ नहीं होता।

इसी तरह धर्म-निरूपणमें मूलको छोड़कर शाखाओंको पोसने और उन्हें चमत्कारोंके शृंगारसे सुसज्जित करनेका आडंबर हुआ है। ढाई हजार वर्ष पहले बुद्धने लोगोंके सामने पांच व्रत रखे थे : शराब नहीं पीना, हत्या नहीं करना, चोरी नहीं करना, व्यभिचार नहीं करना और असत्य नहीं बोलना। बौद्धधर्ममें इससे अधिक गहन विचार और विषय भी है; उसका एक अलग तत्त्वज्ञान भी है। परंतु ये पांच नियम संप्रदायोंसे परे सार्वजनिक उपदेश हैं। इस उपदेशको किये २५०० वर्ष हो गये। परंतु सवा सौ वर्ष पहले हो गये स्वामीनारायणको भी,

"दारू, माटी,[1] चोरी, अवेरी,[2] चारनो त्याग करी,
भजी ल्योने सहजानंद हरि।"

ऐसे उपदेशके द्वारा गुजरात-काठियावाडकी आम प्रजामें अपनी प्रवृत्ति चलानी पड़ी। पांचमें से एक नियम उन्हें कम करना पड़ा, और वह भी चौबीस सौ वर्षके बाद! परंतु आज भी क्या स्थिति है? अधिकसे अधिक हम लोगोंको शराब छोड़नेके लिए कह सकते हैं। मांसाहारका निषेध करनेकी आज हमारी हिम्मत नहीं है। उलटे शाकाहारियोंमें भी इसका प्रचार होनेके चिह्न दिखाई देते हैं। दवाके नाम पर तो वह लिया ही जाता है। व्यभिचार, असत्य और चोरीके प्रति तो लगभग उपेक्षाकी वृत्ति रखकर ही चलना पड़ता है। ऐसी हालतमें आम प्रजाके लिए धर्मोपदेश कितनी बातोंमें मर्यादित होना चाहिये, इसकी कल्पना करनी चाहिये।

शराब, मांस, चोरी, व्यभिचार और असत्य — इन बातोंमें विद्वान और संस्कारी कहे जानेवाले वर्ग अविद्वान और असंस्कारी लोगोंसे ज्यादा ऊंचे उठे होते हैं ऐसी बात नहीं है। फिर भी यदि कोई

---

१. माटी = मांस, २ अवेरी = व्यभिचार।

धर्मोपदेशक केवल इतनी ही बातो पर भार देकर विद्वानोंके सामने व्याख्यान दे, तो वह प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकता। इसलिए धर्म-विवेचकोने मूलोको छोडकर शाखाओको पोसनेका अधिक श्रम किया है। खाद्य भोजन कौनसा, अखाद्य भोजन कौनसा, जूठा क्या, साफ क्या, कौन स्पृश्य, कौन अस्पृश्य इत्यादिका सूक्ष्म विवेचन हम करते है, नहानेसे, खेती करनेसे, सन्ध्या हो जानेके बाद भोजन करनेसे, बिना उबाला हुआ पानी पीनेसे तथा पैदल चलनेसे कितनी हिंसा होती है, इसकी सूक्ष्म समीक्षा हम करते है, परतु धर्मके मूलोको बेधडक उखाडते है। अर्थात् चोरी, व्यभिचार, मानव-हिंसा या मोती अथवा रेशम जैसी धन देनेवाली व्यापारिक हिंसा पर हम मौन रखते है। फिर भी हम धर्मका कितनी सूक्ष्मतासे विचार करते है या कितनी बारीकीसे उसका पालन करते है, इसका हमे अभिमान होता है! इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी विचार करनेकी रीति कितनी विकृतिपूर्ण है।

हम किसी धार्मिक पुरुषका जीवन-चरित्र तथा सम्प्रदायकी पुस्तकें देखे। उनमे से सच्चे या बनावटी चमत्कारोकी बाते, पूजाये, स्वागत-समारोह, भेंट-पूजा, भोज, शृगार इत्यादिकी बाते निकाल डाले और केवल चरित्र-नायकका इतिहास और उसके चरित्र और गुणोका चित्र देखनेका प्रयत्न करे। ऐसा करके देखेगे तो पता चलेगा कि यह काम धूलमे से धानके कण ढूढनेके समान कठिन है, और फिर भी हमे ऐसा विश्वास नही होगा कि हमने कही भी भूल नही की है।

मेरे कहनेका आशय यह नही है कि यह हकीकत केवल हमारे ही देशकी है। सब देशोके तत्त्वज्ञान और धर्ममे ये दूषण घुसे हुए है। परन्तु हमारा तत्त्वज्ञान और धर्म-विचार जगत्मे सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा हमारा दावा है। इसलिए ये दूषण हमारे लिए तो अधिक लज्जास्पद है और उनका सशोधन अधिक आवश्यक है।

विद्वानोको उलझनमे डालनेवाले अनेक प्रश्नोमे से ये दो प्रश्न भी है—परमेश्वर है या नही? और है तो जगत्मे अन्याय, दुःख इत्यादि क्यो है? इनकी यहा पूरी चर्चा करना कठिन है। यहा तो मै इतना ही कहूगा

परमेश्वर है या नही, इस प्रश्नका केवल तर्कके द्वारा हम निर्णय करना चाहें, तो वह कभी नही हो सकता। इसमे अनुभव-शुद्धि, विचार-शुद्धि और भाषाशुद्धि तथा पहली दो शुद्धियोके आधारके रूपमें भावना-शुद्धि — इन चारोकी अपेक्षा है। जगत् केवल जड तत्त्वका बना हुआ है, या जड और जीव दो तत्त्वोका वना हुआ है, या उनके सिवा एक परमात्मा तत्त्व भी है, या न तो पुरुष है और न प्रकृति है, केवल शून्यमें से ही सब कुछ पैदा हुआ है, और यह आत्मा या परमात्मा (दोमें से जो भी हो) सगुण है या निर्गुण, कर्ता है या अकर्ता, इन दोनोके वीचमें द्वैत है, अद्वैत है या विशिष्टाद्वैत है? — ऐसे ऐसे कई प्रश्न तत्त्वज्ञानके मार्गसे जानेवाले हरएकके मनमे उठते है। प्राचीन कालसे इन प्रश्नो पर चर्चा होती आई है और भविष्यमे भी होगी। जगत्में परमेश्वर है तो दुःख और अन्याय क्यो होते है, इसका उत्तर भी इन मूल प्रश्नोंके योग्य निराकरणसे सम्वन्ध रखता है। जिनके मनमे प्रामाणिक शोधन करते समय ये शकाएं उठती है, उनमें परस्पर इनकी चर्चा हो तो भी झगडा होनेका कोई कारण नही है। परमेश्वरके अस्तित्वके विषयमे अश्रद्धा होने मात्रसे कोई तत्त्व-जिज्ञासु दुराचारी नही हो जाता। परमेश्वरमें श्रद्धा रखने जितनी ही महत्त्वपूर्ण वस्तु मानवतामें श्रद्धा रखना है। मानवतामें जिनकी श्रद्धा नही, वे परमेश्वरका अस्तित्व स्वीकार करे या न करे, नास्तिक ही है। उनके मनमे ये प्रश्न श्रेय-शोधन करते हुए नही उठते, वे तो व्यक्तिगत प्रेय-शोधनको अनुकूल बनानेके लिए इन प्रश्नोकी आड लेते है।

धार्मिक झगडोको देखेंगे तो मालूम होगा कि सब धर्म अनेकेश्वरवादी है। इनमे पहला ईश्वर सब धर्मोंमे एक ही होता है। उसका स्वरूप सद्रूप माना गया हो या असद्रूप, उसकी सद्रूपता तथा असद्रूपता सनातन और स्वाभाविक मानी गई है। परतु इस ईश्वरके साथ हरएक धर्म एक या अधिक दूसरे ईश्वर — अथवा उसके पैगंबर या प्रतिनिधि — रखना चाहता है, और यही किसे रखना तथा किस रूपमें रखना इसके लिए झगड़े खडे होते है। क्योकि उसके लिए यह दावा किया जाता है कि वह तारनहार है। और इस

तरहका दावा करनेवालोको सिर्फ अपने उद्धारकी चिता नही होती, परतु दूसरोके उद्धारकी चिता होती है तथा आवश्यकता पड़ने पर बलात्कारसे, धोखा देकर या लालच बताकर भी यह उद्धार करनेका आग्रह होता है। इसलिए दूसरे धर्मोके प्रतिस्पर्धी पेशवाओको पदभ्रष्ट करनेके लिए लड़ाई करना जरूरी लगता है। जितनी जिहादे पुकारी जाती है, वे सब इन पेशवाओके नामसे ही पुकारी जाती है। एकको शिवकी उपासना चालू करनी होती है, दूसरेको विष्णुकी, तीसरेको विष्णुके किसी खास अवतारकी, चौथेको गणपतिकी, पाचवेको देवीकी, छठेको तीर्थंकरोकी, सातवेको बुद्धकी, आठवेको पैगम्बरोकी, नवेको मसीहकी और दसवेको आखिरी पैगम्बरकी ही। इसके अलावा, हिन्दू धर्मके भिन्न भिन्न गुरु-सप्रदायोमे अपने अपने गुरु-परब्रह्मकी। हरएकको ऐसा लगता है कि मेरा पेशवा ही सच्चा है, दूसरे गौण अधिकारी, पदच्युत हुए अथवा ढोगी है। मराठाशाहीके समयमे धीरे धीरे छत्रपतिकी गद्दी एक कोनेमे रह गई और पेशवाओका पद महत्त्वपूर्ण हो गया था। बादमे छत्रपतिके कारण पेशवाकी पेशवाई नही रही, परतु पेशवाओके कारण छत्रपतिकी 'सत्ख्याति' हुई और छत्रपतिकी आज्ञाओकी अपेक्षा पेशवाकी आज्ञाओका अधिक डर लगने लगा। इसी तरह धर्म-सप्रदायोमे परमेश्वरके कारण उसके पेशवाओको नही, परतु पेशवाओके कारण परमेश्वरको 'सत्ख्याति' मिलती है और ईश्वरके नियमोकी अपेक्षा इन पेशवाओके नियमोका अधिक डर लगता है।

सत्य यह है कि मनुष्यको जो बुद्धि मिली है वह केवल आशीर्वादरूप नही, शापरूप भी है। उसके कारण वह मूलको छोडकर शाखाओमे फस जाता है और धर्मको पालनेके प्रयत्नमे ही अधर्म करने लगता है। क्या यह आश्चर्यकी बात नही है कि विभिन्न धर्मोने ईश्वरके स्वरूपका और धर्मके विविध अगोका बहुत ही सूक्ष्म विचार किया है, सूक्ष्म जतुओकी भी हिसाका विचार करके उसका निषेध किया है, परतु एक भी महान धर्ममें स्वय मनुष्यकी हिसाका सर्वथा निषेध नही किया गया है? मनुष्यने दूसरे बहुतसे पाप माने है, परतु स्वजाति-सहारमे शायद ही पाप माना है। इसलिए एक नही तो दूसरे निमित्तसे, ऐहिक न

मिलता हो तो पारलौकिक निमित्त उपस्थित करके भी, वह स्वजातिका सहार करनेके लिए तत्पर होता है। 'चेतनका गल काटत है, घर पत्थर पाहन मानत है।' जगत्में नास्तिकता और मूर्तिपूजाका विरोध करनेवाले अनेक सप्रदाय है। परन्तु खुद नास्तिकता या मूर्तिपूजामे न पडा हो, ऐसा एक भी धर्म नही है। कारण यह है कि नास्तिकता और मूर्तिपूजा ईश्वर-विषयक ज्ञान-अज्ञानमे से ही नही पैदा होती है, परतु स्वजाति-शत्रुत्व और उसकी हिंसा करनेकी तत्परतामे से तथा ईश्वरके वदलेमे किसे स्वीकार करना चाहिये, इसके आग्रहमे से पैदा होती है। चेतनकी अपेक्षा जडकी अधिक महिमा समझना और जडके प्रति रहे आदरके लिए चेतनका सहार करना, इसीका नाम नास्तिकता और मूर्तिपूजा है।

इसका उपाय क्या है? कितने ही लोग कहते है कि धर्मका उच्छेद करना चाहिये। खूनकी नदिया वहाकर भी धर्मका उच्छेद करना शक्य नही है। जव तक मनुष्य विचारी प्राणी है, श्रेयका शोधक है, ज्ञानका शोधक है, तव तक धार्मिक समाजोकी रचना होती ही रहेगी। और जव तक उसकी वुद्धि और चरित्रका विकास अपूर्ण है, तव तक अज्ञान, अधविश्वास, पक्ष और झगडे भी होते ही रहेगे। धर्मके अलावा दूसरे क्षेत्रोमे भी कुछ कम झगडे नही होते। इस सारी परिस्थितिमे से हमें मानव-कल्याणके मार्ग ढूढने है। परिशिष्टमे दिये हुए सूत्र इसी हेतुसे लिखे गये है। पाठकोंसे निवेदन है कि वे उन पर मनन करे।

*

अन्तमें मानवकी हिंसा न करना, सब मनुष्योके प्रति समवृत्ति, सर्वधर्म-समभाव, असत्य-मद्य-चोरी और व्यभिचारसे परहेज, व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक स्वच्छता और जगत्के प्रति कर्तव्य-निष्ठा -- ये मनुष्यके कमसे कम सदाचार अथवा धर्म है। इनके विना वाकी सारा तत्त्व-चिंतन, योगाभ्यास या धर्म-पालन अपनी छायाको पकड़नेके लिए की गई होड ही है, और सारी सूक्ष्म चर्चा परिणाममे केवल धुधली वुद्धि ही है।

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहित मुखम्।
तत्त्व पूपन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" ईश – १५

१

तत्त्वज्ञान

प्रस्तावना

१. वेद अर्थात् ज्ञान, अर्थात् अनुभव। वेदान्त अर्थात् ज्ञानका — अनुभवका अत, जिस मर्यादासे आगे अनुभव नही हो सकता। केवल वेद नामक ग्रथ या वेदान्त नामक दर्शन ही वेद या वेदान्त नही है।

२. तत्त्वज्ञानमे ग्रथका या अनुभवी पुरुषका महत्त्व या प्रामाण्य उतने ही अश तक माना जाना चाहिये, जितने अश तक वह अनुभवको प्रकट करता है या उसकी ओर हमे ले जाता है।

३ इस तरह प्राचीन श्रुति-स्मृतियोमे, मध्यकालीन सतवाणीमे, अर्वाचीन ग्रथोमे, वाइवल और कुरानमे, बौद्धग्रन्थोंमें, जैनग्रन्थोमे या जगत्की किसी भी भाषाकी प्राचीन या अर्वाचीन पुस्तकोमे तथा देशके किसी भी जीवित सतकी वाणीमे वेद तथा वेदान्तके वचन हो सकते हैं और उनसे विरुद्ध वचन भी हो सकते हैं। इसके लिए ग्रन्थ पढनेका उत्साह रखनेवालेको सब ग्रथोको समान आदर तथा विवेचक बुद्धिसे देखना चाहिये। इस अवलोकनका हेतु है अपने अनुभवको दूसरोके अनुभवसे मिलाना और अपने उत्कर्षके लिए उसमे से सूचना प्राप्त करना।

४ सब शास्त्रोके बीच किसी भी तरह एकवाक्यता बैठानेका प्रयत्न करना ठीक नहीं है।

५. अनुभव और अनुभवकी उपपत्ति अर्थात् भाषाके द्वारा समझाना और सजाना एक बात नही है। एक ही तरहका अनुभव होने पर भी अलग अलग अनुभव करनेवालोके समझाने और सजानेमे फर्क हो सकता है, अथवा इसके विपरीत एक ही प्रकारकी भाषाका प्रयोग

होने पर भी उनके अनुभवमे फर्क हो सकता है। इसलिए एक ही विषयके निरूपणमे परिभाषाका तथा मण्डनका फर्क पड़ता है अथवा एक ही परिभाषा और मण्डनमें से अनेक अर्थ निकलते है।

६ खास करके जव मूल वस्तु अदृश्य होती है और उसके परिणाम ही दृश्य होते है, तव उस वस्तुके स्वरूपके विषयमे तथा उसके और परिणामके वीच हुए व्यापारोके विषयमे ऐसी उपपत्तिके वारेमे वारवार फर्क पडनेकी सभावना रहती है।

७ ज्ञानततुओंके द्वारा होनेवाले (जैसे कि ज्ञानेन्द्रियो, षड्र्मियो, भावनाओ इत्यादिके) सव अनुभवोका भाषा द्वारा पूर्ण रूपसे वर्णन नही किया जा सकता। केवल उनका अगुलि-निर्देश ही किया जा सकता है। जैसे कि मिठास अथवा दया इन दोनोका हम सबको अनुभव है, ऐसा मानकर ही इन शव्दोका हम सफल उपयोग कर सकते है। ऐसा भी सभव है कि एक मनुष्यको अमुक अनुभव होने पर भी उसके प्रति उसका ध्यान न जाता हो। उसके लिए भी भाषा द्वारा किया हुआ निरूपण उपयोगी हो सकता है। परतु जिस वेदनाका किसी मनुष्यको कभी अनुभव ही नही हुआ हो, उसे शव्दोंसे समझानेमे पूरी सफलता नही मिलती। जैसे, जिसे कभी महारोग (कुष्ठ) न हुआ हो उसे महारोगीकी वेदनाका पूरा खयाल वर्णनसे नही आ सकता।

८. अदृश्य पदार्थोके स्वरूपको, दृश्य परिणामोके अदृश्य कारणोके स्वरूपको, कारण और कार्यके वीचके व्यापारोके स्वरूपको तथा जिस अनुभवके प्रति ध्यान न गया हो और जो अनुभव कभी हुआ ही न हो उसे मनुष्य उपमा या रूपकोके द्वारा समझने-समझानेका प्रयत्न करता है। अर्थात् उसकी किसी स्थूल पदार्थ या स्थूल व्यापारके साथ तुलना करता है और उसके जैसा ही यह पदार्थ या व्यापार होगा ऐसी कल्पना करता है। इस तरह अदृश्यको दृश्यकी परिभाषामे समझाने-सजानेको 'वाद' कह सकते है। ऐसे वादोका विज्ञानशास्त्रो तथा तत्त्वज्ञान दोनोमे उपयोग होता है। विश्वके मूल तत्त्वके अदृश्य स्वरूपके विषयमें तथा उसके और दृश्य विश्वके वीचके सवंधके विषयमें इस

तरह वाद रचे जाते है। मायावाद, लीलावाद, पुनर्जन्मवाद इत्यादि इसी तरहके वाद है।

९ वाद कोई सिद्धान्त—नियम अथवा अटल कानून नही है, परतु एक कामचलाऊ समझ है। हरएक पीढीमे जैसे जैसे जीवनमें अनुभव और अवलोकन बढता है और सूक्ष्म होता है तथा विज्ञान-शास्त्रोका विकास होता है, वैसे वैसे वादोके स्वरूपमें परिवर्तन होता रहता है। कलकी उपपत्ति आज छोड दी जाती है और नवीन उपपत्ति प्रस्तुत की जाती है। इस वादके द्वारा हम जितने अशमें अदृश्य पदार्थों या व्यापारोको समझा सकते है, उतने अशमे वह एक उपयोगी साधन होता है। जब इस वादके द्वारा किसी अनुभवको ठीक तरहसे नही समझाया जा सकता तब उसे छोड़ना पडता है। अब तकके सारे अनुभवोको उसके द्वारा समझनेमे हम सफल हो, तो वह अधिक श्रद्धा-योग्य होता है। ऐसा करते हुए कोई वाद सिद्धान्त अथवा नियमके रूपमे भी सिद्ध हो जाता है। परतु तब तक अमुक वादको ही पकडे रखनेका आग्रह सत्य-शोधनमे विघ्नरूप होता है।

१०. तत्त्वज्ञानका विज्ञानके साथ अधिक निकटका सबध है। विज्ञानका विचार सूक्ष्म होने पर तत्त्वज्ञानमें पहुच जाता है और तत्त्वज्ञानका विचार तफसीलोमें उतरते उतरते विज्ञानके क्षेत्रमे पहुच जाता है। तत्त्वज्ञान विज्ञानका निचोड और विज्ञान तत्त्वज्ञानका प्रमाण बने, तो वे परस्पर पूरक माने जा सकते है।

११ अनुभवोको ढूढने, सुधारने, विचारने, तौलने तथा भाषाके द्वारा प्रकट करनेके लिए तर्कशास्त्र इन दोनोका सहायक हो सकता है।

१२. परतु हमारे देशमें तत्त्वज्ञानको विज्ञानसे अलग करके मानो वह तर्कशास्त्रका एक परिशिष्ट हो इस तरह उसका अभ्यास करनेकी प्रथा पड गई है। वादोको सिद्धान्तो अथवा नियमोका महत्त्व दिया गया है और वे साम्प्रदायिक ममत्वके विषय बन गये है। अनुभवोको वादोकी मददसे समझानेके बदले केवल वादोको समझानेके लिए बडी बडी कथाएं रची गई है। इसमे तर्कशास्त्रका तथा कल्पना-शक्तिका दुरुपयोग हुआ है और तत्त्वज्ञान बहुत अशोमें तार्किक और काल्पनिक बन गया है।

१३. इसका परिणाम यह हुआ है कि जिज्ञासुके लिए तत्त्वज्ञानका पाण्डित्य सहायक होनेके वदले वाधक होता है।

१४ और तत्त्वज्ञानका जीवनके सामान्य व्यवहारोके साथ — अर्थात् धर्म, अर्थ और कामके पुरुषार्थोके साथ — निकटका सवध है। ये चारो एक-दूसरे पर आवार रखनेवाले और परस्पर उपकारक पुरुषार्थ हैं।

१५ परतु इन तीनोके और तत्त्वज्ञानके वीच रात और दिनका-सा विरोव है, ऐसा समझानेसे ज्ञानकी साधना उलटी दिशामे मुड गई है, और कभी कभी तो वह आलस्य, स्वार्थ तथा दुराचारकी तरफ भी झुक गई है।

१६. सत्यकी शोधके लिए हमारे देशमे अनेक मनुष्योने काफी त्याग करके अपार परिश्रम किया है, फिर भी ऊपरकी मान्यताके परिणाम-स्वरूप तत्त्वज्ञानने ज्यादातर व्यक्तिवादका ही पोषण किया है।

१७ और, उसीके परिणाम-स्वरूप वेदातके लेखकोने वाल, उन्मत्त और पिशाच वृत्तिके ज्ञानियोका एक वर्ग पैदा किया है। इसमे विचार-दोप है। ऐसी वृत्तिको आचार, विचार या साधनामे हुई किसी भारी भूलका परिणाम समझना चाहिये और वैसे लोगोकी वह अपूर्णता मानी जानी चाहिये।

१८. ऐसी ही दूसरी भूल ज्ञानियोको चरित्र और शीलके नियमोसे परे माननेमे हुई है। ज्ञानीका चरित्र और शील सामान्य मनुष्योसे वहुत ऊचा होना चाहिये और उसके द्वारा इस तरह सशोधन और मार्गदर्शन होना चाहिये, जिससे भूतमात्रका कल्याण हो।

परमेश्वर

१९ अपने अस्तित्व-सवधी अनुभवो और जगत्में मिलनेवाले अनुभवोंके स्वरूपको सूक्ष्मतासे देखने पर वेशक यह प्रतीति होती है कि सवके मूलमें एक ही तत्त्व है। जगत्के सव गोचर और अगोचर पदार्थ तथा शक्तिया इसी तत्त्वमे से निकली है, इसीमे रहती है और जव लय होती हुई दिखाई देती है तव इसीके किन्ही कार्योमें —

अर्थात् एक प्रकारके दृश्योमे से दूसरे प्रकारके दृश्योमे — केवल रूपान्तरित होती हैं।

२०. इस परम तत्त्वको क्रियाशून्य, चेतना-शून्य, ज्ञानशून्य, प्रेमशून्य, सुखशून्य अथवा जड या विनाशी नही कहा जा सकता। इसे जड अथवा आदि-अतवाला समझनेमे विचार और अवलोकनकी पूर्ण सूक्ष्मताका अभाव है। इस सूक्ष्म तत्त्वके स्वरूपका और चाहे जिस तरह वर्णन किया गया हो, फिर भी इतना तो इस विषयमे अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी सत्ता अविनाशी है तथा इसमे क्रिया, ज्ञान, प्रेम और सुखकी शक्तिमत्ता अथवा बीजरूप शक्ति है।

२१. अपने अस्तित्व-सबधी सारे अनुभवोका विश्लेषण करते करते आत्माका स्वरूप अनुभूतिमात्र, ज्ञप्तिमात्र, चिन्मात्र और निरहकार अर्थात् व्यक्तित्व-शून्य मालूम पडता है। इस विश्लेषणको कुछ कम सूक्ष्म करके कहे, तो वह अनुभविता, ज्ञाता, चैतन्य, साक्षी और सत्यव्यक्ति (अर्थात् सदा एक रूपमे रहनेवाला) होने पर भी अहतायुक्त प्रत्यगात्मा लगता हैं। इससे भी कुछ कम सूक्ष्मतासे कहे, तो वह कर्ता, भोक्ता तथा उन्नति-अवनतिको प्राप्त करनेवाला जीव लगता है।

२२. इसी तरह जगत्मे प्राप्त होनेवाले अनुभवोके स्वरूपको बहुत सूक्ष्मतासे देखे, तो उसके मूलतत्त्वका स्वरूप अनुभूतिमात्र, ज्ञप्तिमात्र, चिन्मात्र और व्यक्तित्व-शून्य मालूम पडता है। अपने तथा जगत्के अति सूक्ष्म परीक्षणमे व्यक्तित्व दिखाई न देनेसे दोनोकी एकताकी प्रतीति होती है। परतु इस सूक्ष्मताको कुछ कम करके कहे तो ऐसा लगता है कि जगत्मे कोई सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापक, कर्मफल-प्रदाता और तटस्थ सत्त्व है। इससे भी कम सूक्ष्मतासे कहे तो ऐसा लगता है कि वह उत्पत्ति-पालन-सहारकर्ता, सबका भोक्ता और सबका स्वामी तथा नियामक है।

२३. इस परम तत्त्वको भगवान, परमात्मा, ब्रह्म, अल्लाह, खुदा इत्यादिके नामसे पहचाने और कहे कि एक परमेश्वरका ही सनातन अस्तित्व है और जो कुछ अलग अलग दिखाई देता है, उसमे भी उसके सिवा कोई भिन्न तत्त्व मिला हुआ नही है।

२४. सब सतोकी यह निश्चित प्रतीति है। परतु परमेश्वरके स्वरूपकी उपपत्ति देनेमे सतोके निरूपणमे भेद हो जाता है। कुछ सत परमेश्वरको ज्ञप्तिमात्र, अनुभूतिमात्र, चिन्मात्र और सत्तामात्र कहते है। कुछ उसे सत्यकाम, सत्यसकल्प, सर्वकल्याणकारी, गुणोका भण्डार और आनदघन कहते है, और कुछ उसे सबका स्वामी, सबका कर्ता, नियामक, पालक और सहारक कहते है। जिस तरह कोई सिनेमाको शीघ्र गतिसे चलनेवाली चित्रमालासे नेत्रको होनेवाला आभास कहे और कोई गतिमान पदार्थोकी चित्र-परपरा कहे और कोई हिलनेवाले चित्र कहे, उसी तरह इन निरूपणोंका भेद है। जिस तरह सामान्य मनुष्योको 'हिलनेवाले चित्र' इतना निरूपण पर्याप्त लगता है, उसी तरह उन्हे परमेश्वरका सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सृष्टिका उत्पत्ति-पालन-प्रलय करनेवाला और सबका स्वामी यह निरूपण पर्याप्त लगता है। इन निरूपणोमे यह अनुभव तो समान है कि सबसे परे एक सच्चित् परमेश्वर तत्त्व ही है, परतु उसके सबधमे विचार या निरूपणकी सूक्ष्मतामे भेद है।

२५ मेरी दृष्टिसे परमेश्वर इस विश्वका सनातन और सर्वत्र फैला हुआ चैतन्य-बीज है। चैतन्य अर्थात् इच्छा (अथवा संकल्प)-शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। परमेश्वरका अस्तित्व काल्पनिक नही बल्कि सत्य होनेसे ही उसकी सकल्प-शक्ति भी सत्य सिद्ध होती है। अर्थात् सकल्पके अनुसार जगत्मे परिणाम उत्पन्न होते है।

२६. जिस तरह सोनेके अनेक आकार गढे जाने पर भी उसका सुवर्णत्व बदलता नही है, उसी तरह विश्वमे होनेवाली सब तोड-फोड, जन्म-मृत्यु और उत्पत्ति-प्रलयकी घटनाओसे परमेश्वरके सिवा कोई नया या भिन्न तत्त्व आता-जाता नही है।

२७. इस तरह परमेश्वर निर्विकार और अकर्ता (अर्थात् अपने सिवा अन्यको उत्पन्न न करनेवाला) है, परतु वह निष्क्रिय या स्थूल दृष्टिसे अपरिणामशील नही है।

२८ परमेश्वरकी इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियोके व्यापार निरतर और सर्वत्र चलते रहते है। इस कारणसे जगत्मे एक

विपल भी विना परिवर्तनके व्यतीत नही होता। और ये परिवर्तन अनत प्रकारके और अनत रीतियोसे होते है, अतः उनमे सदैव नवीनता रहती है। इसलिए जगत्मे विगत क्षणकी स्थिति वैसीकी वैसी फिर कभी नही आती। ये व्यापार सर्वत्र चलते रहते है, अतएव हरएक व्यापारमे कुछ व्यक्तित्व और मर्यादा भी आ ही जाती है। ये दोनो मिलकर हमे काल और देशका अनुभव कराते है।

२९ परमेश्वर सकल्प, ज्ञान और क्रियाशक्ति-रूप है और वह सर्वत्र तथा सत्य है। इस कारणसे एक प्रकारकी इच्छा-ज्ञान-क्रियामे से दूसरे किसी प्रकारकी इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदिमे रूपान्तर होनेका व्यापार कुछ व्यवस्थापूर्वक चलता है, चाहे जैसे उलटा सीधा नही चलता। इस व्यवस्थाके सब नियमोका अन्वेषण हम कर सके या न कर सके और जगत्मे हमारी आशाके अनुसार घटनाए घटित हो या न हो, परतु इसके व्यापारोमे कही पर भी नियम-शून्यता नही है, ऐसा कहनेके लिए हमारे पास जगत्का पर्याप्त अनुभव है।

३०. इस तरह किसी प्रकारकी व्यवस्थावाले, सर्वत्र फैले हुए, इच्छा, ज्ञान या क्रियाओके व्यापारोके हमे जो अनेक तरहके अनुभव होते है, वे यह जगत् है।

३१. बीता हुआ क्षण वापस नही आता और स्वप्नवत् हो जाता है तथा भविष्य-काल केवल आशा ही है और वह सिद्ध हो तो भी क्षणभर ही रहती है, फिर भी जगत् रज्जुमे सर्पके भ्रमके समान, या स्वप्नके भोगोके समान, या गधर्व नगरीकी तरह केवल झूठी माया अथवा काल्पनिक भास नही है, किंतु जिस तरह नदी पानीकी खास तरहकी गतिका सच्चा अनुभव है, उसी तरह जगत् चारो ओर सतत चलते रहनेवाले व्यापारोका सच्चा अनुभव है।

३२ और जगत् किसी लाड-प्यारसे बिगडे हुए, ऊधमी या स्वच्छन्द लडके जैसा, परतु अत्यत नविनमान सत्वकी लीला अर्थात् खेल नहीं है, लेकिन एक महान शक्तिमे उसके स्वभावानुसार नियम-पूर्वक चलनेवाले व्यापार है।

जीव और जड़

३३. अनादि और अविनाशी केवल परमेश्वर ही है। उसके सिवा दूसरा कोई अत्यन्त अनादि या अत्यन्त अविनाशी नही है। अर्थात् जीव या जड़ तत्त्व चाहे जितने लवे समय तक एकरूप रहे हुए प्रतीत हो, फिर भी उनका आदि तथा अत है। परंतु आदिका अर्थ शून्यमें से उत्पन्न होना नही और अतका अर्थ शून्य होना नही हैं। उनका अर्थ एक प्रकारके दृश्योंसे दूसरे प्रकारके दृश्योंमें परिवर्तित होना है।

३४. जीव और जडके वीच भी कोई सनातन और नित्य भेद हो, ऐसा मालूम नही होता। अर्थात् जीवमें से जड और जडमें से जीवका परिवर्तन होना असभव नही है।

३५ जिसे अलगसे पहचाना जा सके, ऐसा कोई भी जड़ या चेतन पदार्थ या व्यापार जव तक उसका अलगाव रहता है तव तक भिन्न व्यक्ति है। इस तरह हरएक व्यक्तिका सच्चा अस्तित्व हैं।

३६ ऐसा कोई भी व्यक्ति विश्वसे विलकुल अलग और स्वतत्र नही हो सकता। सव एक-दूसरेके साथ और जगत्के साथ किसी न किसी तरह जुडे हुए है।

३७ परतु व्यक्तिमात्रका उपादान-कारण परमेश्वर ही होनेसे यह कहा जा सकता है कि ये सव परमेश्वरके रूप है और परमेश्वरसे कोई अलग नही है। परतु ऐसा कोई भी व्यक्ति एक ही समयमे परमेश्वरकी सव प्रकारकी शक्तियो या व्यापारोको प्रकट नही कर सकता। इसलिए किसी भी जड या चेतन व्यक्तिके वारेमे यह कहना ठीक नही कि वह परमेश्वर अर्थात् समग्र ब्रह्म है। परतु यह कहना ठीक है कि वह स्वय या कोई दूसरा ब्रह्मसे अलग नही है या तत्त्वत. ब्रह्म है।

३८. ब्रह्मके विपयमें 'मैं' का प्रयोग नही हो सकता। इस तरह प्रत्यगात्माको विशिष्ट ब्रह्म कहनेकी रीति ज्यादा ठीक लगती है।

३९ हममे जो भी इच्छाए, ज्ञान और क्रियाए मालूम होती हैं और जिन्हे हम अपनी इच्छाए, ज्ञान और क्रियाए मानते हैं, वे सचमुच वैसी न भी हो और सम्भव है कि हम विश्वमें व्याप्त अनेक

तरहकी इच्छा-ज्ञान-क्रियाकी तरगोको झेलनेवाले और प्रकट करनेवाले भिन्न प्रकारसे रचे हुए द्रष्टा अथवा साक्षी और कदाचित् उन्हे किसी भिन्न दिशामे ले जानेवाले निमित्त ही हो।

४० इससे देहके विना अथवा अलग अलग देहोको धारण करके हमारा व्यक्तित्व सदैव वना रहे, अथवा सारे जगत्का चाहे जो हो और वह चाहे जितना परिवर्तनशील हो, परतु हमारा व्यक्तित्व अपरिवर्तनशील और नित्य टिकनेवाला अथवा जगत्से भिन्न, स्वतंत्र और परे हो, अथवा जगत्मे हमारा व्यक्तित्व दूसरोसे भिन्न मार्ग निकालकर अपनी विशेपता प्रकट करनेका सतोप हमे दे—इन सव इच्छाओमे व्यक्तिवाद है और आत्माका अशुद्ध अभिमान है।

४१ परमेश्वरमे विश्वरूपमे चलनेवाले इच्छा-ज्ञान-क्रियाके अनत व्यापारोमे से कुछको प्रकट करने, रूपान्तर करने और पहचाननेके हम एक खास रचनावाले साधन अथवा यत्र है। यह यत्र जगत्के महायत्रका एक अग है और उसके साथ सलग्न है। जगत्मे चलनेवाले व्यापारोका इस यत्र पर प्रभाव पडता है और इसमे चलनेवाले व्यापारोका जगत् पर प्रभाव पडता है। हममे मालूम होनेवाले व्यक्तित्वके भानका योग्य उपयोग यह है कि परमेश्वरके लिए, अर्थात् जगत्के हितके लिए, इस यत्रको अर्पण कर दिया जाय। इसकी विशेपताएं स्वार्थके लिए नही परन्तु परमार्थके लिए हो। इसमे प्रकट होनेवाली इच्छा-ज्ञान-क्रियाओमे अपने लाभकी या सतोपकी वृत्ति नही, परन्तु यथासभव जगत्के हितकी वृत्ति हो। इस दिशामे किया जानेवाला प्रयत्न व्यक्तित्वकी शुद्धि अथवा आत्माके शुद्ध अभिमान और निरहंकारिताके प्रति प्रयाण है।

४२ मरनेके वाद हममे दिखाई देनेवाले वर्तमान व्यक्तित्वका क्या होगा, इसकी चिंता अथवा उसे टिकानेकी इच्छा योग्य नही है। सभव है कि छादोग्योपनिषद्के कथनानुसार, जिस तरह अलग अलग फलोका मधु छत्तेमे एकत्र होनेके वाद अथवा विभिन्न नदियोका पानी समुद्रमे मिलनेके वाद, उनमे यह इस फूलका मधु है अथवा यह उस नदीका पानी है ऐसा व्यक्तित्व मालूम नही होता अथवा पानीकी

बूदके भाप वनकर उड़ जानेके वाद उस बूदके अशोका इतिहास नही ढूढा जा सकता, उसी तरह 'इमा सर्वा. प्रजा· सति सपद्य न विदु सति सपद्यामह इति।' १६–९–२ (सब प्रजाए सत्‌मे जानेके वाद हम सत्‌में चली गई है ऐसा नही जानती, अर्थात् अपना भिन्न व्यक्तित्व नही रख सकती।)

२

धर्म

(अ) सामान्य रूपसे

१ प्राणीमें विचार और विवेक उत्पन्न होनेके साथ ही धर्म उत्पन्न हो जाता है।

२ धर्म अर्थात् आचारके नियम—विधि-निषेध, क्या, कव, कैसे, कितना, किस तरह अमुक काम करना या न करना—यह सब धर्म-विचार है।

३ जो वचन सव मनुष्योके सव प्रकारके श्रेय और प्रेयका समवृत्तिसे विचार करके तथा अन्य भूतोके हितोका भी सहानुभूतिपूर्वक विचार करके आचार-व्यवहार और प्रायश्चित्तके नियम सूचित करते है, उनका नाम है धर्मशास्त्र। भले ये वचन इस देशके पुरुषोके हो या परदेशके हो, प्राचीन हो या अर्वाचीन हो और धार्मिक पुस्तकोके नामसे उनकी ख्याति हो या न हो। इससे उलटे, धर्मशास्त्रके नामसे पहचाने जानेवाले प्राचीन या अर्वाचीन ग्रथोमे तथा सतोकी वाणीमे धर्मशास्त्रकी कोटिमे न आ सकनेवाले वचन भी हो सकते है। जितने अंशमे वे वचन मनुष्यमे सद्‌वुद्धि और सत्प्रवृत्ति प्रेरित करते है तथा सर्वभूतोके प्रति समभाव प्रकट करते है, उतने अशमे वे धर्मशास्त्र माने जा सकते है।

४. अकेले रहनेवाले व्यक्तिको भी अपने श्रेय (चित्तके सतोष) और प्रेय (भौतिक सुख) के लिए धर्मका पालन करना पडता है। परन्तु

विशाल दृष्टिसे कोई भी प्राणी बिलकुल अकेला रहता ही नहीं। सजातीय जीव न हो तो विजातीय जीव साथमें होते हैं और उनके साथ भी किसी न किसी प्रकारका समाज और उसका धर्म उत्पन्न हो जाता है।

५ धर्मका पालन व्यक्तिके तथा समाजके सुखके लिए है। उसमें होनेवाले भगका परिणाम दोनोको भोगना पडता है। किसी समय भग करनेवालेको अधिक भोगना पडता है और किसी समय समाजको।

६ इससे सजातीय समाजोमे हरएक व्यक्तिसे उसके कर्तव्योका पालन करानेके लिए अलग अलग व्यवस्थाए उत्पन्न होती है।

७ मनुष्यके सिवा दूसरे प्राणियोमे भी ऐसी व्यवस्थाए देखनेमे आती है। यह अलग बात है कि उन्हे हम धर्मका नाम नही देते।

(आ) मानव-समाज और धर्म

अब हम मानव-समाज और धर्मका विचार करे।

८ समाजकी व्यवस्थाओ और नियमोके पीछे उसके आधारके रूपमे जीवन तथा जगत्के स्वरूप और सम्बन्धके विषयमे, जीवनके आदर्शोके विषयमे, जिन्हे नियमोका पालन करना है और जिनमे नियमोका पालन कराना है उनके बीचके सम्बन्धके विषयमे, व्यक्ति तथा समाजके सम्बन्धके विषयमे तथा समाजकी व्याप्ति और मर्यादाके विषयमे, कम-ज्यादा विकसित कोई दृष्टि तथा भावना रहती है, अर्थात् तत्त्वज्ञान भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान और बुद्धि तथा हृदयका (अर्थात् दृष्टि तथा भावनाकी विशालताका) कम-ज्यादा विकास है।

९ इस तरह तत्त्वज्ञानकी, बुद्धिकी और हृदयकी विभिन्न भूमिकाओके अनुसार अलग अलग नियमोको धर्म माननेवाले अलग अलग समाज है।

१० धर्मकी नीव गहरी हो या छिछली, मजबूत हो या कमजोर, व्यापक क्षेत्रमे फैली हुई हो या सीमित क्षेत्रमे, परन्तु धर्मका हेतु अपने क्षेत्रमे आनेवाले समाजका श्रेय और प्रेय करना होता है।

११. कुछ धर्म मुख्यत. श्रेयकी दृष्टिसे विचारे गये होते है, और कुछ प्रेयकी दृष्टिसे। दोनोमे कभी तत्त्वदृष्टि प्रधान होती है, तो कभी विज्ञान-दृष्टि।

१२. जिस समाजकी रचनामें तत्त्वदृष्टि और विज्ञान-दृष्टि, अथवा श्रेयदृष्टि और प्रेयदृष्टि, एक-दूसरेके साथ खूब घुलमिल जाती है, वह समाज और उसका धर्म दोनो एकरूप हो जाते है, जैसे कि हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म, मुसलमान समाज और इस्लाम। ऐसे समाजोको हम जातीय (कौमी) समाजके नामसे पहचानते है।

१३ जिस समाजकी रचना प्रधान रूपसे तत्त्वदृष्टि द्वारा श्रेय और प्रेय दोनोकी सिद्धिके लिए होती है, वह धार्मिक मत, पथ और सम्प्रदायका रूप धारण करता है। कालान्तरमे, उसमे से उपर्युक्त प्रकारका समाज भी अस्तित्वमे आ सकता है। इसे हम साम्प्रदायिक समाज कहेगे।

१४ जिस समाजकी रचना प्रधान रूपसे तत्त्वदृष्टि या विज्ञान-दृष्टिके द्वारा केवल श्रेयप्राप्ति (मानसिक सतोष) के लिए होती है, वह विभिन्न दर्शनो (schools, academies) का रूप लेता है। उसे हम दार्शनिक समाज कहेगे।

१५ जिस समाजकी रचना मुख्यत विज्ञान-दृष्टिके द्वारा केवल प्रेयप्राप्तिके लिए होती है, उसके भौतिक, राजकीय, आर्थिक, सामाजिक इत्यादि समाज बनते है और वे प्रजाओ, वर्गो, दलो या पार्टियोके नामसे पहचाने जाते है। इन्हे हम भौगोलिक समाज कहेंगे।

१६ इन चारो तरहके समाजोमे परस्पर सघर्ष और कलहकी तथा स्नेह और भाईचारेकी शक्यता रहती है।

१७. इनमें से यहां हमने भौतिक समाजोका विचार छोड़ दिया है। केवल इतना कहना चाहिये कि इन समाजोमे भी अधविश्वास, अव-श्रद्धा, अज्ञान, जान-बूझकर गलत मार्गदर्शन इत्यादि पहले तीन प्रकारके समाजोकी अपेक्षा कम होते है, ऐसा माननेके लिए कोई कारण नही है।

१८ जातीय समाज, साम्प्रदायिक समाज और दार्शनिक समाजोमें सही या गलत कुछ श्रेयदृष्टि रहती ही है और धर्म शब्दके रूढ अर्थमे

श्रेयका भाव समझा जाता है, इसलिए सुविधाके खातिर इन तीनोको हम धार्मिक समाज अथवा धर्मो (बहुवचनमे) के नामसे पहचानेंगे। अनुगम इनका सही नाम होगा।

(इ) धार्मिक समाज

१९ मनुष्यका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि केवल प्रेयोकी प्राप्तिमे ही उसे पूरा संतोष और शान्ति नही होती। सब तरहके प्रेय होने पर भी उसे जीवनमे कुछ ऐसी कमी महसूस होती रहती है, जिसके कारण वह संतोष और शांतिका अनुभव नही कर पाता। संतोष तथा शांतिकी शोध ही श्रेयकी शोध है।

२०. कुछ मनुष्योमे यह इच्छा इतनी तीव्र होती है कि वे न केवल श्रेयको ढूढ़ते नही है, परन्तु प्राप्त हुए प्रेयोको भी छोड देते है। परन्तु कई बार ऐसा होता है कि जिन्होने श्रेयके लिए प्रेयको छोड दिया है, वे अमुक कालके बाद फिर प्रेयार्थी बन जाते है। धर्मोमे पाखडका प्रवेश ज्यादातर इसी वर्गके मनुष्यो द्वारा होता है। इन दोनोको छोडकर बाकीका बडा जनसमुदाय श्रेय और प्रेय दोनोकी इच्छा करनेवाला होता है।

२१. ज्यादातर धर्मोका और सम्प्रदायोका उद्भव और प्रचार पहले दो वर्गके मनुष्य करते है, और बहुजन समाजमे से उनके अनुयायी बनते है। जिस तरह सामान्य मनुष्य अपने दुनियावी कामोमें भी डॉक्टर, वकील, इजीनियर जैसे अलग अलग धधोके निष्णातो पर उस उस कामके लिए विश्वास रखते है, उसी तरह वे श्रेयके सम्बन्धमे ऊपरके दो वर्गोके मनुष्योका अनुसरण करते है। जिस तरह स्वार्थी निष्णात अपने पर विश्वास रखनेवाले मुवक्किलोके विश्वास और उस कामके बारेमे उनके कम ज्ञानका नाजायज फायदा उठाता है, उसी तरह धार्मिक निष्णातोका भी होता है।

२२ इसके सिवा, मनुष्यका चित्त कुछ इस तरहसे बना हुआ मालूम होता है कि कोई वस्तु असत्य अथवा कम सत्य है, ऐसा जानते हुए भी उसे सत्य अथवा पूर्ण सत्यके रूपमे प्रस्तुत करता रहनेवाला मनुष्य धीरे धीरे ऐसा ही मानने लग जाता है। इस तरह असत्यमे

सत्याग्रह-निष्ठा जमनेकी सभावना रहती है। इस प्रकार पाखण्ड भी धार्मिक बन जाता है, और उसमे यदि अनीति स्पष्ट न दिखाई दे, तो उसे सहिष्णु वृत्तिसे देखनेके प्रसग आते है। धर्मोकी अनेक रूढियो और मान्यताओ इत्यादिके सम्बन्धमे ऐसा ही हुआ है। पर-धर्म-सहिष्णुता, पर-अधर्म-सहिष्णुता तथा पुराने अन्यायोके प्रति क्षमादृष्टि रखनेके पीछे ऐसी उदारता रहती है।

२३ सामान्यत धर्मोका स्वरूप जाचने पर उनमे नीचेकी असत्य या अर्धसत्य बातोमे सत्यनिष्ठासे प्रचार और पोषण किया हुआ देखनेमें आता है.

(१) परमेश्वरके सगुण निरूपणमे,

(२) किसी व्यक्तिको तारनहारके रूपमे प्रस्तुत करनेमे,

(३) किसी वादको अचल सिद्धान्तके रूपमे प्रस्तुत करनेमे,

(४) समीपवर्ती समाजकी तत्कालीन स्थितिमे से पैदा होनेवाले आचारके नियमोको सर्वव्यापक और सर्वकालीन माननेमे,

(५) किसी ग्रथको विवेचक-बुद्धिसे परे समझकर प्रमाणभूत माननेमे,

(६) सामान्यत ज्ञान, आलवन (उपासना अथवा आश्रय), भक्ति, साधना, तप और धर्म (अर्थात् आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त) तथा सदाचारके मूलोंका पोषण करनेके बदले केवल शाखाओको सभालनेमे,

(७) वाममार्ग अथवा दुराचार उत्पन्न करनेमे।

२४ जैसा कि परमेश्वर विषयक सूत्रमे कहा गया है, परमेश्वरका सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सारी सृष्टिका उत्पत्ति-पालन-प्रलयकर्ता, सबका स्वामी और सर्वश्रेष्ठ गुणोका भण्डार आदि शब्दोमे वर्णित स्वरूप सामान्य मनुष्योंके लिए पर्याप्त तथा समझनेमे सरल होता है। इस निरूपणमे परमेश्वरके विषयमे किसी आकारका आरोपण या सृष्टिकी रचनामे किसी दूसरे उपादान-कारणकी कल्पना नही है। परन्तु विभिन्न धर्मोंमे परमेश्वरके लिए राजा या योगीके रूपकोकी कल्पना की गई है। अर्थात् समाजमे एकाध चक्रवर्ती राजा या योगीश्वर और उसके वैभवके विषयमे जो कल्पना होती है, उसमे अनेक गुनी बढी-चढी

कल्पना परमेश्वर तथा उसके धाम, वैभव और व्यवस्थाके विषयमे की जाती है। इन कल्पनाओंके लिए रखी जानेवाली आग्रह-बुद्धि धर्मोंके बीचके कलहका एक कारण होती है। इन कल्पनाओके परिणाम-स्वरूप बडे बडे पडितों और धर्माचार्योमे भी यह मान्यता पाई जाती है कि परमेश्वर जगत्का निमित्त-कारण ही है, अथवा मनुष्यके जैसी योजना और विचार करनेकी पद्धतिसे जगत्की व्यवस्था चलती होगी। और सामान्य मनुष्योके मनमे ऐसी कल्पना तक नही उठती कि परमेश्वर जगत्का उपादान-कारण है।

२५. राजारूप या योगीरूप परमेश्वरवादमे से ही उसके अवतार, पुत्र, प्रतिनिधि, पैगम्बर तथा उसके विरोधी शैतान, मार, कलि इत्यादिकी कल्पनाए हुई हैं। समाजको ऊपर उठानेवाले किसी लोकोत्तर पराक्रमी अथवा सत पुरुषको परमेश्वरका पूर्ण स्वरूप या उसकी ओरसे नियुक्त किये हुए तारक-रूपमे प्रस्तुत करके उसके आस-पास एक समाजकी रचना करना विभिन्न धर्मोंकी विशेषताए हैं। धर्म धर्मके बीचके झगडोमे इन तारनहारोके प्रति रहे अनुचित अभिमानका बडा हाथ रहता है।

२६. एक नवीन समाज रचनेवाला पुरुष अपने कालके और आसपासके लोगोकी अपेक्षा चाहे जितना ऊचा उठा हुआ हो और वह अपने नवीन समाजमे उस समय चाहे जितने भारी परिवर्तन करता दिखाई देता हो, फिर भी सूक्ष्मतामे देखने पर वह अपने कालकी सैंकडो रूढियोमे से कुछ इनीगिनी रूढियोमे भी मुश्किलसे मूल परिवर्तन कर सकता है। दूसरी रूढियोको वह जैसीकी तैसी रखकर, उन पर अपनी स्वीकृतिकी मुहर लगाकर, कदाचित् उन्हे और अधिक मजबूत भी कर जाता है। सभव है कि ये रूढिया भी उसके आसपासके और उसीके समयके समाजके लिए अयोग्य न हों। परन्तु उस पुरुषके पीछे जब एक धार्मिक समाज उत्पन्न होता है, तब उन रूढियो तथा उसके द्वारा किये हुए परिवर्तनोको सर्वकालीन और सर्वदेशीय बनानेका और उनमे परिवर्तन न होने देनेका आग्रह पैदा होता है। सनातनी वृत्तिका तथा इन धर्मोंके बीच कलहोका और धर्मके विकासको रोकनेका यह

भी एक कारण है। जब इन रूढियोके पीछे किसी वर्गके प्रेय भी जुडे रहते है तब वह वर्ग कलह और प्रगति-विरोधका अधिक बलवान कारण बनता है।

२७. मनुष्योकी बुद्धिया और वृत्तिया विविध प्रकारकी होती है। परन्तु साथ ही उनमे समानताये भी होती है। इससे थोडी-बहुत समान बुद्धि और वृत्तिवाले मनुष्योके अलग अलग झुड बध जाते है। कुछ झुड बिखर जाते है, तो थोडे ही समयमे दूसरे नये झुड पैदा हो जाते है। समाजके बीच रहनेवाला ऐसा शायद ही कोई मनुष्य मिल सकता है, जो किसी झुडमे शरीक न हो। फिर मनुष्योकी बुद्धि तथा उसके अनुसार आचरण करनेकी शक्तिमे बहुत अतर रहता है। इस तरह सारी मानव-जातिके लिए एक ही विधान होना कठिन है। ऐसा मानकर ही चलना चाहिये कि मनुष्य अलग अलग तरहके, कही परस्पर सकलित और कही स्वतत्र समाजोकी रचना करके रहेगे। यह बात धार्मिक तथा दूसरी तरहके समाजोको भी लागू होती है। सारा मानव-समाज किसी एक ही धर्म या मतका बनाया जा सकता है अथवा प्रत्येक व्यक्तिका स्वतत्र ही धर्ममत होना चाहिये—ये दोनो मान्यताए अव्यवहार्य है।

२८. इसलिए जगत्के वर्तमान हिन्दू-मुसलमान इत्यादि धर्म मिट जाय, तो भी जब तक मनुष्य विचारी प्राणी है तब तक विभिन्न धर्ममतोका निर्माण होता ही रहेगा। इन सबका निर्माण मानव-समाजके सुख और शातिके लिए हो और वे सर्वोदयको बढानेमे हिस्सा ले, ऐसी ही शर्ते ढूढनी चाहिये; और इन शर्तोका पालन हो सके, इस प्रकार प्रचलित धर्मोका सशोधन और नवीन धर्मोकी रचना होनी चाहिये।

(ई) धर्मोका संशोधन

२९. मनुष्यके श्रेय-साधनके प्रयत्नोको पोसनेके लिए अलग-अलग धर्मोने अलग-अलग बातो पर जोर दिया है। फिर भी सब धर्मोमे नीचेके छह अग सामान्य रूपसे दिखाई देते है—तत्त्वज्ञान, आलबन (उपासना अथवा आश्रय), भक्ति, साधन-मार्ग, तप और सदाचार।

३०. हरएक धार्मिक समाज इन अगोंका विशिष्ट ढगसे पोषण करे इसमे दोष नही है। परन्तु इस पोषणमे नीचेके नियमोका पालन करना चाहिये, और जिस हद तक किसी धर्म या उसके ग्रथोमे इन नियमोका भग होता हो उस हद तक इनमे सशोधन करके दोष दूर कर देने चाहिये।

३१. पहला नियम है मानव-अहिंसाका। सब धर्मोने थोडे-बहुत प्रमाणमे अहिंसा-वृत्तिको पोषण दिया है तथा उसके ऊपर भार भी दिया है। परन्तु मानव-हिंसाका पूरा निषेध शायद ही प्राचीन धर्मोंने किया है। इन धर्मोंकी उत्पत्ति जिस कालमे हुई उस कालमे मनुष्योकी परस्पर हिंसा लगभग प्रतिदिनकी वस्तु थी, अतएव उस समय प्राणी-हिंसाकी अपेक्षा मानव-हिंसाका निषेध करना ज्यादा कठिन मालूम हुआ होगा। इस कारण धर्म-प्रवर्तकोको शायद उस दिशामे अपने विचार प्रस्तुत करनेकी बात ही नही सूझी। इसके परिणाम-स्वरूप अहिंसावादी या भूतदयावादी धर्मोमे भी मानव-हिंसाके प्रति शायद ही ध्यान दिया गया है; उलटे कई बार तो उसे उत्तेजन भी मिला है। स्वय धर्मके प्रचारके लिए भी मानव-हिंसा हुई है और उसे पुण्यकार्य भी माना गया है। धर्मोकी इस त्रुटिको सुधारना चाहिये। और, अहिंसाके पालनमे मानव-हिंसाके निषेधको प्रथम और दूसरे प्राणियोकी हिंसाको द्वितीय स्थान दिया जाना चाहिये। अपने धर्मके पालन, प्रचार या विकासमे कही भी मानव-हिंसा करनेकी छूट नही होनी चाहिये। इसमे आततायीके सामने अपना या दूसरेका प्रत्यक्ष रक्षण करनेमे जो हिंसा अनिवार्य रूपसे करनी पडे, उसीको अपवाद माना जाय। कोई अपराध हो जानेके बाद अपराधीको सजाके तौर पर देहान्त-दण्ड देनेकी या उसका अगच्छेद करनेकी प्रथा बिलकुल बन्द हो जानी चाहिये।

३२. दूसरा नियम है सर्वधर्म-समभावका। अर्थात् मनुष्य अपनी बुद्धि या वृत्तिके अनुसार अलग-अलग गुरुओ, सतो, मार्गदर्शकों, वीरो तथा ऐतिहासिक, पौराणिक या रूपकात्मक व्यक्तियोंके प्रति भले ही भक्तिभाव रखे और उनके उपदेशोका अनुसरण करे, परन्तु किसी भी धर्मका अनुयायी ऐसा न कहे कि वह व्यक्ति समग्र परमेश्वर है,

अथवा परमेश्वरका अवतार, पैगम्बर या दूसरा प्रतिनिधि है, या वैसे व्यक्तियोमे सर्वश्रेष्ठ है; तथा ऐसा भी न कहे कि उसके आलंबनके विना किसीका उद्धार नही होगा। वल्कि ऐसा समझकर कि अपने जैसी वृत्तिके मनुष्योके लिए वह योग्य मार्गदर्शक हो तो भी दूसरी वृत्तिके मनुष्योंके लिए दूसरे भी उतने ही योग्य मार्गदर्शक हो सकते है, वह सव धर्मों और उनके प्रामाणिक अनुयायियोके प्रति आदरभाव रखे और ऐसा आदर रखकर ही अपने मार्गदर्शकके प्रति रही अपनी भक्ति और समझको दूसरोके सामने प्रकट करनेकी जरूरत मालूम होने पर वैसा करे।

३३. तीसरा नियम है पाखण्ड-निषेधका। सव धर्मोंकी अनेक वातोमे अशुद्धि, मूढता, त्रुटिया आदि है। हरएकमे कुछ पाखण्ड, प्रत्यक्ष दुराचार इत्यादि भी घुस गये है। ऐसा कह सकते है कि हरएक धार्मिक समाजमे दक्षिण-मार्गी और वाममार्गी पथ है। फिर, कुछ दक्षिण-मार्गी होनेका ढोग करते है, और कुछ सच्ची निष्ठासे वाम-मार्गी होते है। सर्वधर्म-समभावका अर्थ यह नही है कि अपने या दूसरेके धर्ममें दिखाई देनेवाली त्रुटि, अशुद्धि अथवा मूढताकी टीका ही नही की जा सकती, दभ और स्वार्थ प्रकाशमें नही लाये जा सकते अथवा पाखण्ड और दुराचारोका विरोध नही किया जा सकता। परन्तु टीका और विरोध तीव्र होते हुए भी अहिंसात्मक ढगसे ही होने चाहिये, असत्य या अतिशयोक्तिपूर्ण आक्षेप, विडम्वना, गाली-गलौज, उद्धतता या असभ्यताके लिए उनमे स्थान नही होना चाहिये। सत्याग्रहका आचरण किया जा सकता है, परन्तु वलात्कारका प्रयोग कदापि नही किया जा सकता।

३४ चौथा नियम है समाज-व्यवस्थाके पालनका और पडोसी-धर्मका। अर्थात् कोई मनुष्य भले अपनी रुचिके अनुसार भक्ति या अनुष्ठानकी विधि अपनाये, व्रतोका पालन या उद्यापन करे, परन्तु वह सव सार्वजनिक हितके विरुद्ध न हो और पडोसीकी उचित भावनाओका ध्यान रखकर ही होना चाहिये।

३५. पाचवा नियम है सदाचारका। किसी भी धर्मको दुराचारका बचाव नही करने दिया जा सकता। जैसे सत्य, अहिंसा, नियताचार, स्वच्छता, अमत्तता (non-drunkenness) इत्यादि सार्वजनिक सभ्यताए है। इसलिए विश्वासघात, व्यभिचार, अत्याचार, चोरी, लूट इत्यादि आततायी कर्म, सार्वभौम अधर्म अथवा दुराचार है और अविनय, गन्दगी, शराबखोरी इत्यादि सार्वजनिक असभ्यताए है। ऐसे कार्यों या आदतोमे धार्मिकताका खयाल बढानेवाले उपदेशोको त्याज्य समझकर निकाल डालना चाहिये।

३६ छठा नियम है सार्वजनिक श्रेयसिद्धिका। राज्य, समाज, कुटुम्ब, लग्न, उत्तराधिकार, उद्योग, नगर इत्यादिकी व्यवस्थाओमे विभिन्न धर्म अपने अनुयायियोके लिए जो विशेष नियम निश्चित करे या प्रचलित रूढियोमे परिवर्तन करे, वे ऐसी मर्यादामे होने चाहिये कि जिससे वे उस धर्मके अनुयायियोकी अपेक्षा अधिक विशाल समाजके लिए हितकारी हों अथवा अनुकरण करने योग्य लगे, न कि केवल उस धर्मके अनुयायियोका ही श्रेय बढानेवाले अथवा विशाल समाज पर भार बढानेवाले हो। उदाहरणके लिए, आसपासके समाजमे अनेक स्त्रियोंसे विवाह करनेकी प्रथा हो तो कोई धर्म अपने अनुयायियो पर एकपत्नीव्रतका नियम लाद सकता है, परन्तु आसपासके समाजमे एकपत्नीव्रतकी प्रथा हो तो वह बहुपत्नीत्वका अधिकार सामने नही रख सकता। अथवा आसपासके समाजमे स्त्रियोंका उत्तराधिकार कम हो तो कोई धर्म उसे बढा तो सकता है, परन्तु आसपासके समाजमे जितना अधिकार प्रचलित हो उसे कम वह नही कर सकता। इसी तरह धर्मोके क्षेत्रको इस सम्बन्धमे इतना मर्यादित समझना चाहिये कि विशाल समाज इस सम्बन्धमे सामाजिक हित बढानेके लिए जो परिवर्तन करना चाहे, उसमे धार्मिक समाजोकी ओरसे बाधा नही खडी की जा सकती। यह नियम नवीन धर्मों, बाहरसे आकर नये क्षेत्रमे प्रवेश करनेवाले धर्मों तथा धर्मान्तर करनेवाले धर्मों—तीनोको लागू होना चाहिये। मतलब यह है कि धार्मिक समाज प्रत्येक क्षेत्रमें जो विशेषता आने

स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंमें पति-पत्नीके बीच की आचार-मर्यादा।

अनुयायियोके लिए दाखिल करे, वह श्रेयकी दृष्टिसे और संयमकी दिशामे होनी चाहिये, भोगवृद्धिकी तथा अपने ही अनुयायियोके अधिकारोकी वृद्धिकी दिशामे नही होनी चाहिये।

३७ इस दृष्टिसे सब धर्ममतोंका संशोधन और उनका नया विवेचन होनेकी जरूरत है। उदार धार्मिक वृत्तिवाले, सर्वधर्म-समभावी तथा धर्म और तत्त्वज्ञानके अभ्यासी इस तरहसे अलग अलग धर्मोका संशोधित स्वरूप प्रजाके सामने रखें, तो वह अच्छी सेवा हो सकती है।

३८ यह संशोधित विवेचन इस तरहका होना चाहिये कि बहुत संकुचित दृष्टिसे न देखनेवाले अनुयायीको भी वह मान्य हो और अन्य धर्मियोको उसमे कुछ खटकनेवाली बात न मालूम हो। वह केवल उन उन धर्मोकी प्रशस्ति-मात्र न हो। उनमे घुसे हुए दोषोका तथा छोड देने योग्य अंशोका निडरता परन्तु समभावसे किया हुआ निरूपण भी उसमे होना चाहिये।

३९ उन उन धर्मोके अनुयायियोको यह काम करनेका स्वभावत ज्यादा अधिकार है। उन्हे इसके लिए ज्यादा अनुकूलता होनेके कारण ऐसा करना उनका कर्तव्य भी माना जा सकता है। परन्तु यह नही मानना चाहिये कि दूसरे धर्मके अधिकारी पुरुष वैसा नही कर सकते।

४०. संकुचित दृष्टिवाले अनुयायियो तथा जिनके स्वार्थ और वामाचारको आघात पहुचे ऐसे पाखण्डी पुरुषोकी ओरसे इस प्रयत्नका विरोध होनेकी संभावना है। परन्तु ये ग्रंथ यदि सामान्य मनुष्योकी अपने अपने धर्मम विकसित धार्मिक वृत्तिका उचित पोषण करनेवाले और उनके ज्ञान, आलबन, भक्ति, तप, साधन और सदाचारको योग्य दिशामें ले जानेवाले होगे, तो वे मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त किये विना नही रहेंगे।

४१ इसी सम्बन्धमे प्राचीन या अर्वाचीन बहुमान्य धर्मग्रंथोकी संशोधित (expurgated) आवृत्तियों तथा उनके प्रमाणभूत सरल और शुद्ध अनुवादोकी भी जरूरत है। जिस तरह बहुत बडे विद्वानोके सिवा दूसरा कोई बाइबलको हिब्रू, ग्रीक या लेटिनमें नही पढता है, उसी तरह उपनिषद्, गीता, कुरान, जंद अवेस्ता इत्यादिके मूल ग्रन्थोंके

समान ही प्रमाणभूत माने जानेवाले अनुवाद वर्तमान लोकभाषाओंमें मिलने चाहिये।

(उ) लोकधर्म

४२. उपर्युक्त विचार और सूचनाए अलग-अलग प्रचलित धर्मोंके विषयमे हुईं। परन्तु जिस तरह नैतिक बातोमे कुछ लोग दृढतापूर्वक एक पक्ष या दूसरे पक्षके आग्रही होते है, परन्तु सामान्य जनता किसी भी पक्षके लिए बहुत अभिमान रखे बिना हरएक मौके पर अपनी समझके अनुसार जो पक्ष उसे अच्छा लगता है उसका समर्थन करती है, उसी तरह धार्मिक विषयोमे भी होता है। धर्मके आग्रही अनुयायी बहुत थोड़े होते है। सामान्य जनसमाज आम तौर पर जन्मधर्मका अनुसरण करता है, फिर भी उस विषयमे अत्यत अभिमान नही रखता। धर्म बदलनेवालोका बहुत बडा भाग इन्ही लोगोमे से निकलता है।

४३. इसलिए सब प्रसिद्ध धर्मोंसे तटस्थ रहकर प्रजाकी धार्मिक और सदाचार-प्रिय वृत्तिका विकास करनेवाले ढगसे तत्त्वज्ञान और धर्मके सरल निरूपणकी आवश्यकता है। इसमें तत्त्वज्ञानकी सरलसे सरल समझ, आलबन (उपासना) का शुद्ध स्वरूप, भक्तिकी असाम्प्रदायिक और अकर्मकाण्डी रीति, साधना और तपके बुद्धिगम्य प्रकार तथा सामान्य मनुष्योकी नैतिक शक्तिको अनजानमे बढानेवाली पद्धतिसे सदाचारके सरल नियमोका निरूपण होना चाहिये तथा जगत्में जो धार्मिक पुरुष हो गये है उनके जीवनसे चमत्कारोको अलग करके उनकी धर्म-भावना, ईश्वर-परायणता तथा उच्च चारित्र्यको दिखलानेवाले जीवन-चरित्र होने चाहिये। आम जनता और शुद्ध जिज्ञासुओंके लिए तो ये ही धर्म और धर्मग्रथ हो जायगे।

४४ धर्म और तत्त्वज्ञानके चरित्रवान अभ्यासी और धार्मिक वृत्तियोके प्रबुद्ध कवि तथा लेखक इस तरहके साहित्य द्वारा जनताकी अच्छी सेवा कर सकते है।

३१-१२-'३७

परिशिष्ट

स्वकर्मयोग

गीताके कुछ श्लोकोमे थोडा परिवर्तन करके तथा कुछ श्लोक नये जोड़कर मैंने स्वकर्मयोगके बारेमें अपने विचार नीचे प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है

यत प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिद ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव. ॥ १ ॥
सहज कर्म मेवावि सदोपमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृता· ॥ २ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरत· ससिद्धि लभते नर।
युक्त स्वभावजं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३ ॥
न्याय्य वा विपरीत वा पुरुषस्येह कर्मण·।
अनिष्टमिष्टमिश्र च भवति त्रिविव फलम् ॥ ४ ॥
नेह देहभृता शक्य प्राप्तुमिष्ट ह्यशेपत.।
अनिष्टफलसयोगे ह्यनुद्विग्नमना वशी ॥ ५ ॥
कर्मण्येवाऽविकारस्ते साफल्ये न तु कर्मण।
मा दुखेनाऽभिभूतो भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ६ ॥
सनियतेन्द्रियग्रामा दक्षा ब्रह्मविहारिणी।
सर्वत्र समदृष्टिर्या सर्वभूतहिते रता ॥ ७ ॥
लोकसग्रह सपश्यत् सदा कर्मण्यतन्द्रिता।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्ता प्रसादसयुता ॥ ८ ॥
सत्य भूतहित ज्ञान विज्ञान च समाश्रिता।
भक्त्या चाव्यभिचारिण्या पूता कर्तव्यनिश्चया ॥ ९ ॥
एतैर्लक्षणैर्युक्ता बुद्धि शुद्धा स्थिरा भवेत्।
अधीताऽप्यविशुद्धास्यादन्यथालक्षणा हि या ॥ १० ॥

अवर सहज कर्म दुर्बुद्धयाऽविद्यया कृतम् ।
फल चैव समुद्दिश्य यत्तत् शातिप्रद न हि ॥ ११ ॥

सद्धेतुश्रद्धया युक्तमज्ञानेनाऽविविना कृतम् ।
सहजमपि तत्कर्म कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषम् ॥ १२ ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन. ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ १३ ॥

तस्माद्विद्या समाश्रित्य कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्त समाचरन् ॥ १४ ॥

वुद्धया विशुद्धया दृष्टो नियतो विद्यया कृत ।
स्वभावज. सदाचार स्वकर्मयोग उच्यते ॥ १५ ॥

स धर्म इति सप्रेक्ष्य समाचरितुमर्हसि ।
स्वकर्माचरणाच्छ्रेयोऽन्यन्मनुष्यस्य न विद्यते ॥ १६ ॥

मा स्ववर्मणि भीतो भूर्मा ह्यनिष्टफलोद्गमे ।
स्ववर्मे निघन श्रेय परवर्मो भयावह ॥ १७ ॥

योगस्थ कुरु कर्माणि भय त्यक्त्वा फलस्य च ।
सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ १८ ॥

सुखदु खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो धर्माय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥ १९ ॥

स्वकर्मणि भय त्यक्त्वा वुद्धियुक्ता मनीपिण ।
सर्ववन्यविनिर्मुक्ता पद गच्छन्त्यनामयम् ॥ २० ॥

वुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
वुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा. फलदु खिन. ॥ २१ ॥

एपा तेऽभिहिता वुद्धिर्वत्स योगे स्वकर्मण ।
वुद्धया युक्तो यया तात कर्मवंव प्रहास्यसि ॥ २२ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य वर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २३ ॥

मृतो वा प्राप्स्यसि शान्ति जीवन्वा भोक्ष्यसे यग. ।
तस्मादुत्तिष्ठ मेघावि धर्माय कृतनिश्चय ॥ २४ ॥

१ जिसमे से भूतोकी प्रवृत्ति होती है, जिससे यह सब व्याप्त है, उसकी स्वकर्मसे पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

२ अपने सहज कर्ममे दोप हो तो भी उसे नही छोडना चाहिये, जिस प्रकार अग्निमे धूम होता है उसी प्रकार सब कर्मोमे दोप रहता है।

३ मनुष्य स्वकर्ममे मग्न होकर सिद्धि प्राप्त करता है। योग-पूर्वक किये जानेवाले स्वभाव-जन्य कर्मोमें दोष नही होता।

*

४ मनुष्यका कर्म न्यायपूर्ण हो या अन्यायपूर्ण, उसका अच्छा, बुरा और मिश्र तीन प्रकारका फल होता है।

५. इस जगत्‌में मनुष्यके लिए केवल इष्टकी ही प्राप्ति सभव नही है, अनिष्ट फल मिलने पर योगी उद्वेग नही करता।

६ तुम कर्म करनेके ही अधिकारी हो, कर्मकी सफलताके नही; तुम दु खसे अभिभूत मत हो और न तुम्हारी अकर्ममे प्रीति हो।

*

७. जो इन्द्रियोको नियममे रखती है, दक्ष है, ब्रह्मविहारिणी * है; जो सर्वत्र समदर्शी है और सर्वभूतहितमे रत है।

८ जो लोक-कल्याणको देखती हुई कर्ममे सदा निरालस रहती है, जो हर्ष-क्रोध-भय-क्षोभसे मुक्त और नित्य प्रसन्न है।

९ सत्य, भूतहित, ज्ञान और विज्ञानका आश्रय लेकर जो अनन्य भक्तिसे पूत है और दृढनिश्चयी है।

१० (ऐसे लक्षणोसे युक्त) वह बुद्धि स्थिर है और शुद्ध है, इनसे विपरीत लक्षणोवाली बुद्धि अधीत होकर भी अशुद्ध है।

---

* मुदिता, मैत्री, करुणा और उपेक्षा अर्थात् गुरुजनो और सुखी लोगोंके प्रति हर्षकी, समान स्थितिके लोगोके प्रति मित्रताकी, दु खीके प्रति करुणाकी और दुराग्रहीके प्रति उपेक्षाकी भावनाको ब्रह्मविहार कहते है।

११. सहज कर्म अज्ञानसे, दुष्ट बुद्धिसे तथा केवल फलकी इच्छासे किया जाय, तो वह हीन है और उससे शाति प्राप्त नही होती।

१२ विधि या ज्ञानके विना श्रद्धा और सद्हेतुसे किया हुआ सहज कर्म करनेमे भी दोष लगता है।

१३. श्रेष्ठ मनुष्य जो कुछ करते है, वही अन्य मनुष्य भी करते है, वे जिसे मान्यता देते है, उसीका सामान्य लोग आचरण करते है।

१४ इसलिए विद्याका आश्रय लेकर कार्याकार्यका निश्चय करनेके लिए ज्ञानीको योगपूर्वक सव कर्मोका शोधन करना चाहिये।

१५ विशुद्ध बुद्धिसे खोजा और शुद्ध किया हुआ, नियममे रहकर ज्ञानपूर्वक किया हुआ स्वभावज (अपनी प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ) सदाचार स्वकर्मयोग कहा गया है।

१६. 'वह धर्म' है ऐसा समझकर भलीभाति उसका आचरण करना चाहिये; स्वकर्माचरणसे वढकर मनुष्यके लिए दूसरा कोई श्रेय नही है।

१७ स्वधर्ममे भय नही होना चाहिये और न अनिष्ट फलकी उत्पत्तिका भय रखना चाहिये। स्वधर्ममे मृत्यु भी श्रेयस्कर है, परधर्म भयावह है।

१८. फलके भयको त्यागकर, योगयुक्त होकर और यशायशको समान समझकर कर्म करो। समता ही योग है।

१९ लाभ-हानि, सुख-दु.ख, हार-जीतको समान समझते हुए धर्मके लिए सज्ज हो जाओ, तो तुम्हे पाप नही लगेगा।

२० भयको त्यागकर स्वकर्ममे निरत रहनेवाले बुद्धियुक्त मुनीश्वर सव वन्धनोसे छूट कर निर्दोष पदको प्राप्त करते है।

२१. बुद्धियुक्त पुरुष इस जगत्में पाप और पुण्य दोनोको छोड देता है। तुम बुद्धिकी शरण खोजो। फलमे दु खी होनेवाले दीन होते है।

२२. यह मैंने तुम्हे स्वकर्मयोगकी बुद्धि कही। इस बुद्धिसे युक्त होकर तुम कर्मके बन्धनोको तोड़ दोगे।

२३. यहां न तो आरंभ किये हुए कार्यका नाश होता है और न उसमें विघ्न उत्पन्न होता है। इस धर्मका थोडासा अंश भी मनुष्यको बड़े भयसे बचा देता है।

२४. स्वकर्म करते हुए मर जाओगे तो शांति प्राप्त होगी और करके जीवित रहोगे तो यश मिलेगा। इसलिए हे मेधावि, तुम दृढ़ निश्चय करके धर्मके आचरणके लिए खड़े हो जाओ।

संसार और धर्म

चौथा भाग

पूज्य नाथजीकी पूर्ति

१

तत्त्वज्ञानका साध्य

तत्त्वज्ञानकी निर्मिति

ससारके किसी भी प्राणीसे मनुष्यमे विचार-शक्ति अधिक है। मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे इस शक्तिका प्रभाव दिखाई देता है। दु खका नाश करके सुखकी वृद्धि करनेके उपाय मनुष्यने अपनी बौद्धिक शक्तिसे ही निर्माण किये है। सुख-दु खके कार्य-कारण-सम्बन्ध जानने और इस ज्ञानकी मददसे सुखको बढाकर दु खका नाश करनेके उपाय ढूढ निकालने और उन्हे अमलमे लानेका प्रयत्न करनेसे ही अनेक शास्त्रो और कलाओका विकास होता रहा है। मनुष्य-जाति ठेठ प्रारम्भिक कालसे इसी हेतुके पीछे लगी हुई दिखाई देती है। मानव-शरीरमे जो भी नई नई शक्तिया प्रगट होती गई, उन सब शक्तियो द्वारा मनुष्य यही हेतु पूरा करनेका प्रयत्न करता रहा है। कर्मेन्द्रियो और ज्ञानेन्द्रियो द्वारा अलग अलग विषयोका जितनी अलग अलग तरहसे रसास्वादन किया जा सके उतनी तरहसे करने और हर तरफसे दु.खसे बचनेका उसका सदासे प्रयत्न रहा है। इस प्रयत्नसे आगे बढकर विचारवान मनुष्यके मनमे यह शका पैदा हुई कि क्या ये शास्त्र, ये विद्याए और ये कलाए मनुष्यके दु ख और भय दूर करके उसे सचमुच स्थायी रूपमें सुखी बना सकेगी? बड़ेसे बडे प्रयत्नो द्वारा प्राप्त किया हुआ सुख आखिर तो अशाश्वत ही होता है। सुखानुभूति क्षणिक होती है, और एक भय अथवा दु खको टाल दे, तो दूसरा सामने खडा ही रहता है। इस प्रकारके मानव-जीवनमे और ऐसी परिस्थितिमे क्या मनुष्य सचमुच कभी भी स्थायी रूपसे दु खरहित और सुखी हो सकेगा? कितने ही प्रयत्न करे और तरह तरहकी खोज और उपाय करे, तो भी मनुष्य बुढापेको नही टाल सकता, उसकी व्याधि नही टलती और मृत्यु तो किसीसे टली

टाली ही नही जा सकती। किस क्षण वह हम पर आक्रमण कर देगी, यह नही कहा जा सकता। मनुष्यकी जीनेकी आशा कभी नही छूटती; उपभोगकी—इन्द्रियग्राह्य रसोकी—इच्छा कभी क्षीण नही होती। शरीर-सुखकी इच्छा उसे हमेशा रहा करती है। ऐसी स्थितिमें जरा, व्याधि और मृत्युका भय मनुष्यको हमेशा लगता ही रहेगा। इस वारेमे विद्वान-अविद्वानका भेद नही है, सवल-निर्वल, अमीर-गरीव, राजा-रकका भेद नही है। सारी मानव-जाति इस दु ख और भयमे हमेशासे फसी हुई है। इस प्रकारकी शकाओ और प्रश्नोके कारण विचारवान मनुष्यका मन अधिक विचार करने लगा।

सुखकी अपेक्षा दु खके अवसर पर मनुष्यका मन ज्यादा जाग्रत बनता है और उसके कारणोकी खोज करनेकी तरफ झुकता है। ऐसे ही मौकोके कारण विचारशील मनुष्य जरा, व्याधि और मृत्युके वारेमे सूक्ष्मतासे विचार करने लगा, इनके कारणोकी खोज करने लगा। मृत्युके साथ साथ जन्मका भी उसे सहज विचार करना पड़ा। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि—इन चार अवस्थाओंमें से उसे खास तौर पर जन्म और मृत्युका ही विचार करना पडा होगा, क्योकि जन्म मानव-जीवनका आरम्भ है और मृत्यु उसका अन्त है। जरा और व्याधिकी अवस्थाए मनुष्यको जन्मके कारण ही प्राप्त होती है। जन्म-मृत्युकी तरह ये अवस्थाए भी स्पष्ट है, परन्तु जन्मके पहले और मृत्युके पीछेकी दो अवस्थाए गूढ है। मनुष्यको मृत्युकी अवस्था भी जन्मके कारण ही प्राप्त होती है। इसलिए यदि जरा, व्याधि और मृत्यु नही चाहिये, तो जन्मसे ही उसे वचना चाहिये। परतु विचारवान मनुष्यको यह मालूम हुआ होगा कि जन्म-मरणके रहस्यका पता लगाये विना और उनके कारण जाने विना यह वात सिद्ध नही हो सकती। इसलिए वह जन्म-मृत्युके कारणोकी खोज करनेकी तरफ मुडा होगा। मानव-जीवनमें मृत्यु जैसी भयानक, दु खरूप और अनिवार्य दूसरी कोई आपत्ति नही है। मृत्युने ही मनुष्यको जीवनके विषयमें सूक्ष्म और गहरा विचार करनेके लिए प्रेरित किया होगा। मृत्युके कारणो और उसके वादकी स्थितिका विचार करते करते उसे जन्म और उसके कारणोंका

विचार करना पड़ा होगा। शरीर और उसकी भिन्न भिन्न अवस्थाओका, मन-बुद्धि-चित्त-प्राण, चैतन्य, कर्मेन्द्रिया, ज्ञानेन्द्रिया, उनके कार्य और परिणाम, सृष्टि और पचमहाभूत — इन सबका वह विचार करने लगा होगा। इसी तरह मानव-स्वभाव, विकार, भावना, सस्कार, गुण, धर्म, जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति, त्रिगुण, प्राणिवर्ग तथा वनस्पति-वर्ग, उनके भेद, उनकी अवस्थायें, जीवमात्रका परस्पर आकर्षण-अपकर्षण आदि सभी सचेतन-अचेतन वस्तुओकी शोध करते करते उसे अपना रास्ता निकालना पडा होगा। शरीरकी घटना-विघटना, सृष्टिका प्रिय-अप्रिय निर्माण और नाश और विश्वका अखड रूपमे चलनेवाला प्रचड व्यापार — इन सबका कर्ता कौन है? जन्म और मृत्यु किसकी आज्ञासे होते है? विचारशील लोगोके मनमे कुदरती तौर पर इस विषयके विचार और प्रश्न उठे होगे। उनके विचारो, प्रश्नो, शकाओ और खोजोंसे ही तत्त्वज्ञानका निर्माण हुआ है। उसीसे ईश्वर-परमेश्वर, प्रकृति-पुरुष, ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म आदि कल्पनाए और विचार मनुष्यको सूझे है।

खोजके अन्तमें कृतार्थता

हरएक विचारककी ज्ञान-सबधी जिज्ञासा, उत्कठा और व्याकुलता, उसके वैराग्य, सचेतन-अचेतन सृष्टिके उसके अवलोकन, निरीक्षण और परीक्षण, उसकी बौद्धिक सूक्ष्मता और व्यापकता तथा अन्तमे उसकी निर्णय-शक्तिके अनुसार उसे अपनी खोजमे सिद्धि प्राप्त हुई होगी। उस परसे उसने जन्म-मृत्यु और समग्र सृष्टिके बारेमे सिद्धान्त निकाले होगे। इसीमें उसे तृप्ति, समाधान, प्रसन्नता और जीवनकी कृतार्थता मालूम हुई होगी। आगे चलकर बढते हुए अनुभव और ज्ञानके कारण, निरीक्षण और निर्णय-शक्तिके कारण अपनी पहली मान्यतामे समय पाकर किसीके मनमे शकाये पैदा हुई होगी और उन नई शकाओंके साथ वह फिर खोज करने लगा होगा। अथवा बादका विचारक प्रथम सिद्धान्तोंके स्वीकार न होनेके कारण अपनी शकाओंके साथ अधिक सूक्ष्मता और व्यापकतासे उसी खोजके पीछे लग गया होगा। इस प्रकार सारे चराचर तत्त्वोंकी बार-बार खोज करते-करते किसी

विचारकके तर्ककी मंजिल विश्वके आदि-कारण तक पहुच गई होगी। उसके बाद उसे निश्चयपूर्वक लगा होगा कि सबका आदि-कारण-स्वरूप एक ही सनातन, अविभाज्य तत्त्व सकल विश्वमे व्याप्त है, और उसकी सूक्ष्मता, विशालता और व्यापकता परसे उसने उसीको ब्रह्मतत्त्व कहा होगा। और विश्वके सजीव-निर्जीव अणुसे लेकर ठेठ ब्रह्माड तक जो कुछ भी दृश्य-अदृश्य, गोचर-अगोचर, ज्ञात-अज्ञात, कल्पनामे आनेवाला और न-आनेवाला है, वह सब — विचारक स्वय भी — उस महान और मूल तत्त्वका आविर्भाव है, इस दृढ तर्क या अनुमान पर वह निश्चित रूपमे पहुंचा होगा और इस ज्ञानको उसने ब्रह्मज्ञान कहा होगा। विचारक जिस तत्त्वमें स्थिर हुआ, जिसके आगे विचार करनेकी उसकी गति रुकी, जिस तत्त्व तक पहुचकर उसकी व्याकुलता शान्त हुई, उस तत्त्व या तर्कको मुख्य मानकर उसने अपने अतिम निर्णयको उस तत्त्वका बोधक या सूचक नाम दिया। जिस विचारकको सृष्टिके आदि-कारणमे मुख्यत नियामकता और शक्तिमत्ता दिखाई दी, उसने उसे ईश्वरका नाम दिया, जिसे व्यापकता और अनतता दिखाई दी, उसने उसे ब्रह्म कहा, जिसे यह लगा कि मनुष्य खुद भी उसी विशाल तत्त्वका आविर्भाव है — जिससे यह निश्चय दृढ़ हुआ कि शरीरका मुख्य तत्त्व यही है — उसने उसे आत्मतत्त्व माना। जिन्हे अत्यन्त परिश्रम, सतत सूक्ष्म अवलोकन और अभ्यास आदिकी मददसे अपनी खोजके अन्तमें यश मिला होगा, जिनके जीवनमे सत्य-ज्ञानके सिवा और कोई हेतु नही रहा होगा, जो वासना-तृप्त, समस्त भौतिक विषयोके प्रति अनासक्त, ज्ञानके लिए अत्यन्त व्याकुल और समर्थ होते हुए भी विरक्त होगे, उन्हे अपनी खोजके अन्तमे मिली हुई सफलतासे कितना आनन्द, कितनी प्रसन्नता और कितनी कृतकृत्यता महसूस हुई होगी, इसकी कल्पना हम जैसोको कैसे हो सकती है! एक ही उच्च हेतुके पीछे तन-मन-धन सर्वस्व न्योछावर करके, उसीको जीवनका एकमात्र हेतु बनाकर, उसके लिए अपार परिश्रम करनेके परिणाम-स्वरूप जब उन्हे उसमें सफलता मिली होगी तब उन्हे कैसा लगा होगा? उन्हे यदि यह अनुभव

हुआ हो कि जीवन सार्थक हो गया है; जीवनमे कोई भी हेतु वाकी नही रहा है और कोई भी कार्य या कर्तव्य अव करनेको रह नही गया है, और इससे उन्हे परमानन्द हुआ हो, तो इसमे आश्चर्य क्या? सृष्टिमे या अपनेमे, भीतर या वाहर अव कुछ भी जाननेको नही रह गया है, ऐसा प्रतीत होने पर उन्हे परम कृतार्थता भी मालूम हुई होगी। ज्ञानसे परिपूर्ण होनेके वाद जीवनकी इच्छा नही और मृत्युका भय भी नही—ऐसी उनकी अवस्था हुई होगी। किसी प्रकारका वन्धन नही, किसी तरहकी इच्छा नही—ऐसी स्थितिमे उनके मनमे मोक्षकी कल्पना आई हो तो वह भी स्वाभाविक था। इसमे शक नही कि सत्यकी खोजका मूल हेतु, उसके लिए किया गया परिश्रम, चिन्तन, मनन, निदिध्यास, विरक्त स्थिति, स्वार्थका पूरी तरह अभाव, सव तत्त्वोकी हो चुकी खोज, अपने प्रयत्नमे मिली हुई सफलता और उससे प्राप्त हुई ज्ञानावस्था—इन सवका वह स्थिति स्वाभाविक परिणाम होनी चाहिये। इस प्रकार एकसे एक वढकर प्रखर, सूक्ष्म और गाढ विचारशील शोधको द्वारा किये गये प्रयत्नोसे निर्माण हुआ तत्त्वज्ञान हमे प्राप्त हुआ है। यह सव उन महाभागोकी कमाई है।

दर्शनकारोंका मानव-जाति पर उपकार

उन मूल दार्शनिकोके वारेमे विचार करने पर उनकी सत्यज्ञान-सवधी जिज्ञासा, उत्कठा और व्याकुलता; उसके लिए किया गया उनका परिश्रम, उनकी सूक्ष्म, कुशाग्र, मर्मस्पर्शी परन्तु व्यापक वुद्धिमत्ता, विषयको आरपार भेदकर ठेठ सत्य तक जा पहुचनेवाली उनकी दीर्घ, भेदक और पवित्र दृष्टि आदिका खयाल आते ही उनके प्रति अत्यन्त आदर पैदा हुए विना नही रहता। भौतिक इन्द्रियजन्य सुखके प्रति उनका वैराग्य, प्रकृति—पचमहाभूतोसे लेकर मानव-शरीर, मन, प्राण, चित्त, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि तक सारी चराचर सृष्टिका उनका सूक्ष्म अवलोकन और निरीक्षण, साथ ही इन सवके गुण-धर्म और सस्कारोका उनका ज्ञान वहुत ही आश्चर्य-कारक लगता है। मोह और अज्ञानमे गोते खानेवाले ससारने तत्त्व-

शोधनके पीछे पडकर जिन महापुरुषोंने सत्यकी उपासना की और अपने लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया, वे सचमुच धन्य है। मानव-जाति पर उनके भारी उपकार हैं। सारी मानव-जातिको इस विषयमे सदैव उनकी ऋणी रहना चाहिये।

तत्त्वज्ञानका विकास बादमे कैसे रुका?

परन्तु मालूम होता है कि तत्त्वशोधनका यह प्रयत्न भारतवर्षमे पहले जैसा जारी नही रहा। वह किसी समय रुक गया। इससे तत्त्वज्ञानका विकास हमारे देशमे और आगे नही हो पाया। इसके कारणोका विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि हमने किसी समय तत्त्वज्ञानके साथ मोक्षका सम्बन्ध जोड़ दिया। तबसे हमारा शोधकपन खतम हो गया, केवल श्रद्धालुपन बढता रहा और ज्ञानकी उपासना बन्द हो गई। मूल शोधको और दार्शनिकोको अपनी जिज्ञासा और परिश्रमका फल ज्ञान, शान्ति और प्रसन्नताके रूपमे मिल गया। इस परसे किसी समय हममे यह गलत खयाल पैदा हो गया कि उनकी तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विचारसरणीको केवल मान लेनेसे ही हमे भी वैसा ही ज्ञान, शान्ति और प्रसन्नता मिल जायगी। ऐसी शंका होती है कि यह सब उसीका परिणाम होना चाहिये। एक बार ऐसा मजबूत खयाल बन जानेके बाद उसीसे ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्म-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार आदि कल्पनाये पैदा हुई है और तत्त्वशोधक दार्शनिकोंके आनद परसे ब्रह्मानन्द, आत्मानंद, नित्यानद आदि अलग अलग आनन्दोकी कल्पना करके हमने आनन्दकी उपासना आरम्भ की है। ज्ञान, आनन्द, कृतार्थता और बन्धनरहित अवस्था आदि सब किसके परिणाम है, इसका विचार न करके हमने यह मान लिया कि इन दार्शनिको और विचारको द्वारा प्रस्तुत की गई विचारसरणी ही इन सब बातोका साधन है। अनेक प्रकारके परि-श्रम करनेके बाद, हेतु सफल होनेके बाद और शोधकोकी ज्ञानकी आतुरता शान्त होनेके बाद उनके चित्तकी जो स्वाभाविक अवस्था हुई, वह इन सबके परिणाम-स्वरूप थी। इस बात पर ध्यान न देकर हम केवल विचारसरणीमे या आनन्दकी कल्पनासे कृतार्थता मानने

लगे और मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करने लगे। किसी न किसी समय हममे इस प्रकारका भ्रामक विचार पैदा हो गया और परम्परासे दृढ होते होते उसने श्रद्धाका स्वरूप धारण कर लिया।

अमरीकाका प्रथम दर्शन होने पर कोलम्वसको अतिशय आनद हुआ और उस भूमि पर पहला कदम रखने पर उसने कृतार्थता अनुभव की। न्यूटनको अपनी खोजमे सफलता मिलने पर आनन्द और धन्यता अनुभव हुई। आज भी वडे वडे शोधको और वैज्ञानिकोको अपनी अपनी खोजो और प्रयत्नोमें सफलता मिलने पर आनन्द और कृतार्थताका अनुभव होता है। इस परसे यह मानकर कि अमरीकाके दर्शन और उस जमीन पर कदम रखनेमे ही आनन्द और कृतार्थता प्रतीत होनेका गुण है, या न्यूटनका सिद्धान्त समझ लेनेसे न्यूटनको हुआ आनन्द प्राप्त हो जाता है, या आजके शोधकोकी खोजोकी उपपत्ति समझ लेनेसे उन्हे होनेवाला आनन्द और कृतार्थता हमे भी मिल जायगी, कोई उसके अनुसार प्रयत्न करने लगे तो क्या यह उचित होगा? हम उसे ठीक मानेगे? ज्ञानके दूसरे क्षेत्रोमे जिस वातको हम ठीक नही समझते या कभी ठीक नही समझेगे, उसको तत्त्वज्ञानके विपयमे उसे दिये गये आध्यात्मिक स्वरूपके कारण हम ठीक समझते हैं, उस पर श्रद्धा रखते आये है और उस पर आज वडे वडे सम्प्रदाय चल रहे हैं।

मोक्ष-सम्बन्धी कल्पनाका आनन्द

इन सव वातोका विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान किसे कहा जाय? आनन्द और कृतार्थताका स्वरूप क्या है? इन भावो या अवस्थाओका निर्माण किस वस्तुसे होता है? ये किसके परिणाम हैं?—इन सव प्रश्नोका हमने सूक्ष्मतासे विचार नही किया। हम तत्त्वशोधक नही हैं। हममे शोधकी, जिज्ञासाकी आतुरता नही है। हमे आनन्दकी इच्छा है। मोक्षकी इच्छा भी किसी किसीको होगी। परन्तु मूल शोधकको होनेवाले आनन्द या कृतार्थताकी इच्छा हमें नही है। इतने पर भी हम यह मानते रहे हैं कि शोधककी खोज पूरी होने पर उसे जो वस्तु निर्णयके रूपमे मिली, उस निर्णयको हम अपने चित्तमे अनेक प्रकारसे उतार ले, तो जन्म-मरणसे मुक्त हो जायगे। यह

मानकर कि उस निर्णयको चित्तमे उतार लेना साध्य है और उसकी बताई हुई तात्त्विक विचारसरणी सावन है, उसीको अलग अलग रूपको, आलकारिक भाषा और पाडित्यपूर्ण तर्कवाद द्वारा प्रस्तुत करके, उस पर ग्रथ लिखकर और काव्य रचकर हम अपने और दूसरोके चित्तमे उतारने लगे। यह हिप्नोटिज्मका एक प्रकार है, किन्तु ज्ञान नही है। इसमें कृतार्थता नही है। उन्ही कल्पनाओको अलग अलग ढगसे रंगकर हम अपने ऊपर उनका रग चढाते रहे और दूसरोको भी उनका रंग चढाने और उनमें रमाने लगे। इससे हमे जो आनन्द मिलता है, वह खोजके अन्तमे होनेवाले ज्ञानका आनन्द नही होता, परन्तु हमारे ही द्वारा अपने चित्तमे उतारी हुई कल्पनाका, हमारे ही मनमे यह उतारते रहनेका कि हम स्वयं कोई दिव्य, अजर, अमर तत्त्व है, और आनन्दकी धारणा रखकर पैदा किया हुआ आनन्द होता है। प्रत्यक्ष खोजसे होनेवाले ज्ञानका आनन्द और खोजकी विचारसरणीसे तथा आनन्दकी धारणा कर लेनेसे होनेवाला आनन्द, इन दोनोमे बडा अन्तर है। हमारे तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमे ऐसा ही कुछ हुआ होगा। मोक्ष हमारे जीवनका ध्येय है। तत्त्वज्ञानियोको मोक्ष मिला है। ज्ञानसे मोक्ष मिलता है। तत्त्वज्ञानीके ज्ञानको हमने मान लिया और उसे अपने चित्तमे उतार लिया कि हमे भी मोक्ष मिल जायगा, ऐसी हमारी श्रद्धा है। इस श्रद्धाके दृढ होने पर मोक्ष निश्चित समझिये। इस क्रमसे हममे एक प्रकारकी जो श्रद्धा निर्माण हुई, वह परम्परासे आज इतनी दृढ हो गई है कि जिस दृष्टिसे मै यह लिख रहा हू उस दृष्टिसे इस विषयमें विचार करनेको शायद ही कोई तैयार होगा।

शोधक और श्रद्धालुके बीचका भेद

तत्त्वज्ञानकी कई अलग अलग प्रणालिया है। उन सबमे एक-वाक्यता हो सो बात भी नही है। अन्तिम सिद्धान्तके विषयमे तो उनके बीच परस्पर विरोध भी जान पडेगा। तो भी जो मनुष्य जिस मतको एक बार स्वीकार कर लेता है, वह उससे ऐसा चिपट जाता है कि उसे कितना ही समझाया जाय वह अपनी विचारसरणीको नही छोडता। कारण, वह शोधक नही परन्तु श्रद्धालु होता है। और हमारे तत्त्वज्ञानमे

कोई भूल है यह मान लिया जाय या सिद्ध हो जाय, तो हमारा तत्त्वज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो जायगा, इससे हमारे मोक्षमे और सद्गतिमे बाधा पड़ेगी, इतना ही नही परन्तु हम जिस सम्प्रदायके है उसकी और उसके मूल प्रवर्तककी यह त्रुटि मानी जायगी, इससे मूल प्रवर्तककी दिव्यता या अवतारीपनके बारेमे शका पैदा होगी, उस पर हमारी श्रद्धा कम हो जायगी और स्वय हम तथा हमारी परम्पराके समस्त साम्प्रदायिक अज्ञानी ठहरेगे—इस प्रकारकी अनेक शकाओ और भयके कारण आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ माने गये तत्त्वज्ञानकी जाच करनेके लिए कोई तैयार नही होता। इस तरहके श्रद्धालु सिर्फ साम्प्रदायिक लोगोमे ही होते है ऐसी बात नही। कोई सम्प्रदाय स्वीकार न किया हो तो भी आध्यात्मिक हेतुके लिए किसी विशेष तत्त्वज्ञानको माननेवाले लोगोमे भी अधिकतर किसी महापुरुषकी दृष्टिसे ही तत्त्वज्ञानका विचार करनेवाले होते है। श्रद्धालु होनेके कारण वे भी इसी दृष्टिसे विचार करते है कि अपनी विचारसरणीके बारेमे हमारे मनमें अश्रद्धा उत्पन्न न हो और श्रद्धा बढ़ती रहे। साम्प्रदायिकोमे या असाम्प्रदायिकोमे कोई अभ्यासी नहीं होता यह बात नही। परन्तु उनके अभ्यासकी पद्धति एक निश्चित रूप धारण कर लेती है। वे अपनी मूल श्रद्धाको कायम रखकर अभ्यास करते है, इसलिए उनमे शोधक-वृत्ति होनेकी बहुत ही कम सम्भावना रहती है। जो सचमुच शोधक होते है, वे केवल श्रद्धासे कोई बात माननेको तैयार नहीं होते। वे हर बातको अनुभवसे साबित करनेकी कोशिश करते है। जितनी शकाये और तर्क उठें उन सबको दूर करके उन्हे सत्यज्ञान प्राप्त करना होता है, इसलिए वे शका और तर्कसे डरते नही। परतु जिनकी तत्त्वज्ञान पर जमी श्रद्धाकी जडमे मोक्षकी आशा होती है, वे भावुक भक्त जैसे अपनी पूज्य मूर्तिकी रक्षा करते है वैसे ही अपने तत्त्वज्ञानकी भी रक्षा करते है। जैसे वे भक्त अपनी मूर्तिको अलग अलग ढगसे शृगार करा कर या सजाकर उसमें आनन्द पैदा करनेकी कोशिश करते है, उसी तरह ये तत्त्वज्ञानी भी अपने माने हुए तत्त्वज्ञानको भिन्न भिन्न रूपमे और आलकारिक भाषामे रोचक

बनाकर आनन्द पैदा करनेका प्रयत्न करते हैं। और उस आनन्दके आधार पर आत्मा ब्रह्म है, आनन्दरूप हैं आदि आदि वर्णन करते हैं।

तत्त्वज्ञान और कल्पनाजन्य आनन्दके बीच भेद

सत्य-शोधन तत्त्वज्ञानका मुख्य हेतु है। उसमें जो आनन्द है, वह सत्यज्ञानका है। उस सत्यको शब्दोंसे समझाना नही पड़ता और न उपमा और अलकार द्वारा उसमे माधुर्य लाना पड़ता है। ज्ञानसे आनन्द प्राप्त करनेके लिए पहले ज्ञानकी आतुरताकी जरूरत होती है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मेहनत करनी पडती है। जीवनका यही एक उद्देश्य रखकर तथा सर्वस्वका त्याग करके उसके पीछे लगना पडता है। इस मार्गमे प्रखर बुद्धि और अत्यन्त लगनकी आवश्यकता होती हैं। और इन सबके अतिरिक्त सत्यकी परख और निर्णय-शक्तिकी जरूरत होती है। ये चीजे जितनी मात्रामे हममे होती है, उतनी ही मात्रामे हमे ज्ञानसे आनन्द मिलता है। वेदान्त या और किसी विचारसरणीको केवल मान लेनेसे, विश्वकी उत्पत्ति या सहारका उलटा-सुलटा क्रम ग्रथ द्वारा समझ लेनेसे, पचीकरण पद्धति द्वारा पच-महाभूतोकी अलग अलग पद्धतिका बटवारा समझ लेनेसे और अन्तमे 'आत्मा अथवा ब्रह्म मै ही हू' ऐसी धारणा चित्तमे सतत उतारते रहनेसे वह आनन्द हमे नही मिल सकता, जो शोधके अन्तमे प्राप्त होनेवाली सफलतासे मिलता है। मोक्षकी आशासे 'मै कौन हू?' की जाच करनेका प्रयत्न करनेवाला श्रद्धालु साधक ऊपर बताई हुई विचारसरणी द्वारा अपने मनको समझाते और मनाते हुए अन्तमे 'मै ही आत्मा हू, मै ही ब्रह्म हू, बाकीका सारा व्यापार—शरीर, मन, बुद्धि, प्राण आदि सब प्रकृतिका खेल है' इस समझ पर पहुच कर 'अहं ब्रह्मास्मि' के महावाक्य पर अपनी चित्तवृत्तिको दृढ करनेका प्रयत्न करता है। सतत अभ्याससे उसकी यह वृत्ति इतनी दृढ हो जाती है कि वह मानने लगता है कि यही सत्यका अनुभव है और यही आत्मबोध है। परन्तु उसके ध्यानमे यह बात नही आती कि यह आत्मबोध नही बल्कि वेदान्त-प्रणालीके आधार पर हमारी ही बनाई हुई एक चित्तवृत्ति है। जन्म-मृत्युके डरके कारण 'मै कौन हू?'

की जाच होनी चाहिये, ऐसी व्याकुलतासे और साधक-दशाकी वैराग्य-निष्ठासे उसमें कुछ कुछ सयम और सद्‌गुण आ जाते हैं। वादमें तत्त्वज्ञानके एकाध सिद्धान्तको मानकर यह समझ दृढ कर लेनेसे कि 'वही मै हू' उसके चित्तकी व्याकुलता शान्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमें श्रद्धालु अभ्यासीका यह खयाल हो जाता है कि मुझे आत्म-साक्षात्कार हो गया, और इससे उसे समाधान हो जाता है। तत्त्वज्ञानका एकाव सिद्धान्त इस तरह मानकर, उसे अलग अलग रूपकोंसे सजाकर और उसमें भिन्न भिन्न रस और आनन्द पैदा करके हम मन ही मन अपना रजन करने लगे। और हमारे चारो ओर जमा होनेवाले भावुकोके मनमें उस आनन्दकी इच्छा उत्पन्न करने लगे। भूतकालमें अध्यात्म-ज्ञानमें श्रेष्ठ मानी गई या अवतारी समझी गई विभूतिया हम खुद ही हैं, ऐसी कल्पना करके और ऐसा मानकर कोई मनुष्य मस्तीका, तो कोई श्रेष्ठताका ढोंग दिखाने लगा। इस प्रकार हम अपनी भ्रामक वृत्तिका ही अपने तत्त्वज्ञानके नाम पर पोपण करने लगे और इसके लिए उस तत्त्वज्ञानमें से मार्ग निकालने लगे। हममें शोधकका गुण होता, तो ज्ञानके नाम पर ऐसी भ्रामक वातें न होती, हमने उस शास्त्रका विकास किया होता, उससे हमें अनेक भौतिक और सात्त्विक लाभ हुए होते और हम उन्नत वने होते। परन्तु तत्त्वज्ञानका सम्वन्ध केवल मोक्षके साथ जोड दिये जानेसे वे लाभ नही हो सके। हरएक सम्प्रदायने तत्त्वज्ञानकी कोई न कोई प्रणाली अवश्य स्वीकार की है। इसका कारण हमारे महापुरुषो और सर्वसाधारण लोगोमें चली आ रही यह श्रद्धा है कि तत्त्वज्ञानके विना मोक्ष प्राप्त नही होता। इसीसे इस मार्गमें ज्ञानकी खोज न होकर श्रद्धालुपन वढता रहा है।

तत्त्वज्ञानकी सिद्धि

सचमुच हम तत्त्वोंके शोधक और अभ्यासी वन जायं, तो पंच-भूतात्मक सृष्टिके सारे स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों और साथ ही उनके गुण-धर्मोंका ज्ञान हमें हुए विना नही रहेगा। ध्वनि, प्रकाश और विद्युत् जैसे गूढ और महान तत्त्वोंके कार्य-कारण-भावोका हमें ज्ञान होगा। मनुष्य और अन्य प्राणियोंके गुण-धर्म, संस्कार, स्वभाव आदिका भी

हमें ज्ञान होगा। मन, वुद्धि, चित्त, प्राण, चैतन्य आदि सवका सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान हमारे सामने प्रगट होगा। सारी चराचर सृष्टि और साथ ही उसके सूक्ष्म तत्त्वोंके हम जानकार वनेंगे। इस प्रकार समस्त तत्त्वोकी खोज करते करते अगर हम तत्त्वज्ञानके आखिरी छोर तक पहुच जाय, तो इस विश्वमे हमसे कुछ भी अज्ञात नही रहेगा और वादमे इस सारे ज्ञानका उपयोग हम मानव-जातिके उत्कर्प और कल्याणके लिए आसानीसे कर सकेंगे। उस ज्ञानसे हमारे जीवनका स्वाभाविक झुकाव भूतमात्रका हित करनेकी ओर ही रहेगा। परन्तु इनमे से किसी भी तत्त्वकी शोध हम न कर पाये हो और इनमे से किसी वातसे हम मानव-जातिका कल्याण और भूतमात्रका हित न कर सकते हो, तो ज्ञानमार्गमें यह वस्तु सभव प्रतीत नही होती कि केवल आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेसे हमें ब्रह्म-साक्षात्कार हो जायगा। सत्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह प्रकार केवल कल्पित और श्रद्धाका विपय ठहरेगा। उसे ज्ञानकी सिद्धि नही कहा जा सकता।

तत्त्वज्ञानका जीवन-सिद्धिमें पर्यवसान

इन सव वातो पर विचार करनेसे मालूम होता है कि तत्त्वज्ञानका सम्वन्ध मोक्षके साथ न मानकर हमारी जीवन-शुद्धि और सिद्धिके साथ उसे जोडना चाहिये। मानवताके लिए आवश्यक मालूम होनेवाली हरएक वातको अधिक शुद्ध, अधिक तेजस्वी और अधिक प्रभावशाली वनानेकी सामर्थ्य तत्त्वज्ञानमे होनी चाहिये। मानव-जीवनमे धर्म, अर्थ और काम ये तीन वडे पुरुषार्थ है। मनुष्य-मात्रका सारा जीवन इन तीन पुरुषार्थोमे वंटा हुआ है। इन तीनोकी शुद्धि द्वारा ही जीवन-शुद्धि और जीवन-सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। ज्ञानके विना यह शुद्धि और सिद्धि सभव नही है। इसलिए धर्म, अर्थ और कामको शुद्ध करनेकी शक्ति ज्ञानमे होनी चाहिये। व्यक्ति और समष्टिका कल्याण परस्पर विरोधी या विघातक न होकर एक दूसरेका सहायक वने, इस दृष्टिसे धर्म, अर्थ और कामका विचार होनेके लिए तत्त्वज्ञानकी विशेष रूपसे आवश्यकता है। यह आवश्यकता पूरी करनेकी शक्ति तत्त्वज्ञानमे होगी, तो ही धर्म, अर्थ और कामकी

शुद्धि होगी और मानव-धर्मकी सिद्धि होगी। हम जिसे तत्त्वज्ञान कहते है उसमे यह शक्ति न हो, तो उस तत्त्वज्ञानका विकास करके उसमे यह शक्ति लानी चाहिये। ज्ञानमे यदि पुरुषार्थ न हो, शक्ति निर्माण करनेका गुण न हो, तो उस ज्ञानमे और अज्ञानमे कोई भेद नही है। दीपक और अग्निमे प्रकाश देनेकी शक्ति जरूर होगी। अगर यह अनुभव होता हो कि दीपकमे और अग्निमे वह शक्ति नही है, तो यह निश्चित समझना चाहिये कि वहा दीपक और अग्नि नही, परन्तु उनके वारेमे कुछ भ्राति ही है।

सक्षेपमे, तत्त्वज्ञानके आभास पर विश्वास न रखकर हमे ऐसे तत्त्वज्ञानका आश्रय लेना चाहिये, जिसमे मानव-जीवनको सब तरहसे सफल वनानेकी सामर्थ्य हो। भ्रमके पीछे न पडकर यदि हम सचमुच ज्ञानकी प्राप्ति कर ले, तो उसके साथ हममे पुरुषार्थ अवश्य आना चाहिये। ज्ञान प्राप्त कर लेनेके वाद उसका उपयोग करना उस ज्ञानका स्वाभाविक परिणाम है।

२

ईश्वर-भावना

जीवमात्रमे जिज्ञासा-वृत्ति होती है। पशु-पक्षियोमे वह विलकुल मर्यादित रूपमे होनेके कारण आसानीसे हमारे ध्यानमे नही आती। परतु मनुष्यमे वह वचपनसे ही स्पष्ट मालूम होती है, और उसकी वौद्धिक वृद्धिके साथ वह भी वढती जाती है। इस जिज्ञासा-वृत्तिमे से ही मनुष्यमे ईश्वर-सवधी कल्पना पैदा हुई है। किसी महत्त्वकी वस्तुको हम यथार्थ रूपमे न जान सके, तो उसे जाननेकी इच्छा हमारे मनमे रहती है। उस वस्तुका हमारा ज्ञान जिस हद तक कम होता है, उसी हद तक उसके विपयमे हमे कुछ तर्क या अनुमान करने पडते है। वे तर्क या अनुमान ही हमारी कल्पना या मान्यता होते है। अधिकतर हम उन्हीको उस वस्तुके विपयमें हमारा ज्ञान मानते है। जैसे जैसे हमारा अनुभव वढता जाता है, हमारे ज्ञानमे

वृद्धि होती जाती है, वैसे वैसे पहली कल्पनाओंका अयथार्थ भाग कम होता जाता है और यथार्थ भाग बना रहता है। और उसीमे नवीन तर्कों या कल्पनाओकी वृद्धि होती रहती है। इसी क्रमसे एकके बाद दूसरी अयथार्थ कल्पनासे बाहर निकलकर मनुष्य सत्यकी ओर बढता है। ईश्वर अनन्त, अपार और अगम्य है, तो भी अपने ज्ञानकी वृद्धिके साथ हम उसके स्वरूप और स्वभावकी कल्पना बदलते आये है। और जब तक हमे उसका सम्पूर्ण ज्ञान नही हो जाता, तब तक उसके विषयकी हमारी कल्पनामे व मान्यतामें परिवर्तन और सुधार होते ही रहेगे। हमारी मूल जिज्ञासा-वृत्ति और हमारा बढता हुआ ज्ञान, हमारी आवश्यकताए और हमारी भावनाए — इन सबका वह परिणाम होगा। कल्पना द्वारा होनेवाली और अनुभवमे आनेवाली दु:ख-निवृत्ति और सुखानुभवके अनुरूप मनुष्यके मनमे ईश्वरके विषयमे प्रेम और कृतज्ञताके भाव पैदा होते है और इससे कल्पनाका पर्यवसान भावनामे होकर ईश्वर-सबंधी मूल कल्पना भावनाका रूप लेती है। इष्टकी सिद्धि होने तक टिकी रहनेवाली दृढ़ और प्रबल भावना ही श्रद्धा है। श्रद्धासे उत्पन्न होनेवाली समर्पण-वृत्तिमे से भक्तिका उद्भव हुआ होगा और कैसी भी विपरीत स्थितिमे विचलित न होनेवाली श्रद्धाका ही नाम निष्ठा पडा होगा। विकसित मानवके मनमें ऐसे भाव कम-ज्यादा मात्रामे होते ही है। ये भाव किसी व्यक्तिके ईश्वरके विषयमें, किसीके तत्त्व या धर्मके विषयमे, तो किसीके आदर्शके विषयमें होते है। लेकिन मानवके मनमे इन सबका स्थान है। मानवके मनमें इनकी भूख होती है। इस भावतृप्तिमे ही मानवताका विकास है। मनुष्य-जाति इसी मार्ग पर चलती आई है।

ईश्वर कैसा है — इसका शुद्ध ज्ञान मनुष्यको किसी भी समय हो सकेगा या नही, इस प्रश्नको हम छोड दे तो भी मूल जिज्ञासासे मनुष्यके मनमें उत्पन्न हुए इन भावोंमें बड़ी शक्ति है। यह इस विषयके आज तकके इतिहाससे मालूम हुआ है। ये भाव ज्यो ज्यो शुद्ध होते जाते है त्यो त्यो इनकी सामर्थ्य बढती जाती है — इस रहस्यको ध्यानमें रखकर मनुष्यको अपने भाव शुद्ध रखनेका प्रयत्न

करना चाहिये। इस प्रकरणके लिखनेमे मुख्यत. यह दृष्टि और यही हेतु है।

*

ईश्वरावलम्बनकी जरूरत

भिन्न-भिन्न मानव-समाजोमे ईश्वर-सवधी कल्पनाओका इतिहास देखनेसे मालूम होता है कि मनुष्य-जातिमे ज्यो ज्यों मानवीय सद्गुण प्रगट होते गये त्यो त्यो उसकी वे कल्पनाए बदलती गई है। ईश्वरकी मूल कल्पना मनुष्यकी दुर्बलता और उसके थोडे-बहुत बौद्धिक विकाससे उत्पन्न हुई होगी। दुर्बलताके साथ कल्पना या तर्क करनेकी शक्ति मनुष्यमे न होती, तो यह सभव नही लगता कि उसे ईश्वरकी कल्पना सूझती। पशु-पक्षी दुर्बल है तो भी ऐसा नही लगता कि उनमे ईश्वर-सबधी कल्पना होगी। मनुष्यको अपने ऊपर आ पडनेवाले दु खो, सकटो, कठिनाइयो और आपत्तियोके निवारणके लिए, अपनी सुरक्षाके लिए, और साथ ही अपनी कामना-इच्छा आदिकी पूर्तिके लिए और सुखकी स्थिरताके लिए किसी न किसी दिव्य और महाशक्तिके प्रति श्रद्धाका आधार लेना पडता है। दार्शनिक, तत्त्वज्ञ, विचारक, समीक्षक या नास्तिक ईश्वरके बारेमे कुछ भी कहे, कोई अपनी जोरदार दलीलोंसे, कोई तर्कवादसे, कोई तात्त्विक दृष्टिसे या अन्य किसी प्रकारसे ईश्वरका नास्तित्व सिद्ध करके बता दे, तो भी जब तक मानव-प्राणी आजकी स्थितिमे है—और थोडे-बहुत भेदके साथ वह इसी मानसिक स्थितिमे रहनेवाला है—तब तक किसी न किसी रूपमे उसे ईश्वर-संबधी कल्पनाकी जरूरत महसूस होती रहेगी। जब तक मनुष्यको जीवनके हरएक दु खका नाश करनेके स्वाधीन उपायोका ज्ञान न हो जायगा, जब तक उसे यह लगता रहेगा कि वर्तमान सुखके स्थायी रहनेका आधार अपने पुरुषार्थ पर नही, बल्कि अपने नियन्त्रणसे बाहरके अनेक बाह्य सयोगो पर है, या जब तक वह यह नही जानता कि किस पर उसका आधार है—और असलमें वस्तुस्थिति यही है—तब तक मनुष्यको किसी भी बडे आलम्बनकी जरूरत महसूस होती रहेगी। दु खके अवसर पर निर्भय, निश्चिन्त और अनुद्विग्न तथा सुखके समय

जाग्रत और सयमशील रहनेके लिए चित्तकी जिस प्रकारकी पवित्र और स्थिर अवस्था होनी चाहिये, वह जब तक मनुष्यको प्राप्त नही होगी, जब तक मनुष्य चित्तवृत्ति पर सहज ही काबू न रख सकेगा, तब तक किसी भी महान शक्तिका आधार लेनेकी इच्छा उसे होगी ही। जो लोग सुख-दुखके पार चले गये हो, जो हरएक मामलेमे अपनी सामर्थ्य पर आधार रखने जितने शक्तिशाली बन गये हो, उन थोडेसे लोगोको छोड दे, तो बाकीके सारे मनुष्य-समाजको ईश्वर-सबधी कल्पनाकी जरूरत है। सर्वथा अज्ञानीसे लेकर विद्वान तक, रकसे लेकर धनिक तक—सबको इस कल्पनाकी जरूरत है। इसमे अन्तर होगा तो सिर्फ कल्पनाके स्वरूपका होगा, परन्तु प्रकार वही रहेगा। मनुष्यकी ईश्वर-सबधी कल्पनाओमे अनेक प्रकारके भेद हो, तो भी ईश्वरमे मानी गई महान शक्ति, उसका न्यायीपन, दयालुता, उसकी दीनवत्सलता, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता आदिके विषयमें सबमे लगभग एकवाक्यता होती है। वह शरणागतोका रक्षक, अनाथोका प्रति-पालक, पतितोका उद्धारक और अनत विश्वकी उत्पत्ति-स्थिति-लयका कर्ता है, इस बारेमे भी सब लगभग एकमत है। अलबत्ता, दुनियामे सब लोगोकी बुद्धि, परिस्थिति, सस्कार और सामाजिक रीति-रिवाजमे समानता न होनेसे सबकी ईश्वर-सबधी कल्पनामें पूरी तरह सादृश्य न हो यह स्वाभाविक है, और इसीलिए ईश्वरको प्रसन्न करने और उसकी आराधना और उपासना करनेकी विधि और मार्ग हरएकके अलग-अलग दीख पडते है। इन्हे छोड दे तो मालूम होगा कि सबकी ईश्वर-सबधी कल्पना बहुत ही मिलती-जुलती है।

ईश्वर-सम्बन्धी कल्पनाका विवेकपूर्ण उपयोग

ईश्वर-सम्बन्धी कल्पनाको और ईश्वर या परलोकके साथ सबध जोडनेवाली धर्म-कल्पनाको कुछ लोग अफीमकी गोलीकी उपमा देते है। उसमे किसी हद तक सत्य है, परन्तु वह सम्पूर्ण सत्य नही है। ईश्वर-सम्बन्धी कल्पनासे दुनियामे जितनी बुराइया पैदा हुई है, उन सबको ध्यानमे रखकर उन्होने यह उपमा दी है। उपमाको कायम रखकर यदि कहना हो तो यो कहा जा सकता है कि ईश्वर-

सम्बन्धी कल्पना कभी-कभी और कहीं-कहीं अफीम जैसा परिणाम पैदा करनेवाली सिद्ध हुई हो, तो भी उसमे इस कल्पनाका दोष नहीं है। अफीमसे भी तो अच्छे-बुरे दोनो प्रकारके परिणाम आ सकते हैं। दवाके तौर पर योजनापूर्वक उसका उचित उपयोग करनेसे वह प्राणदायक होती है और रोज खानेकी आदत डाल लेनेसे या एकदम अधिक मात्रामे उसका उपयोग करनेसे वही हानिकारक और कभी-कभी प्राणघातक भी सिद्ध होती है। इसी तरह ईश्वर-सबधी कल्पना अहितकर नहीं है, परन्तु उस कल्पनाका किस ढगसे, कितनी मात्रामे और किस समय उपयोग किया जाय, इस बारेमे अज्ञान होनेके कारण नुकसान होता है। सिर्फ अफीम ही क्यों, और भी कोई उपयोगी वस्तु यदि अज्ञानसे काममे ली जाय, तो उसके भी दुष्परिणाम हमे भोगने पडते हैं। भोजन जैसी सदा आवश्यक और उपयोगी वस्तु भी अनुचित ढगसे, अनुचित मात्रामे और अनुचित समय पर ली जाय, तो उसमे भी अनेक रोग हो जाते हैं और कभी-कभी जीवनसे भी हाथ धोने पडते हैं। इसलिए हमारे हिताहितका आधार केवल वस्तु पर नहीं होता, परन्तु उसके उपयोगमे दिखाये जानेवाले हमारे विवेक या अज्ञान पर होता है।

ईश्वर-संबंधी योग्य कल्पनाके लक्षण

इन सब बातो पर विचार करनेसे ऐसा लगता है कि मानव-उत्कर्ष और उन्नतिके लिए ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना, भावना, श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा — ये सब जरूरी है। ये मनुष्यको अवनतिकी तरफ ले जानेवाली नहीं हैं। इनसे मिलनेवाली शान्ति और प्रसन्नताके लिए मानव-मन प्यासा रहता है। मानव-मनको सहारा देकर उसे उन्नत करनेके लिए ये बहुत ही उपयोगी हैं। इसमे महत्त्वकी और मुख्य बात यही है कि हमारी ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना भरसक विवेक-शुद्ध, सरल और उदात्त होनी चाहिये। उसमे गूढता या गुप्तता न होनी चाहिये। उस कल्पनासे हमारे चित्तको आश्वासन या आधार मिले, इसके लिए उसमे किसी भी प्रकारके कर्मकाण्डकी झझट न होनी चाहिये। उलटे श्रद्धा, विश्वास और निष्ठाके चित्तमे बढते रहनेका

स्वाधीन और सरल उपाय उसमे होना चाहिये। उसमे मध्यस्थ, पथदर्शक या गुरुकी जरूरत न होनी चाहिये। उस कल्पनाको माननेवालेका नीति और पवित्रताकी तरफ कुदरती झुकाव होना चाहिये। सदाचारकी उसमे प्रधानता होनी चाहिये। दया, सत्य, प्रामाणिकता, धैर्य, निर्भयता, उदारता, निश्चिन्तता, शान्ति और प्रसन्नताके लाभ उससे सहज ही मिलने चाहिये। उस कल्पनाके ये स्वाभाविक परिणाम होने चाहिये—मनुष्यमात्र पर हमारा प्रेम बढता रहे, सामूहिक कल्याणकी इच्छा हमेशा जाग्रत रहे और कर्तव्य करनेकी स्फूर्ति सतत बनी रहे। उस कल्पनामे ऐसा प्रभाव होना चाहिये, जिससे हमारा अज्ञान और भोलापन (अन्ध और मूढ विश्वास) मिट जाय, हमारे विकारोका नाश हो, हमारी आशा, तृष्णा, लोभ व दभका विलय हो, चित्त स्वाधीन और शुद्ध बने, बुद्धि व्यापक और तेजस्वी हो, धर्मको प्रोत्साहन मिले और अहकार क्षीण हो जाय। उस कल्पनामे ऐसा दिव्य गुण होना चाहिये, जो हमारी पामरता और क्षुद्रता, पशुता और दुर्बलता, आलस्य और जडता—इन सबका नाश करके हमारी कर्मेन्द्रियो और ज्ञानेन्द्रियोकी शुद्धि करे, हममे आत्म-विश्वास पैदा करे और साथ ही हमारे शरीर, बुद्धि और मनमे नित-नये चैतन्यका सचार करे। साराश यह है कि उस कल्पनामे ऐसी सामर्थ्य होनी चाहिये, जो मनुष्यको सब तरहसे मानवताकी तरफ ले जाकर तथा उसे जीवनकी सपूर्ण सिद्धि प्राप्त कराकर कृतार्थ करे। इस प्रकारकी ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना मनुष्य-मात्रका कल्याण ही करेगी। उससे किसीका भी अहित होना कभी सभव नही।

ईश्वर-संबंधी कल्पना समयानुसार बदलनी चाहिये

इसलिए हरएक कालके अनुरूप ईश्वर-सबधी कल्पना समय-समय पर मनुष्यको मिल जाय, तो मानव-जातिके कितने ही अनर्थ सहज ही टल जाय। परतु मानव-जातिके दुर्भाग्यके कारण अभी तक यह बात मनुष्यके ध्यानमे नहीं आती। आज भी कोई पाच हजार तो कोई दो हजार, कोई एक हजार तो कोई पाच सौ या सौ वर्ष पहलेकी ईश्वर-सम्बन्धी कल्पनाको और उसके आसपास रची हुई धर्मकी

कल्पनाको दृढतासे पकड़े बैठे है। मानव-जातिका कल्याण किस बातमे है, इसका विचार न करके पुरानी कल्पनामे दिव्यता माननेका हम सबका स्वभाव हो गया है। भूतकालमे यदि अनेक बार ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना बदली जा सकी है और हर बार उससे हमारा कल्याण होता रहा है, तो आज भी पहलेकी कल्पनाको बदलकर नई कल्पना धारण करनेमे क्या आपत्ति है? लेकिन इस बारेमे हम इस तरहसे विचार नही करते। कोई भोलेपनसे, कोई अज्ञानसे, कोई डरसे, कोई लालचसे और कोई इस भयसे कि ईश्वर-सम्बन्धी वर्तमान कल्पनाके बदलनेसे हमारी आर्थिक हानि होगी और हमारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी, पुरानी कल्पना बदलनेको तैयार नही होते। समाजकी वर्तमान स्थिति और जरूरतोका विचार न करके और यह देखते हुए भी कि पुरानी कल्पनाएं घातक सिद्ध हो रही है, हम कालानुरूप नई कल्पना धारण नही करते; इतना ही नही, उलटे इसका विरोध भी करते है। समाज स्वय अज्ञान और श्रद्धालुताके कारण पूर्व कल्पनाको छोडनेके लिए तैयार नही होता। पुरानी कल्पनाके चाहनेवाले, उस कल्पनाके कारण महत्त्व पाये हुए मध्यस्थ, गुरु और कर्मकाण्डी पुरोहितोका वर्ग नई कल्पनाका हमेशा विरोध करते है। ऐसा मालूम होता है कि पुरानी निरुपयोगी और अहितकर कल्पनाओको छोड देनेके लिए तैयार न होकर नईका विरोध करनेवाला वर्ग समाजमे हमेशा रहा है और ईश्वरके नाम पर हमेशा उसीने अनर्थ किये है।

ईश्वर-संबंधी सर्वश्रेष्ठ कल्पना, भावना और श्रद्धा

यज्ञमे मनुष्यो या पशुओकी आहुति लिये बिना ईश्वर सन्तुष्ट नही होता, ऐसी हमारी एक समयकी कल्पना बदलते-बदलते अब यहा तक आ पहुची है कि ईश्वर केवल सदाचार और भाव-भक्तिसे सन्तुष्ट होता है। मानव-जातिमे सदाचार और सद्भावनाओको जैसे जैसे महत्त्व मिलता गया, वैसे वैसे यह फर्क होता गया है। इसका रहस्य ध्यानमे रखकर हमे आज ऐसी ही ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना धारण करनी चाहिये, जिससे मानव-मात्रकी गति, उत्कर्ष, उन्नति और सब तरहसे कल्याण सिद्ध हो। वह कल्पना हमे [illegible] [illegible]

करनी चाहिये। मनुष्य-मात्रके शाश्वत कल्याणका विचार करके तदनुसार आचरण करनेमे जो अपनी सारी शक्ति और बुद्धिका उपयोग करते है, जिनके दिलमे भूतमात्रके लिए हमदर्दी है, जो सदाचारी है, जिनका हृदय निर्मल है, जो नि स्पृह है, जो पूर्वाग्रहो और पूर्व-सस्कारोसे बधे हुए नही है तथा जो विवेकी है, ऐसे सज्जनोके हृदयमे जिस प्रकारकी ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना दृढ हुई हो, जो उनके जीवनमे उन्हे गति, उत्साह, बल, प्रेरणा, प्रकाश और पवित्रता प्राप्त करनेमे उपयोगी हो, जिससे उनकी प्रज्ञा और सात्त्विकता बढती हो, वह कल्पना आजके समयमे धारण करने योग्य मानी जानी चाहिये। उसका अनुसरण करनेमे हमारा और मानव-जातिका कल्याण है। ऐसे सज्जनोकी कल्पना समझना हमारे लिए सभव न हो तो हरएकको अपने सस्कारो, अपने हृदय और जीवनकी जाच कर लेनी चाहिये और उसमे से ढूढ निकालना चाहिये कि जिसके बल पर हम जीवनमे कुछ उदात्त, भव्य और पवित्र प्राप्त कर सके; सकटमे, दु खमे, कठिनाईमे व भयमे जिसके बल और श्रद्धा पर हम धैर्य रख सके और अपने शीलकी रक्षा कर सके, जिससे अगतिकी स्थितिमें गति, पश्चात्तापमे सान्त्वना, पतनावस्थामे उत्थान, मूर्छावस्थामे भान, अज्ञानावस्थामे ज्ञान, असहाय स्थितिमे सहायता, मोहमें विवेक और सयम, कुछ भी सूझता न हो ऐसी परेशानीकी हालतमे प्रकाश और मार्ग मिल सका, जिससे पुरुषार्थमे बल और उत्साह तथा कर्ममे शुद्धता और व्यापकता प्राप्त हुई, वह कल्पना कौनसी है? वह भावना कौनसी है? कौनसी पवित्र श्रद्धा जीवनमें ये सब बाते सिद्ध करनेका कारण बनी है? इसे ढूढ निकालना चाहिये। और फिर उसी कल्पनाको, भावनाको या श्रद्धाको भरसक सरल, प्रभावशाली, निरुपाधिक, स्वाधीन, महान, भव्य, व्यापक, बाह्य आडम्बर-रहित, शुद्धसे शुद्ध, मगलसे मगल और श्रेष्ठसे श्रेष्ठ बनाकर उसे अपने हृदयमें दृढ करना चाहिये। अगर मनुष्य इतनी बात सिद्ध कर सके, तो वह इसके बल पर जीवन-भर एकनिष्ठ रहकर अपना जीवन सार्थक बना सकेगा।

निष्ठा और संकल्पकी सामर्थ्य

मनुष्यके चित्तमे इस प्रकारकी ईश्वर-भावना जाग्रत रहे, इसके लिए उसमें अपने अभ्युदय और उन्नतिकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये, उसमे विवेक होना चाहिये। ये वस्तुए सज्जनोके सहवाससे सहज ही प्राप्त की जा सकती है। अगर हम श्रेयार्थी हो तो विवेकी और पुरुषार्थी सज्जनकी संगति और उसके चरित्रका हम पर शुभ परिणाम हुए विना नही रहता। इन सबकी मददसे हमे अपनी मानवताका ध्येय सिद्ध करना चाहिये। हमने जीवनके ध्येयके वारेमे जैसी कल्पना या निश्चय किया होगा, वैसी ही हमारी ईश्वर-विषयक कल्पना होगी। इसलिए प्रथम हमें ध्येयकी शुद्ध और स्पष्ट कल्पना होनी चाहिये। उस बारेमे हमे यह निश्चित समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी भव्य प्रतीत हो वह सब आदरणीय या अनुकरणीय नही है, जो आकर्षक लगे वह ध्येय नही है, केवल आनन्दप्रद या सुखकर लगे, केवल शान्ति और प्रसन्नता देनेवाला हो, वह भी हमारा ध्येय नही है, जो दिव्य लगे, रम्य लगे, वह भी हमारा ध्येय नही है। परन्तु जो मानवताके अनुरूप हो, सद्‌गुणोका पोषक, सयमका सहायक, धर्म और कर्तव्यका प्रेरक हो, जिसे प्राप्त करनेके लिए प्रामाणिक मानव-व्यवहार और परिश्रम आदिका त्याग न करना पडे, जिसकी प्राप्तिकी इच्छा सब करे और जिसकी प्राप्ति सबको हो जाने पर मानव-व्यवहार अधिक सरल, पवित्र और व्यवस्थित हो जाय, उसे सिद्ध करना हमारा ध्येय है। वह ध्येय सिद्ध करना कठिन हो सकता है, परतु उसमे भ्रम नहीं हो सकता। उसके मार्गमे कठिनाइया हो सकती है, परतु दम्भ नही हो सकता। उसमे हमेशा आनन्द न हो तो भी कृतार्थता अवश्य होगी। उसे सिद्ध करना कठिन है, अत उसकी कठिनताकी तीव्रता कम अनुभव हो, हमे भ्रममे न पड़ना पड़े और हम दम्भमें न फसे, इसके लिए यह जरूरी है कि किसी अत्यन्त पवित्र और महान शक्ति पर हमारी श्रद्धा और निष्ठा हो। उस निष्ठामे ही तमाम अनिष्टो और सकटोसे, सारे पापो और बाधाओंसे बाहर निकलकर हमे अपने ध्येय तक पहुचानेकी शक्ति निहित है। ध्येय-सम्बन्धी हमारे दृढ सकल्पसे हमारी निष्ठा

जाग्रत रहती है। विश्वमे सर्वत्र व्याप्त महान शक्तिको अपने लिए उपयोगी बना लेनेका सूत्र और सामर्थ्य हमारे दृढ सकल्पमे ही है।

३

ध्येय-निर्णय

जीवनका ध्येय क्या हो, यह मानव-जीवनका सबसे बड़ा प्रश्न है। मनुष्यके आचरणका और उसके जीवनकी छोटी-बडी बातोंका झुकाव तथा उसका पुरुषार्थ और उसके सामाजिक सम्बन्ध—इन सबका आधार उसके जीवनके ध्येय पर होता है। इसलिए ध्येय निश्चित करनेमे भूल या दोष न रहना चाहिये।

ज्यों ज्यो समय बीतता है, ज्यो ज्यों दुनियाके बारेमे हमारा अनुभव बढता जाता है, त्यों त्यो अनेक विषयोकी हमारी कल्पनाओं और विचारोमे परिवर्तन होते रहते हैं। इसी प्रकार जीवनके ध्येयके बारेमे भी उचित परिवर्तन होनेकी जरूरत है। ये परिवर्तन ठीक समय पर न हो, तो उसके कठोर परिणाम व्यक्ति और समाज दोनोको भोगने पडते हैं। इसलिए जीवनका ध्येय निश्चित करते समय मनुष्यको देश, काल, परिस्थिति, अपनी जरूरते, अपनी भावनाए, अपना मन और अन्तमे अपना और मानव-जाति दोनोका श्रेष्ठ कल्याण —इन सब बातोका जितना व्यापक, दीर्घ और सूक्ष्म विचार किया जा सके उतना करना चाहिये।

सुख-दुःखसे छूटनेकी कल्पना

सुखमे प्रीति और दुःखसे अप्रीतिकी भावना मानव-जातिमें आरंभसे आज तक ज्योकी त्यो चली आ रही है। मनुष्यके लिए सुखकी इच्छा बिल्कुल स्वाभाविक है, और यह इच्छा पूरी करनेके लिए वह अनेक सकटोंका सामना करता है। अत्यन्त दुःखमय स्थितिमें भी मनुष्य किसी न किसी सुखकी आशा पर ही जीता है। वर्तमान या भविष्यके किसी भी सुखके साथ चित्तका सम्बन्ध जुडा हुआ न हो,

तो मानव-जीवनका टिकना ही सभव नही है। भविष्यके सुखके साथ चित्तका जो सम्वन्ध होता है वही आशा है। मानव-मनका कही न कही, कभी न कभी सुखके साथ सम्बन्ध होना ही चाहिये। मनका यह धर्म है। इसी धर्ममे से स्वर्गकी, सुखमय परलोककी और पुनर्जन्मकी कल्पना निर्माण हुई है, और अन्याय, दुष्टता और दुराचरण करनेवालेको कभी न कभी सजा जरूर मिलनी चाहिये, इस न्यायवृत्तिमे से नरककी कल्पना निकली है। जैसे दु.खनाश, सुख-प्राप्ति आदि वाते हमारी इच्छानुसार इस जन्ममे नही होती, उसी प्रकार सब जगह यह नही दिखाई देता कि सत्कर्मके अच्छे और दुष्कर्मके बुरे फल जगत्मे मिलते रहते है। इसलिए इन सव वातोके वारेमे मनुष्यने स्वर्ग, पुण्यलोक, नरक और पुनर्जन्म आदि कल्पनाओके द्वारा अपने मनसे व्यवस्था और न्याय निश्चित कर दिये है। यह व्यवस्था करनेके वाद भी मनुष्यके ध्यानमे आया कि जीवमात्रके साथ सुख-दु ख लगे ही हुए है। कितनी ही उत्तम परिस्थितिमे जन्म हुआ हो तो भी संपूर्ण दु.खनाश और सपूर्ण सुखप्राप्तिकी स्थिति मनुष्यको प्राप्त नही हो सकती। तव मनुष्यके समझदार मनने यह वात स्वीकार की कि दु ख न चाहना हो तो सुखको भी छोडना होगा। एक नही चाहिये तो दूसरी प्रिय वस्तुका भी त्याग करना होगा। जन्मके साथ ही सुख और दु ख दोनो मनुष्यके पीछे लगे हुए है, इसलिए दु खसे छूटनेके लिए सुख छोडनेको तैयार हुए सिवा दूसरा कोई उपाय नही है। इन दोनोको टालना हो तो जन्मको टाले विना दूसरा कोई मार्ग नही हे। इसके लिए जन्म न पाना अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना चाहिये, यह वात मनुष्यके सुज्ञ मनने स्वीकार की और इस तरह मोक्ष ही जीवनका ध्येय वना। मनुष्यका ध्येय यही है और वह योग्य है, यह सिद्ध करनेके प्रयत्नमे अलग-अलग शास्त्र निर्माण हुए, उसीसे प्रवृत्ति-निवृत्तिके वाद पैदा हुए, कर्मवाद भी उसीसे निर्माण हुआ और तत्त्वज्ञानका भी वहीसे आरम्भ हुआ। उस ध्येयको प्राप्त करनेके साधनोके विचारसे कर्मक्षय, सन्यास आदि वाते एकके वाद एक निर्माण हुई और इस प्रकार वह ध्येय सशास्त्र वना। इसी परसे तथा

सन्यासी, त्यागी और ज्ञानी लोगोके सद्व्यवहार व उनके सयमशील और शान्त जीवनके कारण मोक्ष और उसके साधनोके बारेमे साधारण जनतामे श्रद्धा फैली और परम्परासे दृढ़ हुई।

गृहस्थाश्रम और कर्ममार्गकी उपेक्षा

जिस समय समाजके सदाचारी व्यक्तियोने मोक्षकी कल्पना या ध्येय स्वीकार किया, उस समय व्यक्ति और समाजका उससे कुछ न कुछ कल्याण हुआ होगा इसमे शका नही। परतु इस विषय पर विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जबसे इस कल्पनाके कारण आगे चलकर गृहस्थाश्रम और उसके कर्तव्योके प्रति अनादर पैदा होने लगा और कर्ममार्गके बारेमे समाजमे शिथिलता आई, तबसे हमारी अवनति आरभ हुई होगी। मोक्षकी कल्पना बहुजनसमाजके मनमे दृढ हो जानेके बाद और व्यक्ति तथा समाज पर उसके अनिष्ट परिणाम आरभ होनेके बाद ध्येयके बारेमे विचारवान लोगोको ज्यादा विचार करना चाहिये था। लेकिन उस समय ऐसा नही हुआ। इसलिए गृहस्थाश्रमके बारेमे उत्पन्न हुआ अनादर जैसेका तैसा कायम रहा। लोगोको इस अनिष्टसे बचानेके लिए किसी महात्माने समाज पर निष्काम कर्मयोगका सिद्धान्त और विचारसरणी ठसानेकी कोशिश की। परन्तु इसका भी अन्तिम ध्येय मोक्ष ही होनेसे गृहस्थाश्रम और कर्ममार्गके विषयमें पैदा हुई उदासीनता कम न हुई और उसका नष्ट हुआ महत्त्व फिर नही लौटा। आज हमारा रहन-सहन और व्यवहार आदि सन्यास-परायण न होने पर भी गृहस्थाश्रमके बारेमे हमारे मनमे सच्चा आदर और सद्भाव नही है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी हम सबकी यह दृढ मान्यता होती है कि वह दोषमय और पापमय है और ऐसा ही रहेगा। गृहस्थाश्रमके सुखकी आसक्ति हममे छूटी नही है। उसके बारेमें हमारा कोई भी रस कम नही हुआ है। अपनी इस आसक्तिसे हम अपनेमें और समाजमे कितने ही दोष और दुःख बढाते है। फिर भी हमारी इस समझके कारण कि ससार दोषरूप और दुःखरूप ही रहेगा, उसके बारेमे कोई दुःख न माननेकी वृत्ति हममे दृढ हो गई है। गृहस्थ-जीवन ऐसा ही रहनेवाला है, यह हम

मानते आये है। इसलिए हमे उसके विषयमे सोचनेकी बात कभी नही सूझती। इतनी भारी जडता हममे आ गई है। गृहस्थ-जीवनमे पवित्रता, प्रामाणिकता, सत्य, उदारता, सयम और नि स्पृहतासे रहनेकी कल्पना ही समाजमे नष्ट हो गई है। व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन ही ससारका ध्येय बन गया है। किसी दु ख, आघात या अपयशके परिणाम-स्वरूप ससारसे वैराग्य या घृणा हो जाय, तो सन्यास लेकर मोक्षके पीछे लग जाना चाहिये, ऐसी समझ और मनोवृत्ति आम तौर पर जन-समाजमे होनेसे हम नैतिक और भौतिक दृष्टिसे बहुत ही हीन दशाको पहुच गये है। भक्तिमार्गी सतोने समाजमे भक्तिका प्रचार करके लोक-मानसको शुद्ध करनेका प्रयत्न किया, परन्तु मोक्षकी तरह ईश्वरके साथ तद्रूप होनेका उनका ध्येय भी निवृत्ति-परायण ही था, इसलिए उसके कारण भी गृहस्थाश्रमका गया हुआ पावित्र्य और पुरुषार्थका बल वापस नही आ सका।

सामाजिक वृत्तियोंका अभाव

मोक्ष जैसे वैयक्तिक ध्येयके कारण सामूहिक लाभ और कल्याणके लिए जिन सामूहिक विचारो, वृत्तियो और सद्‌गुणोकी जरूरत है, वे हममे अभी तक नही आ पाये है। हरएक मनुष्य अपने-अपने कर्मके अनु-सार सुख-दु ख भोगता है, हम किसीको सुखी या दु खी नही कर सकते, किसीको सुखी या दु खी हम कर सकते है इस मान्यतामें भ्राति है —इस प्रकारकी शिक्षा हमे कितने ही समयसे मिलती रही है। यह शिक्षा व्यक्तिगत श्रेयकी दृष्टिसे कितनी ही ऊची मानकर दी गई हो, तो भी वह हमें अत्यंत स्वार्थी बनानेका कारण सिद्ध हुई है। ऐसा लगता है कि आजकी बुराइयोके बहुतसे बीज इसी शिक्षामे होने चाहिये। धन, विद्वत्ता, वैभव या अन्य किसी भी विशेष प्राप्तिसे स्वय सुखी होना और इसी तरह मोक्ष प्राप्त करके अपना कल्याण साधना —इन सबमे किसी भी तरह सामूहिक कल्याणका प्रश्न, विचार या उद्देश्य दिखाई नही देता। इससे मालूम होता है कि व्यक्तिगत लाभकी इस शिक्षाके कारण ही हममे सामाजिक या सामूहिक वृत्तिका अभाव है। हमारे आचार-विचारमें व्यापकता नही है और सभी जगह

सकुचितता दिखाई देती है। इसके अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, फिर भी इतना निश्चित मालूम होता है कि यह शिक्षा भी इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

इसका हमारी आजकी व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय स्थिति पर अनिष्ट परिणाम हुआ दिखाई देता है, या यो कहे कि इन सबका परिणाम ही हमारी आजकी स्थिति है। यह अत्यन्त दुःखकी बात है कि हमारी ध्येय-सम्बन्धी कल्पनामे समयानुसार जो परिवर्तन होना चाहिये था वह नही हुआ। मोक्षका ध्येय जिस समय माना गया था उस समय विचारशील मनको वही योग्य लगा होगा। उस समयकी वैयक्तिक और सामाजिक स्थिति, धार्मिक और आध्यात्मिक कल्पना आदि सबके कारण उसी प्रकारके ध्येयकी कल्पना सूझना स्वाभाविक रहा होगा। परन्तु कालान्तरमे इन सब बातोमें परिवर्तन होने पर भी अगर हम उसी कल्पना और उसी ध्येयको पकडे रखे और उसके दुष्परिणाम भोगते रहे, तो यही कहना होगा कि आजकी स्थितिसे हमारा उद्धार होनेकी कोई आशा नही है।

सामूहिक हित ही एकमात्र ध्येय

इसलिए अगर हमे सचमुच ऐसा लगता हो कि यह स्थिति अवनत और शोचनीय है, तो उसे बदलनेका हमें निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए हमे कोई उदात्त और योग्य ध्येय स्वीकार करना चाहिये। इसके सिवा कोई चारा नही है। हम मनुष्य है, और यदि मनुष्यकी तरह हमे जीना है, तो यह बात पहले हमारे हृदयमें पूरी तरह जम जानी चाहिये कि मानव-सद्गुणोंसे युक्त हुए बिना हम ऐसा कभी नही कर सकेंगे। मनुष्य अकेला रहनेवाला प्राणी नही है, परतु समूहमे और एक-दूसरेके साहचर्यमें रहनेवाला है। इसलिए व्यक्तिगत कल्याण या हितकी कल्पनाको ही हमें दोषास्पद मानना चाहिये। हमे निश्चयपूर्वक समझ लेना चाहिये कि अकेले व्यक्तिका हित वास्तवमें हित ही नही है, बल्कि एक व्यक्तिकी स्वार्थपूर्ण क्षुद्र या महान अभिलाषा ही है, और उससे आज नही तो कल सामूहिक

दृष्टिसे हानि हुए बिना नही रहेगी। किसी एक व्यक्तिको प्राप्त हुए धन, विद्या और सत्ताका उपयोग सबके हितमे किया जाय, तभी उसका सदुपयोग या धर्म्य उपयोग हुआ ऐसा समझना चाहिये। सब तरहसे और सब दृष्टियोसे सामाजिक बने बिना हममे मानवता नही आयेगी। जिससे मानव-मात्रका कल्याण होता हो वही हमारा धर्म है। मानव-मात्रमे हम भी आ ही जाते है। हममे यह श्रद्धा होनी चाहिये कि हमारा धर्म हमारा अहित न करेगा, बल्कि सबके साथ हमारा भी हित ही करेगा। मानव-सद्गुणो पर ही मनुष्यका — हम सबका — जीवन चल रहा है। जहा जहा हमे सद्गुणोकी कमी दिखाई देती है वही दु खका प्रसंग आता है, फिर भले वह सद्गुणोकी कमी हमारी अपनी हो या दूसरोकी हो। उस कमीसे हम या दूसरे अवश्य दु खी होगे। इसलिए यदि हम सब सुखी होना चाहते है, तो हम सबको अवश्य सद्गुणी बनना चाहिये। यह बात हमे दृढतासे माननी चाहिये और उस दिशामे हमारा सतत प्रयत्न होना चाहिये। हम समाजकी एक इकाई है और हम सबको मिलाकर ही समाज बना है। हम सबके अच्छे-बुरे व्यवहारो, इच्छाओ और भावनाओका परिणाम हम सब पर होता ही रहता है। इस ससारमे यह नियम नही है कि हर व्यक्तिके हर कर्मका अच्छा-बुरा नतीजा केवल उसे ही भोगना पडे। हम ऐक्यके सामाजिक सम्बन्ध और न्यायसे इस तरह बधे हुए है कि हम सबके कर्मोका फल हम सबको भुगतना पडता है। अस्वच्छता और अव्यवस्थितता दोष है और उनके परिणाम रोगके रूपमे या दूसरी तरह सब मनुष्योको भुगतने पडते है। मनुष्य समाज बनाकर एकत्र रहता है। ऐसी हालतमे हम अकेले स्वच्छ रहे या हम अकेले अपने घरको साफ रखे, तो उससे हम बीमारियोसे बच नही सकेगे। हम, हमारा घर और साथ ही दूसरे लोग और हमारा गाव सब साफ न हो, तो उससे पैदा होनेवाले रोगरूपी अनर्थसे हम बच नही सकते। गावमे महामारी फैल जाने पर उसके दुष्परिणाम सभीको भोगने पडते है। जैसा यह प्रकृतिका नियम है वैसा ही नियम मनुष्यके दूसरे व्यवहारका भी

है। मनुष्यको विचार करके एक-दूसरेके साथके मानव-सम्वन्धो, कर्मों और उनके परिणामोके नियम खोजने चाहिये; कार्य-कारण-भावकी जाच करनी चाहिये। ऐसा करने पर उसे यह विश्वास हो जायगा कि हम सब एक-दूसरेके कर्मोसे वधे हुए है। आज भी समाजमे जो वडे वडे झगडे होते है, उन्हे पैदा करनेवाले कौन है? और उनके अतिशय दु.खद परिणाम किन्हे भोगने पडते है? युद्ध कौन निर्माण करते है और उनमे प्राणो तकका सर्वनाश किनका होता है? इन सब बातोका विचार करने पर मालूम होता है कि कर्मका परिणाम केवल कर्म करनेवालेको ही नही भोगना पडता, परन्तु एकके कर्मोका परिणाम दूसरेको, अनेकोको अथवा सबके कर्मोका परिणाम सबको भुगतना पडता है। दुनियामें यही व्यवस्था या न्याय प्रचलित है। परन्तु जीवनका व्यक्तिगत ध्येय एक वार हमने श्रद्धापूर्वक मान लिया है, इसलिए उसे छोड़कर हम नई दृष्टिसे विचार करनेको तैयार नही होते। दुनियामे जो न्याय प्रत्यक्ष चल रहा है उस पर ध्यान न देकर पूर्वजन्म और पुनर्जन्मकी कल्पनासे कर्मवादका आश्रय लेकर अपनी पूर्वश्रद्धा कायम रखनेका प्रयत्न हम करते आय है। परन्तु व्यक्तिगत ध्येयकी कल्पनासे आज तक हमारा जो अहित हुआ है और उस कल्पनाके कारण बने हुए हमारे एकागी स्वभावके फलस्वरूप आज भी हमारा और हमारे समाजका जो अहित हो रहा है, उसे ध्यानमे रखकर हमे समाज, राष्ट्र, मानव-जाति आदि सबके हितकी दृष्टिसे अपने ध्येयका विचार करनेकी जरूरत है।

सद्गुण-सम्पन्नतामें आत्मत्वका विकास

किसी भी प्रचलित धर्मकी योग्यता इस बातसे निश्चित करनी चाहिये कि उसमे सद्गुणोको कितना महत्त्व दिया गया है। सद्गुणोंके विना धर्म नहीं है। सद्गुणोंके विना मानवता नही है। धर्मकी योग्यता परमेश्वरकी शरणमे जानेकी उसमे बताई गई पद्धति परसे, ईश्वरकी आराधना करनेके कर्मकाड परसे, उसमें की गई पाप-पुण्यकी सूक्ष्म समीक्षा परसे, मरणोत्तर मिलनेवाली गति-सम्बन्धी कल्पना परसे या उसकी लोकसंख्या परसे नहीं ठहराई जानी चाहिये, परन्तु इस

वात परसे ठहराई जानी चाहिये कि उसमे सद्‌गुणोका, सयमका और मानवताका कितना महत्त्व सिखाया गया है। मनुष्यको जीवन-भर प्रयत्न और कष्ट सहन करके अपना 'आत्मत्व' विकसित करना है और यही मनुष्य-जन्मकी परम सिद्धि है। धारण किये हुए शरीरमे ही सारा 'आत्मत्व' है, यह मानकर उसकी हर तरहसे रक्षा करनेका प्राणिमात्रका स्वभाव होता है; परन्तु सव जगह आत्मभाव और सम-भाव देखना, अनुभव करना और उसके अनुसार आचरण करना सिर्फ मनुष्यको ही कभी न कभी सिद्ध हो सकता है। जिस आचरणसे यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है, उसीको मानव-धर्म कहा जा सकता है। मानव-धर्मका आधार समताके आचरण पर है। जितनी मात्रामे यह समता हमारे आचरणमे आयेगी, उतनी ही मात्रामे हममे मानवता प्रकट होगी और उतनी ही मात्रामे हमारा 'आत्मभाव' व्यापक वनेगा। हमारी धर्मबुद्धिके परिणाम-स्वरूप हमारा 'आत्मत्व' कमसे कम मानव-जाति और हमारे सहवासी प्राणियो तक तो व्यापक होना ही चाहिये। इस आत्मत्वको विशाल वनानेके लिए और अपनेमें समभावका विकास करनेके लिए हमे सद्‌गुणोका अनुशीलन करना चाहिये। सद्‌गुणोके विना समभाव नही आयेगा और टिकेगा भी नही। दया, मैत्री, वधुता, वात्सल्य, सत्य, प्रामाणिकता, उदारता, क्षमा, परोपकार आदि सद्‌गुणोसे समभाव पैदा होता है और वढ़ता है। सद्‌गुण सद्‌गुणोके सहारे ही वढ सकते है या टिक सकते है। इस-लिए मनुष्यको अनेक गुणोका आसरा लेना पड़ता है। सव गुणोकी उपासनाके विना मानवता आ नही सकती। दया, मैत्री आदि गुण सयम, त्याग, वैराग्य, निर्भयता और नि स्पृहता आदि सद्‌गुणोके विना टिक नही सकेंगे। प्रेमभावके विना सद्‌गुणोमे माधुर्य नही आयेगा। इसलिए तमाम सद्‌गुणोको हमे अपने हृदयमे आश्रय देकर उनका विकास करना चाहिये।

मानवताका प्रारम्भ विवेक और चित्तशुद्धिके प्रयत्नसे होता है और अन्त सद्‌गुणोकी परिसीमामे होता है। चित्तशुद्धिके लिए सयमकी आवश्यकता है और सद्‌गुणोकी परिसीमाके लिए पुरुषार्थकी आवश्यकता

है। मानव-सद्‌गुणोमे किस गुणकी कब, कहां और कितनी जरूरत है, इसका निर्णय करनेवाले विवेककी आवश्यकता जीवनमे शुरूसे आखिर तक हमेशा रहती ही है।

विवेक, सयम, चित्तशुद्धि और पुरुषार्थ इन मुख्य साधनों द्वारा हमारा और समाजका कल्याण साधकर मानवताकी परम सिद्धि प्राप्त करना ही मानव-जीवनका ध्येय है।

गांधीजीकी कुछ विशिष्ट पुस्तकें

पुस्तक	मूल्य
अहिंसक समाजवादकी ओर	१.००
अहिंसाका पहला प्रयोग	१ ५०
आर्थिक और औद्योगिक जीवन – १	४ ००
कुदरती उपचार	० ८०
खादी · क्यों और कैसे ?	२ ००
ग्राम-स्वराज्य	३ ००
बापूकी कलमसे	२ ५०
बापूके पत्र – २ सरदार वल्लभभाईके नाम	३.००
बापूके पत्र – ५ : कुमारी प्रेमाबहन कंटकके नाम	४.००
बुनियादी शिक्षा	१ ५०
मंगल-प्रभात	० ३७
मेरा धर्म	२ ००
मेरे सपनोंका भारत	२ ५०
संयम और संतति-नियमन	३ ००
सत्यके प्रयोग अथवा आत्मकथा	२ ००
सर्वोदय	२ ००
सहकारी आंदोलन	० ७५
स्त्रियां और उनकी समस्यायें	१.००

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद–१४